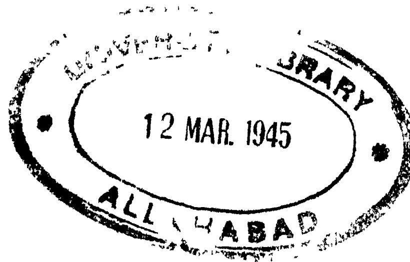
द्विवेदी-काव्यमाला

[स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविताओं का संग्रह]

संग्रहकार

देवीदत्त शुक्ल

(सरस्वती-सम्पादक)



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग



प्रथम संस्करण] [मूल्य २)

Printed and Published by
K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

निवेदन

आचार्य द्विवेदी ने अपनी सारी गद्य-रचना को कई पुस्तकों के रूप में अपने जीवन-काल में ही छपवा दिया था, परन्तु उन्होंने अपनी पद्य-रचना का सग्रह नहीं छपवाया। हाँ, बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपने विशेष आग्रह से उनकी कुछ चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'सुमन' नाम से प्रकाशित किया था। प्रसन्नता की बात है कि इस अभाव की पूर्ति 'इडियन प्रेस' ने इस संग्रह-द्वारा कर दी है। इसमे आचार्य की प्राय सभी प्रकाशित रचनाये आगई है। इस सग्रह के तैयार करने मे बड़ा परिश्रम करना पड़ा है; क्योंकि उनकी प्रारभ-काल की कुछ रचनाये प्राप्य नही थी। 'गगालहरी' और 'महिम्नस्तोत्रम्' यदि कानपुर के 'माडर्न प्रेस' के पंडित लालमणि शर्मा वैद्य भेजने की कृपा न करते तो यह संग्रह भी अधूरा रह जाता। इसी प्रकार आचार्य द्विवेदी के भानजे पण्डित कमलाकिशोर त्रिपाठी ने 'देवीशतक' और 'काव्यमञ्जूषा' देकर सहायता की है। इस संग्रह के पूर्ण करने मे इडियन प्रेस के पडित लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने भी बड़ा श्रम किया है, जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है।

खेद की बात है कि इस संग्रह में आचार्य की 'सुहागरात' नामक रचना नही दी गई है। इसका एक कारण उनकी उसको न प्रकाशित करने की इच्छा भी है। इसके सिवा उनकी उन सारी फुटकर रचनाओं का भी इसमें समावेश नहीं किया जा सका जो उन्होंने अपने वर्षों के विश्राम-काल में रची हैं।

—देवीदत्त शुक्ल

भूमिका

क्या द्विवेदीजी कवि थे ?

द्विवेदी-काव्य-माला के सम्बन्ध मे कुछ सोचते हुए उपर्युक्त प्रश्न हठात् सामने आ जाता है। संसार में कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं जिनके 'कवि' होने में सन्देह करने का अवकाश किसी को नही मिलता। उनका कवि व्यक्ति से इतना ऊपर रहता है कि विवेचक की मनोदृष्टि सर्वप्रथम उसी पर पड़ती है, भले ही वह नम्रता अथवा शिष्टता के अनुरोध से स्वयं को 'कवि' न कहे। भारतीय कवि सनातन से इस परिपाटी का पालन करते आये हैं। भारती-पुत्र कालिदास ने 'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्' लिखकर तथा गुसाईं जी ने 'कवि न होहुँ नहि चतुर प्रवीना' सकल कला सब विद्या हीना' लिखकर इसी कवि-सुलभ शालीनता का परिचय दिया है। यद्यपि आज—शताब्दियाँ बीत चुकने पर—उनका कवि सन्दिग्ध नहीं रह गया है। वस्तु-स्थिति यह है कि उक्त मनस्वियो का 'व्यक्ति' इस प्रकार 'कवि' में ढल गया है कि उसके अन्यथा परिचय के लिए विवेचक को अनेक बार शिलाओं से सर मारने की आवश्यकता पड़ा करती है।

यह शालीनता-प्रदर्शन सदैव एक रूप में नहीं रह पाता। भले ही कवि स्वयं को कवि लिखने-कहने में संकोच करे, पर वह दूसरों-द्वारा अपना अकवि या किंकवि कहलाना सहन नही करता। उसकी रचना में एकाध रंध्र ऐसा अवश्य रहा करता है जिससे होकर उसकी आत्म-आराधन अथवा आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति झाँकती दिखाई देती है। साधारण तुक्कड़ों को जाने दीजिए, जो किसी छन्द की रचना करते समय काव्य के नियमों के पालन मे भले ही प्रमाद कर जायँ, पर उसमें 'सुकवि' या 'कवि' के विशेषण के साथ अपनी छाप लगाने से नहीं चूक सकते, पीयूषवर्ष-कक्ष भी 'जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते' लिखने का लोभ संवरण न कर सके। कदाचित् जनता को निर्णायक मानने की अपेक्षा अपने विषय में स्वयं निर्णय देकर जनमत का अभीप्सित दिशा में नेतृत्व करना ही उनकी प्रतिभा को अधिक उचित जँचा था।

दण्डी और कालिदास के सम्बन्ध की एक जनश्रुति छनते-छनते हमारे पास तक पहुँची है, जिसके अनुसार दोनो कविम्मन्यों का निर्णय करने के लिए 'भारती' को वाक्छल का सहारा लेना आवश्यक हो गया था। उसने दण्डी की

कविता से प्रभावित होकर जब निर्णय दे दिया कि 'कवि निस्सन्देह दण्डी हैं' तब कालिदास की 'क्वचाल्पविषया मतिः' वाली शालीनता न जाने कहाँ चली गई। वे झुँझलाकर पूछ बैठे—'कोऽहं रण्डे।' भले ही 'भारती' के इस उत्तर से कि 'तुम तो मेरे ही साक्षात् प्रतिरूप हो' कालिदास का समाधान हो गया हो; अथवा भले ही यह किंवदन्ती उक्त दोनों कवियों के आपेक्षिक महत्त्व के निर्धारण के लिए गढ़ी गई हो, पर विचारक को इसमें भी कवि के चिर-पोषित आत्मप्रदर्शन की झाँकी मिल जाती है।

पर द्विवेदी-काव्य पर विचार करते समय हमें अधिक सतर्क रहना है। न तो उन्होंने कोई प्रबन्ध-काव्य ही लिखा, जिसकी भूमिका में अपनी शालीनता का प्रदर्शन करते हुए वे 'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' की घोषणा कर सकते; न उनका व्यक्तित्व उनके काव्य में घुल-मिल सका, और न उनकी तुलना किसी सम-कालीन महाकवि के साथ करते हुए 'भारती' ने ही उनके पक्ष में कोई निर्णय दिया—उपर्युक्त तीनों कसौटियों पर वे खरे नहीं उतरते, इसी लिए 'द्विवेदी-काव्य' शब्द से पाठकों का विचार में पड़ जाना स्वाभाविक है।

इसमें सन्देह नहीं कि विशेषक नाम विशेषणों की चरम स्थिति का प्रतीक होता है। पर यदि चरम-स्थिति ही हमारे निर्णय की कसौटी न रहे और हम सामान्य विश्लेषण-पद्धति का सहारा लें तो भी हम परिणामों में अधिक ग़लती नहीं कर सकते। मानव अपने में 'बहुत कुछ' या 'सब कुछ' होता है। परिस्थितियाँ उसकी विशेषताओं को प्रकाश में लाती रहती हैं। जिस समय जिस अन्तर्निहित शक्ति के विकास के अनुरूप साधन प्रस्तुत हो गये, उसी रूप में मानव उस समय प्रकट हो जाता है। मनोविज्ञानियों के सिद्धान्तानुसार एक ही व्यक्ति विभिन्न समयों में कवि, इञ्जीनियर, डाक्टर, धर्मात्मा और विवेचक इत्यादि सभी कुछ हो सकता है। इसी प्रकार एक समय में भी उसके अनेक रूप हो जाते हैं। पहले प्रकार के रूप-वैभिन्य का आधार विभिन्न शक्तियों का समयापेक्षी विकास होता है, और दूसरे प्रकार का आधार विभिन्न व्यक्तियों के 'रूप-ग्रहण' का विभिन्न प्रकार।

अन्तर्निहित शक्तियों में से जो सबसे अधिक विकसित होकर सामने आती हैं उसी के आधार पर पीछे आनेवाली पीढ़ी व्यक्ति का वर्गीकरण करती है। पर जो शक्तियाँ अल्प-विकसित या अर्द्धविकसित रूप में रहती हैं उनकी उपेक्षा करने से व्यक्ति का परिचय पूरा नहीं होता। कहा केवल यह जा सकता है कि अनुकूल वातावरण और उपर्युक्त साधनों के अभाव से ही अमुक पुरुष अमुक रूप में पूर्णतया प्रकट हो सका, यद्यपि उसमें क्षमता अन्य रूप में प्रकट होने की पर्याप्त थी। यही उत्तर द्विवेदी जी के 'कवि' होने या न होने के विषय में दिया जा सकता है।

द्विवेदी जी के कवि का प्रथम उन्मेष १८८५ में हुआ था। उससे कुछ ही समय पूर्व हिन्दी-साहित्य में एक नया आलोक भरकर भारतेन्दु अस्ताचल की ओट में जा चुके थे; उनके सहकारी 'प्रभात के नक्षत्रों' के रूप में यत्र-तत्र प्रकाश बिखेर रहे थे। प्रेमघन जी इनमें अग्रगण्य थे। हिन्दी-साहित्य के नवागन्तुकों के लिए वे ही 'ध्रुव' थे। उन्हीं की शैली का अनुकरण करने की चेष्टा की जाती थी। 'कवि श्रीधरलक्षित नायिका' का काव्यकुञ्ज से क्रमशः बहिष्कार किया जा रहा था और उसके स्थान पर कभी विक्टोरिया, कभी दादाभाई नौरोजी, कभी नागरी और कभी भारतमाता की मूर्ति प्रतिष्ठित करके अर्चना-वंदना की जा रही थी। कविता-पाठ करते समय अभी भारती 'श' और 'क्ष' का उच्चारण नहीं कर पाती थी। इसी समय द्विवेदी जी की काव्य-मन्दाकिनी धीरे-धीरे उतर रही थी। पथ अनिर्दिष्ट था; वह कही पर पुराने मार्ग का अनुसरण करती थी और कहीं पर नये का। कभी—

भ्रूभगहीन रदनच्छद भिन्न नारी
वेणी विशाल तिल गाल गले निहारी।
सालस्य प्रात रति-सूचक चिह्न लीन्हे
आवै गृहांगन मुखांबर ओट कीन्हे॥

के रूप में 'सुरत-श्रान्ता का रस-पान कराती', कभी—

कल्याणि नागरि! इती विनती सुनीजै।
माता दयावति! दया न कमी करीजै।
हूजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी
सेवा अवश्य करिहैं, हम सर्व तेरी!

के रूप मे आर्त नागरी माता को उसके वीर पुत्रों का सन्देश पहुँचाती थी। अभिप्राय यह कि १९वीं सदी का अन्तिम और बीसवीं सदी का प्रथम चरण भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से संक्रान्ति-काल था। सूर, शशि और उडुगन महोदयों के प्रति श्रद्धा थी, देव-बिहारी और पद्माकर के लिए भी मोह था, पर दिला में गुलामी की कसक, अपनी दयनीय परिस्थिति की चिन्ता और अपनी असमर्थता के प्रति रोष भी था। काव्य-कामिनी का कण्ठ मधुर था, पर हृदय कड़ुआ हो चुका था। फलतः उसके राग में आकर्षण नहीं था। इस दशा में हम किसी महाकाव्य की आशा तो कर ही नहीं सकते, फुटकर रचनाओ की कर सकते हैं; और उनका मूल्यांकन भी ऐतिहासिक महत्त्व के आधार पर किया जा सकता है।

पूज्य द्विवेदी जी जन्मजात नेता थे। अपने कार्यक्षेत्र में सदैव नवीन परिवर्तन लाते रहने की प्रवृत्ति उनमें पद-पद पर पाई जाती है। उनका कवि 'विनय-विनोद' के रूप में गा रहा था—

भवभयभंजन नाम तव बोलत वेद पुकारि,
पतित-उधारन लीजिए हा हा मोहि उबारि।

कि उनकी दृष्टि मराठी की रचनाओं पर पड़ी, जिसमें संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग बड़े लालित्य के साथ किया जा रहा था। कला की अभिव्यक्ति छोड़ कर कवि नेतृत्व की धुन में लग गया और अपनी रागिनी को इन छन्दों में सुनाने लगा——

वानी दानी भवानी विमल बुधिमती लोकलोकेश रानी,
माता अंभोज-गाता सकल फल लता श्रीस्वरूपा सयानी।

× × ×

यह सुधाकर चादर लाज की,
अहह खैंचत यों सिरताज की,
बरत वारि लगैं तपते घनी,
सुभगिनी यम की यमुना ठनी।

× × ×

आम्रप्रसून श्रवणस्थ परागपूरे,
बाला कपोल कमनीय बनाय धूरे,
लोभी मलिन्द मुख छावत दुःखदायी,
जैसे ग्रसै शशिहि सन्निधि राहु जाई।

इस प्रवृत्ति का हिन्दी मे विरोध भी हुआ और अनुकरण भी। अनुकरण तो यहाँ तक हुआ कि वर्णवृत्तो में फुटकर रचनाओं की कौन गिनती, 'महाकाव्य' तक लिख डाले गये। हम इसे भी उनकी सफलता मानते हैं। पर कवि की नहीं, नेता की। इस मार्ग के सुचालित हो जाने पर द्विवेदी जी की प्रतिभा ने फिर नई करवट ली। व्रजभाषा का काव्य-भाषा पर एकाधिकार उन्हें अस्वाभाविक लगने लगा, अतः उन्होंने प्रचलित बोलचाल की भाषा को काव्यक्षेत्र में लाने का आयोजन किया। फलस्वरूप खड़ी बोली के लिए व्रजभाषा को स्थान खाली कर देना पड़ा। यहाँ भी उनके नेतृत्व की विजय हुई। उनका कवि शनैः शनैः इस नेता के नीचे दब गया।

द्विवेदी जी के जीवन में जैसा कि 'द्विवेदी-काव्य-माला' को देखने से स्पष्ट हो जाता है, ऐसा कोई भी समय नहीं था जब द्विवेदी जी ने अपने विचारों और भावनाओं को पद्यबद्ध करने से संन्यास ले लिया हो। जीवन भर समय समय पर उनकी वाणी छन्दों में प्रस्फुटित होने का प्रयास करती रही। फिर भी हम कहते हैं कि द्विवेदी जी का कवि नेता के

नीचे दब गया था। उनके समस्त काव्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जायगा।

'काव्य-माला' में विभिन्न विषयों की कवितायें हैं। स्थूल-दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि कवि किसी विशेष भावना से अनुप्राणित होकर नहीं लिखता। सयोगवशात् जो विषय सामने आ जाता है उसी पर लिखने लगता है। उसका उद्देश्य मनोविकारो का चित्रांकन तथा भावो का व्यक्तीकरण नही; बल्कि भाषा और छन्दो का प्रदर्शन ही है। बात कुछ कुछ ठीक अवश्य है; परन्तु उतनी ही जितनी कि किसी व्यक्ति की वेषभूषा देखकर उसके विचारों के विषय मे हमारा अनुमान। इसमे सन्देह नही कि द्विवेदी जी के काव्य में वेश का आकर्षण अधिक है और उनकी भूमिकायें खुले शब्दो में घोषित करती है कि वे छन्दो के प्रयोग के लिए या भाषा के नमूने दिखाने के लिए किसी सस्कृत-काव्य का अनुवाद कर रहे हैं, या मौलिक पुस्तक लिख रहे है; परन्तु यदि हम उनकी भूमिकाओं को प्रमाण-रूप मे उद्धृत करके उनके काव्य की आत्मा—वेश के नीचे छिपे हुए हृदय को—देखने से इनकार कर दें तो यह बड़ी भारी भूल होगी।

हम 'न कुछ' को भावुकतामयी दृष्टि से देखकर तथा उसे उधार ली हुई शब्दावली में व्यक्त करके 'बहुत कुछ' प्रमाणित करने की चेष्टा करने के पक्षपाती नहीं है। हमारे इस कथन का केवल इतना ही अर्थ है कि द्विवेदी जी के हृदय मे काव्य-भावना आरम्भ से ही थी और यदि उन्हें भाषा-निर्माण के कार्य मे न पड़ना होता तो वे एक उच्च कोटि के कवि होते। द्विवेदी जी का कवि उनके समीक्षक से कही अधिक श्रेष्ठ था। परन्तु परिस्थितियो ने तथा उनकी जन-कल्याण की पूत-प्रेरणा ने उनके समीक्षक को हठात् अधिक प्रबल कर दिया।

चाहे द्विवेदी जी ने छन्दो के प्रदर्शन के लिए लिखा हो, चाहे भाषा के नमूने के लिए, अथवा केवल मनोरंजन के लिए किसी संयोगप्राप्त विषय पर लेखनी चलाई हो, उनके समस्त काव्य मे एक भावना निरन्तर पाई जाती है। कभी हम उसे स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ पाते है, कभी केवल उसका आभास-मात्र मिल सकता है, और कभी वह भी ओझल-सा होने लगता है; परन्तु ऐसे स्थलो पर भी उनके काव्य के वातावरण में वह इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि यदि हम उनके कवि के व्यक्तित्व से परिचित हो तो उसके समझने में भूल नहीं कर सकते। वह भावना उनकी उस कविता में जो उन्होने २४ वर्ष की अवस्था में छपाई थी, सबसे पहले व्यक्त हुई है। कितनी छोटी अवस्था में हम उन्हें कहते पाते हैं—

बाल्यावस्था आदि दै कछु न भलाई कीन ।
काह कहहुँ करणी कुटिल जप-तप-कर्म-विहीन ।।
हे विधि अब मेरी दशा ह्वोवैगी धौं कौन।
नीच मीच मुख मलिन खल महापतित अघ-भौन ।।

ऐसा जान पड़ता है कि यह व्यक्ति आयु से पहले ही वृद्ध हो चला है। सहसा विश्वास नहीं होता कि ये भाव वास्तव मे लेखक के हृदय से प्रसूत हुए हैं अथवा उसने पढ़-लिखकर, सुन-सुनाकर कविता करने के लिए लिख डाले हैं। जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदी जी ऐसे ही वैराग्य-पूर्ण, भक्ति-भावपूर्ण वायुमण्डल में पले थे, और उस वायुमण्डल की आस्तिकता उनके अणु-अणु में परिव्याप्त हो गई थी। यही भक्ति-वैराग्य-पूर्ण शान्त-भावना द्विवेदी जी के काव्य का स्थायी भाव है, यही उसका प्रधान रस है। पर न तो द्विवेदी जी का काव्य भक्तो के पारायण का विषय हो सका और न उनका जीवन भक्तों की सूची में आ सका। हमने प्राचीन भक्तों की जीवनियाँ पढ़ी है, प्रायः सभी मे यह पाया जाता है कि जो कल अत्यन्त विषयासक्त, लम्पट और दुराचारी था वही आज किसी आकस्मिक घटना के प्रतिघात से भक्तो की माला का सुमेरु हो गया। द्विवेदी जी के जीवन में ऐसी कोई घटना नही हुई; इसलिए उनकी भक्ति और वैराग्य-भावना केवल एक आस्तिक हिन्दू-गृहस्थ की भक्ति होकर रह गई, जो वैराग्य को सराहते हुए भी, ससार को माया-जाल कहते हुए भी उससे दूर नहीं भागती। इसी लिए उनकी भक्ति मे तीव्रता और गहनता की कमी है।

द्विवेदी जी ने लिखा था—

कब मैं मन धरि ध्यान शुचि जाय गुहा गम्भीर।
शिला बैठि सब कहहुँगो तुमसन अपनी पीर।

परन्तु नवयुवक इस संकल्प को अपने मन में जमा नही सका; और उसे—

चली कली-सी सुसहेट पीय की।
सराहती तीय उछाह हीय की।।
नचावती नैन छकावती सखी।
गई छबीली न कहूँ किहूँ लखी।।

ने मुग्ध करके रूप और रग के चटकीले काव्य-मय जगत् में बाँध लिया। यद्यपि वह अपने मन को उद्बोधन दे चुका है कि 'अजहूँ निश्चलशान्तचित मोह निशा तें जागि,' तथापि वह —

अधखुली पलकैं अलकैं घनी,
उर उतंग अनंग सनी अनी।

ललित अंग सुरंग धुरंग हैं;
गति बसी जन सीव मतंग हैं ।।

की ओर से अपनी आँखें नहीं मोड़ सकता। सौन्दर्य का संसार युवक के मन को आर्कषित करता ही है। हमारे बीच के पूर्वज उस सौन्दर्य का उपभोग करते तो थे, पर इसलिए नहीं कि वह वास्तव में उपभोग्य है, वरन इसलिए कि वे उसका लोभ संवरण करने में अपने को असमर्थ पाते थे; और जहाँ उन्हें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ, अर्थात् जैसे ही उनकी इन्द्रियों का सामर्थ्य घटा कि वे अपने उपभोग, उपभोग्य और स्वयं भोक्ता से घृणा करने लगते थे। द्विवेदी जी भी हमारे उन्ही पूर्वजों की श्रेणी में है; और यह पूर्वजों की श्रेणी द्विवेदी जी की पीढ़ी तक ही सीमित नहीं रह गई, उसकी परम्परा आज भी चल रही है। इस प्रकार द्विवेदी जी क काव्य में जिस मनोवृत्ति की व्यंजना है वह हमारे समाज के व्यक्तिगत जीवन में एक प्रकार का स्थायित्व-सा पा चुकी है।

भोग और वैराग्य की इन परस्परविरोधी भावनाओं में द्विवेदी जी ने सदैव दूसरी को प्राधान्य दिया है, इसमें सन्देह नहीं। जिस प्रकार राधा-कृष्ण की नग्न-रति-केलि का वर्णन करनेवाले कविवर विद्यापति भी अंततः भक्त ही थे, उसी तरह—

तरल नेत्र भृकुटी कुटिल पीन पयोधर भार,
अधरामृत हू ते व्यथा होति न करिय विचार।
रोमावलि लखि ताप पै अधिक अधिक अधिकाय।
निज कर अक्षर पंक्ति जनु लिखी मैन चितलाय ।।

लिखनेवाले द्विवेदी जी, वृद्ध होकर नही, बल्कि नई जवानी में लिखते हैं—

निरमल गृह अति शुभ्र अरु तरुणी भोग-विलास।
अंग अनूपम बहुरि जो जग सुखदायक भास ।।
इन सबही को जानियो प्रेमतंतु कर जाल।
कामी कृमि फँसि जासु तें तलफत दुखित विहाल ।।

परन्तु—

केश मुक्त उर बिच पतित किंचित मुकुलित नैन।
परम रम्य मुसुकानि मृदु प्यारे कोमल बैन ।।

को देख-सुनकर—साक्षात् सौन्दर्य का गतिमय—प्राणमय चित्र सामने पाकर किस युवक का हृदय आन्दोलित न होगा। द्विवेदी जी ने स्पष्ट शब्दो में इस सत्य को स्वीकार किया है—

कठिन स्तन नव चारु मुख रे मन लख अकुलात।
जो चाहत ऐसहि प्रिया करु तप काह सिहात ॥
कटि केहरि कमनीय विधु—आनन रूप रसाल।
प्राप्त जाहि सुन्दर नवल ताहि स्वर्ग सब काल ॥

वे तो यहाँ तक स्वीकार करने को तैयार है कि—

या संसार असार मे चतुरन कहँ गति दोय।
तत्त्व ज्ञान अमृत सुदृक पान करत नर कोय ॥
नातर मदन विलासिनी जघन अंग सुकुमार।
परसि लहत सुख द्वै विहति जग न आन आधार ॥

परन्तु उनकी यह भावना स्थायी नहीं है, वे जानते हैं कि—

मोह अंध मदग्रस्त जब मदन हाथ बिकि जात।
सकल विश्व तब नारिमय दशहूँ दिशा दिखात ॥

उन्हें अपने चित्त पर विश्वास है। भले ही वह क्षणिक मोह में पड़कर भ्रम में पड़ जाय, अन्त को तो वह वहीं टिकेगा जहाँ उनके अन्तरतम की कोमल भावनाये विश्राम पाती हैं। इसी लिए वे ललकार कर कहते है—

निज कोदंड चढाय किमि ठनकारत तू मैन।
सिर धुनि धुनि बोलत वृथा कोयल हू मृदु बैन ॥
री कटाक्ष चंचल कहाँ मुग्धे पुनि पुनि मार।
चित्त शरण भगवंत की गह्यो विनाश विकार ॥

'स्नेहमाला' के शृंगारप्रधान वातावरण में भी वैराग्य की एक हलकी-सी छाया बराबर परिलक्षित होती है, जो अन्त तक आते आते स्पष्ट रूप में व्यक्त हो जाती है। कवि ब्रह्म के एकत्व के दर्शन की आकांक्षा करता हुआ कहता है—

कृपा तिहारी के बिना सो मिलि सबहि सकैन।
विश्व-विमोहन एक रस श्रीपति सुखमा ऐन।

'स्नेहमाला' के ५ वर्ष पहले द्विवेदी जी ने श्री 'महिम्नस्तोत्र' का अनुवाद किया। उनकी भक्तिपूर्ण मनोवृत्ति का यह स्पष्ट प्रमाण है। परन्तु ठीक उसी के साथ—केवल एक मास बाद 'ऋतुतरंगिणी' की रचना हुई है। 'गंगा-लहरी' और 'देवीस्तुतिशतक' भी लगभग इसी काल की रचनायें है। इन रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी के मन के भीतर भक्ति और शृंगार, वैराग्य और भोग में पारस्परिक संघर्ष हो रहा था। उनकी ऐंद्रियिक भावना प्राचीन काव्यों और जगत् के सौन्दर्य से प्रेरणा पाकर उन्हें काव्य के चिरन्तन भाव-शृंगार की ओर आकर्षित

करती थी, किन्तु धार्मिक संस्कार और स्वाध्याय उस भावना को दबाने का प्रयत्न करते थे। उनकी काव्य-प्रवृत्ति घोर वैराग्य और गम्भीर भक्ति में क्यों नही परिणत हो सकी, इसका कारण हम ऊपर दे चुके हैं। साथ ही वह शृंगार मे भी स्थिर न रह सकी और इसके कारण परिस्थितियों ने उपस्थित कर दिये। 'काव्यमंजूषा' की कविताओं को देखकर हम इसे स्पष्ट-रूप से समझ सकते हैं। काव्य की भाषा बदलने के पहले ही काव्य का विषय बदलने लगा। काव्य में शृंगार हेय समझा जाने लगा। और यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस समय—

लोचन चले गये भीतर कहँ कंटक सम कच छाये।
कर में खप्पर लिये अनेकन जीरण पट लटकाये।
मांसविहीन हाड़ की ढेरी भीषण भेष बनाये।
मनहुँ प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सब पाये।

यह हालत हो, उस समय कामिनी के कुन्तल-कुच-कटि का वर्णन करना घोर निर्लज्जता है—कवि के उन्नत आदर्श से पराङ्मुख होना है—

प्रिये ! प्रिये ! कहि कंठ लगावहु जिनको अति सनमानी।
उन समान लाखौं अनाथिनी तिया नैन भरि पानी।
तजि घर-द्वार अहार देत बहु बोलत गद्गद बानी,
तिनकी ओर तनिक तो चितवहु करुणा कहाँ भुलानी।

जैसी कवितायें लिखना वह ऊँचा आदर्श है जो कवि को व्यक्तिगत भावनाओं से ऊँचे उठाकर उसे जन-जन के—समूह के—मनोविकारो को अपनाकर व्यक्त करने की प्रेरणा देता है। जिस समय द्विवेदी जी लिखते हैं—

भई भर्तृहीना जे नारी तिनकी क्लेश-कहानी।
सुन पत्थर हू फटै, और की गति को कहै बखानी॥

उस समय उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार को भले ही इतिवृत्ति-मय कहा जा सके, काव्य की कोमल भावना से शून्य होने का आरोप उन पर नही लगाया जा सकता। जो धार्मिक-प्रवृत्ति यौवन के मदमाते झोंको को सहती हुई अपने पैर जमाये रही वही लोक-जीवन की त्राहि त्राहि सुनकर करुणा बनकर फूट पडी। वही छंदों में गुथकर कभी बाल-विधवाओं के, कभी कान्यकुब्ज-कन्याओ के, कभी नागरी के, कभी दुर्भिक्ष-पीडितों के और कभी कुल मिलाकर दयनीय भारतीयो के असहाय करुणा-विलाप के रूप में प्रकट हुई है। उसी करुणा ने आज की समीक्षा में 'इतिवृत्तात्मकता' का नाम पाया है। इसी जन-समाज की करुणा को अपनाकर मैथिलीशरण गुप्त आदि कवि हो गये, परन्तु द्विवेदी जी कवि न हो सके। उनके कवि न होने का वही कारण है जो औरो के कवि हो सकने का है। यह कहानी सर्वविदित है, फिर भी हम यहाँ उसे दुहराना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि उसी

में द्विवेदी जी का कवि, जो विभिन्न भावनाओं के साथ संघर्ष करता हुआ एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था, अपने व्यक्तित्व को लीन करता हुआ दिखाई देता है।

द्विवेदी जी की कविता के लिए इतिवृत्तात्मकता का आरोप नया नहीं है। यह आरोप तो उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी उनकी यह नये प्रकार की कविता है। काव्य-जगत् में यह एक नवीन युग का प्रवर्तन था। द्विवेदी जी ने मध्यकाल से चली आती हुई काव्य की प्रायः समस्त परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर दिया। काव्य का विषय और काव्य का स्वरूप—भाषा-शैली और छंद—दोनों बदल गये। क्रान्ति को सहन करने की क्षमता बहुत कम व्यक्तियो में होती है। जिनमें यह क्षमता न थी वे द्विवेदी जी से लोहा लेने को तैयार हो गये। इस समय भी द्विवेदी जी यदि भवभूति का आदर्श मानकर यह सतोष कर लेते कि इस अनंत काल में और विस्तृत धरा पर कभी न कभी कहीं न कहीं कोई समान-धर्मा उत्पन्न होकर मेरे काव्य की सराहना करेगा ही तो वे अपने कवि की रक्षा कर लेते। परन्तु उन्होंने कवि की अमरता को ठुकरा दिया। कवि-कर्म को छोड़कर उन्होने कविता के नवीन आदर्शों का विरोध करनेवालों से निपट लेने की ठान ली। यहीं उनके कवि का उपराम होता है और उनका दर्शन हमें उग्र समीक्षक, व्यंग्य-प्रहारक और सफल सेनानी के रूप में होता है। अपनी काव्य-भावनाओं को उन्होने सदा के लिए सुलाकर औरों का मार्ग प्रशस्त कर दिया; और उन परिस्थितियों का निर्माण कर दिया जिनमें हमारी आधुनिक काव्य-भावना पूर्णरूप से व्यक्त हो सकी।

परन्तु जिसके हृदय में वास्तविक काव्य का बीज अंकुरित हो चुका था उसके लिए कविता से एकदम संन्यास लेना संभव नहीं था। केवल उसकी अभिव्यक्ति का ढंग बदल गया। जो स्निग्धता और कोमलता उनकी विनय और करुणापूर्ण कविताओं में पाई जाती है वही अब कटु कटाक्षों और तीव्र व्यंग्यों में परिणत हो गई। खीझकर उन्हें लिखना पड़ा—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नही विचार।
लिखवाता है उनके कर से नये नये अखबार।।

(विधि-विडम्बना)

सती हुई क्या कवि कालिदास के, शरीर के साथ तभी अनाथ हो?
विलुप्त कि वा भवभूति-संग ही हुई मही से अवलम्ब के बिना?

(कविते!)

अथवा

अन्य देश भाषा का ज्ञान; कालकूट के घूँट समान;
स्वयं मातृ-भाषा भी जिनको देख देख घबड़ाती है।

भाड़े पर रख विज्ञ विशेष,
लिखवाते हैं जो निज लेख,
ग्रन्थकार पदवी उनको ही दौड़ दौड लिपटाती है।

(ग्रन्थकार)

ऐसी कविताओं में द्विवेदी जी का व्यंग्य देखने योग्य है--कभी सीधा, कभी तिरछा, कभी हलका, कभी गहरा। 'ग्रन्थकार' व्यंग्य से भरा पड़ा है। 'वलीवर्द' से एक उदाहरण लेते है—

धनी पुरुष गद्दी के ऊपर धोती भर कटि से लिपटाय,
तुंदिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमंड में आय।
वृषभराज! तुम भी निज थल पर झूल पीठ परते लटकाय;
पूँछ फिराते हो शरीर पर बैठे ही बैठे सुख पाय।

प्रस्तुत के साधारण वर्णन के बहाने अप्रस्तुत की कैसी कठोर विगर्हणा की गई है!

इतनी मुँहफट बात कहनेवाले के मन में जो गहरी चोट है उसका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु सदैव खरी-खोटी सुनाकर द्विवेदी जी अपने मन को क्षुब्ध ही करते रहे हों, यह बात नहीं है। क्षोभ के बीच बीच उनके उस विनोद के भी दर्शन हो जाते हैं जो विरोधी को मूर्ख बनाकर अट्टहास कर उठता है और भीतर द्वेष रखकर भी ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करता है। 'टेसू की टाँग' या 'गर्दभ-काव्य' इसी के उदाहरण हैं; जैसे—

गंदा भर भई गंदा घर, चादर चिथडों की दुस्तर।
चने पड़े उस पर चुरमुरें, बोलो लड़को हिप हिप हुर्रे।

द्विवेदी जी ने जिस परिस्थिति में लिखा था, उसमें निर्दोष व्यंग्य लिख सकना प्रायः संभव नहीं था। कहीं कहीं उनके व्यंग्य में तीव्रता की कमी अवश्य है, परन्तु उसमें भी प्रसंग मिलाने पर कटुता का आभास मिल ही जाता है। 'जम्बुकी न्याय' की टेक--

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला, सब बातों को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाक़ी रहा। खूब कहा जी खूब कहा।"
तब कुनबे के जम्बुक सारे, खड़े होगये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—कह बुड्ढे का क़दम छुआ॥

में काफ़ी तरल विनोद है। इनकी व्यक्तिगत आक्षेपों से रहित समाज-सुधार-सम्बन्धी कविताओं में जो व्यंग्य हैं उन्हें हम सुन्दर मान सकते हैं; जैसे—

ज़रा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वारी हैं।

× × ×

मान लीजिए नयन आपके कानों तक बढ आये हैं
पीन पयोधर देख आपके कुंजर-कुभ लजाये हैं। (ठहरौनी)

मार्गनिर्माणकर्त्ता सेनानी के कठोर कार्य-काल मे भी द्विवेदी जी की कोमल काव्य–भावनायें यदा-कदा किसी न किसी बहाने से अभिव्यक्ति पाने की चेष्टा करती रही है। सन् १९०२ में उन्होंने 'कुमारसभवसार' लिखा। महाकवि कालिदास के कुमारसंभव के प्रथम पाँच सर्गों का अत्यन्त प्रवाहयुक्त शैली में अनुवाद करते हुए द्विवेदी जी ने इसकी रचना की है। साथ ही समय समय पर वे प्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा के चित्रों पर शृंगारमयी कवितायें लिखते रहे हैं। यद्यपि ये कवितायें अधिकतर वर्णनात्मक है, फिर भी लेखक की जान-बूझ कर दबाई हुई काव्य-प्रवृत्ति पर इनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

काव्यभाषा

सन् १८८९ मे 'विनयविनोद' के प्रकाशन से लेकर सन् १८९२—'देवी-स्तुतिशतक' के प्रकाशन—तक द्विवेदी जी ने केवल व्रजभाषा में कविता लिखी। १९०२ में 'काव्यमंजूषा' छपी थी। इसमे १८९७ से लेकर १९०२ तक की कवितायें संगृहीत हैं। 'काव्य-मंजूषा' मे व्रज और खड़ी बोली दोनों की कवितायें हैं। सन् १९०० द्विवेदी जी की काव्य-भाषा का परिवर्तन केन्द्र है। अप्रैल १९०० में प्रकाशित 'कृतज्ञता-प्रकाश' कविता खडी बोली मे नही है, किन्तु १९ अक्टूबर के श्री वेंकटेश्वरसमाचार मे प्रकाशित 'वलीवर्द' शीर्षक कविता खड़ी बोली की है। १९ नवम्बर सन् १९०० के 'हिन्दी-वगवासी' में प्रकाशित 'मांसाहारी को हंटर' फिर व्रज-भाषा में है, परन्तु इसी महीने की 'सरस्वती' में उन्होंने 'द्रौपदी-वचन-बाणावली' खड़ी बोली में लिखकर छपाई। इसके बाद की जितनी भी कवितायें छपी हैं, एकाध को छोड़कर जो व्यंग्य और कटाक्ष के लिए लिखी गई हैं, सबकी सब खड़ी बोली में हैं।

व्यवस्थित रूप से खड़ी बोली में लिखने के पहले जितनी कवितायें छपी हैं उन्हें हमने स्थूलरूप से 'व्रज-भाषा' के अंतर्गत रक्खा है। वास्तव मे व्रज-भाषा का काव्यमय निखरा हुआ रूप उनमें नहीं मिल सकता। इसके कई कारण हैं। एक तो व्रज-भाषा का कोई सर्वसम्मत रूप सामने था ही नहीं, जिसे आदर्श बनाकर काव्य-निर्माण किया जाता, इसी लिए छंदों और विशेषकर तुकों में सटीक बैठाने के लिए शब्दों के मनमाने रूप कर लिये जाते थे। साथ ही द्विवेदी जी बहुधा संस्कृत के वृत्तो में लिखते थे, जिससे यह कठिनाई और भी बढ़ गई थी। दूसरे द्विवेदी जी ने प्रायः संस्कृत के काव्यो के अनुवाद किये है। अतः उनमें भाषा की वह सफ़ाई नहीं आ सकी जो उनकी मौलिक रचनाओं में है।

यहाँ पर एक बात अवश्य ध्यान देने की है, और वह यह कि द्विवेदी जी

ने खड़ी बोली का नेतृत्व करने के पहले भाषा के सुधार और मार्जन की ओर ध्यान ही नही दिया था। उनकी जो कवितायें खड़ी बोली में नहीं है उनके कुछ नमूने लेकर उक्त कथन को प्रमाणित किया जा सकता है—

परम विषय यह विषय है जिन आलम्बन कीन।
तिन सब भाँति बिगारेऊ सके न करि आधीन ॥

(विनयविनोद—१८८९)

छाये मेघ चहूँ दिशानि लखिकै श्यामा ललामा महा।
घोरारण्य मझार श्याम हँसिकै हो गेह जैयौ कहा।
प्यारी आयसु पाय जाय हरि के संकेतित-स्थान में।
कालिंदी वर कूल केलि करिही आनन्द पागे रमे।

(विहारवाटिका—१८९०)

विधाता है कैसो रचत त्रैलोकै किमिसुई।
धरे कैसी देही सकल किय वस्तू निरमई।

(श्रीमहिम्नस्तोत्र)

'ऋतुतरङ्गिणी', 'श्रीगगालहरी', और 'देवीस्तुतिशतक' की भी भाषा इसी प्रकार की है। 'काव्यमजूषा' में द्विवेदी जी की व्रज-भाषा और खड़ीबोली दोनों की कवितायें हैं। व्रज-भाषा की कविताओ के विषय मे यहाँ भी कोई नवीन बात नहीं मिलती। किन्हीं किन्हीं कविताओं से यह अवश्य सूचित होता है कि किस प्रकार धीरे धीरे द्विवेदी जी की काव्य-भाषा व्रज से खड़ी बोली की ओर खिसकती आ रही है। २९ अगस्त १८९८ के हिन्दी-वंगवासी में प्रकाशित 'गर्दभ-काव्य' से हम दो-एक उदाहरण लेते हैं—

हरी घास खुरखुरी लगै अति भूसा लगै करारा है।
दाना भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है।
× × × ×
शिशिर वसत हिमंत एक नहिं ग्रीषम हमको प्यारा है।
तपती भूमि गाँव के बाहर बरफ़िस्तान हमारा है।

जहाँ 'अस', 'जस' जैसे प्रयोग व्रजभाषा की अस्थिरता प्रदर्शित करते हैं, वहाँ 'हमको' जैसे प्रयोग और तुकांत का आकारांत खड़ी बोली की ओर सकेत करता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है १९०० के बाद की लिखी हुई प्रायः सभी कवितायें खड़ी बोली की हैं। 'द्रौपदी-वचन-वाणावली' खड़ीबोली की कदाचित् पहली कविताओं में से है, इसी लिए उसमें कहीं कहीं व्रजभाषा का आभास मिल जाता है, जैसे—

धर्मराज से दुर्योधन की इस प्रकार सुनि सिद्धि विशाल।
चिंतन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल।

'विधि-विडम्बना' (१९०१) की भाषा में भी खड़ी बोली भली भाँति नहीं निखर पाई है, जैसे—

कपिल कणाद, पतंजलि, गौतम, व्यास आदि वर विज्ञानी।'
जिनकी कीर्ति-ध्वजा अभी तक सतत फिरै है फहरानी।
उनको भी तूने क्षणभंगुर किया, विवेक विहाय;
दिखलावे हम तेरी किन किन भूलो का समुदाय?

'हे कविते!' में भी यही बात पाई जाती है। वार्णिक वृत्त भी इसका एक कारण है, जैसे—

सदा समस्या सबको नई नई; सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियाँ।
तुझे उन्हीं मे अनुरक्त मान, वे, विरक्त होते नहि; हा रसज्ञता।

परन्तु शैथिल्य के होते हुए भी इसी समय से द्विवेदी जी की कविता की भाषा में परिमार्जन और प्रवाह आरम्भ हो जाता है। 'कुमारसंभवसार' यद्यपि अनुवाद है, फिर भी उनके पिछले अनुवादो से उसकी भाषा कही अधिक प्रांजल और प्रवाहयुक्त है। 'तिससे' जैसे एकाध प्रयोग अवश्य कहीं कही मिल जाते है, पर संस्कृत-पदबहुल होते हुए भी उसमें भाषा के उत्तरोत्तर प्रौढ़ होने के लक्षण मिलते हैं, जैसे,—

दल लेकर जिसके हुई मुदित सुरबाला,
नन्दन-वन उसने वही काट सब डाला।
दृग-अश्रुधार-संसिक्त-चमर कर धारी,
करती है उस पर पवन अमरपुर-नारी।

फुटकर रचनाओं में द्विवेदी जी की उस प्रौढ़ खड़ी बोली के दर्शन होते हैं जो उन्होंने काव्य-भाषा के आदर्श के रूप में उपस्थित किया था—

हिन्दू मुसलमान ईसाई यश गावें सब भाई भाई।
सबके सब तेरे शैदाई फूलो फलो स्वदेश।
इष्ट देव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे।
भुक्ति मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै जै देश।

(१९२०)

× × ×

हिन्दी ही नहीं, सस्कृत में भी द्विवेदी जी ने अपनी वाणी का प्रसाद वितरण किया था। उनकी संस्कृत-रचनाये हिन्दी-पत्रो के अतिरिक्त 'सस्कृत-चन्द्रिका' जैसे काशी से प्रकाशित होनेवाले सस्कृत के प्रमुख पत्र में ससम्मान स्थान पाती थी। उनकी संस्कृत शुद्ध और काव्योचित थी। एक उदाहरण देखिए—

काश्चित्तया सुनयनाः सुरनिम्नगादि—
स्नानच्छलेन युवकैः सह संगमाय,

ईयुर्मनोरथशतं हृदि धारयन्त्यः
संकेतितस्थलमनगनिपीडितांग्यः।

इतिवृत्तात्मकता

चारो ओर के वातावरण का प्रभाव कवि पर अवश्य पड़ता है। जब वातावरण मे गद्यात्मक भावनाये प्रबल होती हैं तब प्रयत्न करने पर भी काव्य मे उन्हें नही बचाया जा सकता। उदाहरणार्थ हमारे बीसवीं सदी में बने हुए काव्यों या महाकाव्यों में से ऐसा एक भी नही है जिसमें गद्यात्मक भावनाओ की प्रचुर मात्रा न हो। यहाँ तक कि जिन कवियों को गद्यात्मक भावनाओं से चिढ़-सी है वे भी मौक़ा पाते ही 'पाषड-प्रतिषेध' या—'हँसे वे हमारे इस झुकते प्रणाम पर' जैसी गद्यमय पद्य लिखने से नहीं चूकते। इधर अनुभूतिवाद और यथार्थवाद के प्रभाव से तो अब प्राय: 'गीत गद्य' लिखने की प्रथा चल पड़ी है। और आज का विचारक ऐसे गीतों में ही कला के मूलतत्त्वो का अन्वेषण करता है, पर यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि बीसवी सदी के आरम्भ मे बनी हुई कवितायें इसी इम्प्रेशनिज्म या रियलिज़्म के अनगढ़ रूप है। उन दिनों समाज-सुधार, कुरीति-निवारण, स्वदेशी-प्रचार, हिन्दी-प्रेम आदि भावनायें हिन्दू-जीवन से ऐसी सम्बद्ध हो रही थी, और घरे-बाहरे सर्वत्र उनकी ऐसी चर्चा थी कि कवि अपने को इनसे अलग रखकर अनाम-अरूप कला की आराधना करने में स्वयं को असमर्थ पाता था। अतः उन दिनो की कविताओ में यदि हमें इति-वृत्तात्मकता का प्राचुर्य मिले तो यह स्वाभाविक ही है। पर जिस व्यक्ति ने अपनी कोमल-से कोमल भावनाओ को हमारी भाषा के लिए, हमारे हित के लिए, भीतर ही भीतर घुटकर मर जाने दिया और कवियों की अमरता को ठुकराकर एक सेनानी की मृत्यु से मरना स्वीकार किया, उसकी व्यक्त, अर्द्धव्यक्त और अव्यक्त भावनाओं को "बातों के सग्रह" या "इतिवृत्तात्मक" जैसे स्थूल शब्द से याद करना घोर 'इतिवृत्तात्मकता' का परिचय देना है।

हमारे साहित्य के इतिहास अभी तक अधूरे है; उनके निष्कर्ष भी एक-पक्षीय तथा विवादास्पद हैं। सन्तोष यही है कि कविताप्रेमी कविता पढ़ने के लिए उन तथाकथित इतिहासो की सहायता लेना आवश्यक नहीं समझते। जब पुराने कवियों की 'रचनाओं' को 'दिमागी ऐयाशी' कहकर बदनाम करने-वाले भी जनता मे उसी प्रकार की—दिमागी ऐयाशी से भरी हुई—तुकबन्दियाँ सुनाकर वाहवाही लूट सकते है तब आचार्य द्विवेदी की ये रचनाये, जिनमें हिन्दी और भारतीयता के प्रति अटल अनुराग और तप की झाँकी मिलती है, जनता का कण्ठहार बनेंगी, इसमें सन्देह नही किया जा सकता।

—उमेशचन्द्र मिश्र

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

१—विनयविनोद	...	...	...	१-१५
२—विहारवाटिका	...	...	...	१९-३४
३—स्नेहमाला	...	...	...	३५-५०
४—श्रीमहिम्नस्तोत्रम्	...	...	...	५१-७४
५—ऋतुतरंगिणी	...	...	...	७५-११०
६—श्रीगंगालहरी	...	...	...	१११-१३८
७—देवीस्तुतिशतक	...	...	...	१३९-१६०
८—काव्य-मञ्जूषा	...	...	...	१६१-३०२
(१) शिवाष्टकम्		...	...	१६५
(२) प्रभातवर्णनम्		...	...	१६८
(३) अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः		...	...	१७१
(४) भारत-दुर्भिक्ष		...	...	१७४
(५) त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!		...	...	१७७
(६) कान्यकुब्जलीलामृतम्		...	...	१८१
(७) समाचारपत्र-सम्पादकस्तवः		...	...	१९२
(८) नागरी ! तेरी यह दशा !!		...	...	१९७
(९) सूर्यग्रहणम्		...	...	२००
(१०) बालविधवाविलाप		...	...	२१०
(११) गर्दभकाव्य		...	...	२१६
(१२) आशा		...	...	२१८
(१३) प्रार्थना		...	...	२२२
(१४) मेघमालां प्रति चन्द्रिकोक्तिः		...	...	२२७
(१५) कथमहं नास्तिकः		...	...	२३४

(१६) नागरी का विनयपत्र २४१
(१७) सुतपञ्चाशिका २४६
(१८) स्वप्न २५२
(१९) मेघोपालम्भः २५६
(२०) शरत्सायंकाल २५९
(२१) श्रीधरसतक २६१
(२२) प्लेगस्तवराजः २६२
(२३) अयोध्या का विलाप २६७
(२४) कृतज्ञताप्रकाश २७०
(२५) वलीवर्द २७३
(२६) शेख़ सादी की उक्तियाँ २७६
(२७) मांसाहारी को हंटर २७८
(२८) द्रौपदीवचनवाणावली २८२
(२९) काककूजितम् २८५
(३०) विधिविडम्बना २८८
(३१) हे कविते ! २९१
(३२) ग्रंथकारलक्षण २९५
(३३) सेवावृत्ति की विगर्हणा ३००

द्वितीय खण्ड

१—कुमारसम्भवसार ३०३
२—फुटकर रचनायें ३५७
(१) कोकिल ३५७
(२) वसन्त ३५८
(३) ईश्वर की महिमा ३६०
(४) भारत की परमेश्वर से प्रार्थना ३६१
(५) सरस्वती की विनय ३६३
(६) जन्मभूमि ३६५
(७) स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार ३६८
(८) श्री हार्नलीपञ्चक ३७०

(९) विचार करने योग्य बातें	...	...	३७१
(१०) ग्रंथकारों से विनय	...	...	३७३
(११) रम्भा	...	...	३७५
(१२) कुमुदसुन्दरी	...	...	३७७
(१३) महाश्वेता	...	...	३७९
(१४) महिलापरिषद् के गीत	...	...	३८१
(१५) वन्दे मातरम्	...	...	३८३
(१६) उषास्वप्न	...	..	३८४
(१७) सरगौ नरक ठेकाना नाहिं	...	...	३८७
(१८) प्यारा वतन	...	...	३९०
(१९) जम्बुकी न्याय	...	...	३९३
(२०) गौरी	...	...	४०४
(२१) आर्यभूमि	...	...	४०६
(२२) शहर और गाँव	...	...	४०९
(२३) शरीररक्षा	...	...	४१४
(२४) गंगा-भीष्म	...	...	४१४
(२५) कर्तव्यपञ्चदशी	...	...	४१७
(२६) कवि और स्वतंत्रता	...	...	४२०
(२७) देशोपालम्भ	...	...	४२१
(२८) कान्यकुब्जअबलाविलाप	...	...	४२४
(२९) टेसू की टाँग	...	...	४२८
(३०) ठहरौनी	...	...	४३४
(३१) प्रियंवदा	...	...	४४०
(३२) इन्दिरा	...	...	४४२
(३३) सन्देश	...	...	४४४
(३४) विवाह-सम्बन्धी कवितायें	...	...	४५१
(३५) भारतवर्ष	...	...	४५३
(३६) मेरे प्यारे हिन्दुस्तान	...	...	४५४



स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रथम खण्ड

द्विवेदी-काव्यमाला

प्रथम खण्ड

विनयविनोद

(सन् १८८९ मे पहले-पहल प्रकाशित)

दोहा

विश्वाधार विशुद्ध विभु विश्वम्भर वरगीत।
विमल विमोह विनाशकर विगतिविकार विनीत ।।
निराकार नर-केशरी केशव करुणाकन्द।
नमो निरंजन ब्रह्म शुचि सुखद सच्चिदानन्द ।।
बुधजन मत्सर-ग्रस्त सब श्रीनि मदवन्त।
नवल सुभाषित अपर किमि सुनहि भयौ इमि अन्त ।।
सुजन जगत उत्पत्ति ते लखि न परत कछु सार।
भय विषाद अपवाद शत कुटिल कल्मषनि भार ।।
यद्यपि पुण्य प्रयोग ते बहुतनि ते अनुकूल।
भोगत भोग अनेक विधि जो अनर्थ कर मूल ।।
दुर्गमदुर्ग विदेश भ्रमि फल पावत कछु नाहिं।
तजि स्वजाति-कुल-कानहू निष्फल सेवा जाहि ।।
काक सरिस पर-ेह हठि जात अनादर पाय।
तृष्णा तृप्त न होत तउ पाप विरति अधिकाय ।।
भूमि विदारत मूढ़ नर धनहित सहत कलेश।
सरि सरितापति तरत अरु तो त विविध नरेश ।।
मन्त्राराधन करि थकत निशा मशान गँवाय।
मिलत न एक बराटिकहु तृष्णा तरुण सुहाय ।।
लोभबंध बँधि खलनकर कटुभाषण सुनि हाय।
दहत हीय ज्वाला विषम पै मुख वचन बनाय ।।
विहसत तिन मन की कहत कर जोरत परि पाय।
आशा इमि आधीन कर नित नव नाच नचाय ।।
अति चचल जलबिन्दु जिमि कमलपात के माहि।
क्षणभंगुर यह जीव तिमि निमिप भरोसौ नाहि ।।
ताहू पै अविवेक ते रे मन भ्रमित सदाहि।
अल्प हेत हित याचना पातक करि न अघाहि ।।

भोग न भोगत भुगत ही वय इमि सकल सिराय।
तपहू तपत न वय तपत करत नित्य दुख पाय॥
काल गयो नहि वय गई शिथिल परत सब गात।
तृष्णा नहि जीरण भई वय जीरण ह्वै जात॥
मुख आकृति कछु और ही कच शित रद रद नोय।
अंग आपने नाहि पै तृष्णा तरुणी होय॥
इच्छा भोग निवृत्त भइ गयो पुरुष कर मान।
कीन त्याग मुत बन्धुजन सुहृद सुप्रान समान॥
अतिशय तनु जर्जर भयो श्रवण नयनहू दीन।
समुझि मरण भय तउ चकित अहो शरीर मलीन॥
आशा नदी विचित्र इक सुजल मनोरथ जासु।
तृष्णा उर्ध्व तरङ्ग सम कहिय अनेकन तासु॥
ग्राहवती जग प्रीति अरु तर्क विहंग अनूप।
तरुवर-धैर्य-विध्वंसिनी मोह समर के रूप॥
चिन्तातट दुस्तर परम बिन प्रयास ना पार।
योगीश्वर मन शुद्ध जिन जात न लावत वार॥
परम वि म यह विषय है जिन आलम्बन कीन।
तिन सब भाँति बिगारेऊ सकें न करि आधीन॥
अवशि तजत सो बेगिही अमित व्याधि उपजाय।
दुखप्रद भयप्रद नाशप्रद अघ ओघनि करराय॥
ब्रह्मज्ञान विवेक ते निर्मल बुद्धि मुनीश।
सकल वासना विगत हित सा त बिस्वाबीस॥
आश्रित इच्छा करत बड़ सुख संपादन हेत।
धन अप्राप्त चिन्तत अबुध काल कौर करि लेत॥
ज्योति अनन्त अखड नित गिरवर गुहा अनूप।
लाय समाधि सचेत चित ध्यावत विमल स्वरूप॥
आनन्दाश्रु सप्रेम जिन पीवत शुक पिक आदि।
धन्य धन्य तिन धन्य है सेवत ईश अनादि॥
प्रातहि उठि बहुवि करत अ म मनोरथ रोज।
धनसञ्चय क्रीड़ा सुखद नवल धाम पट खोज॥
बाद अनेकन करि करत आ क्षीण हतभाग।
सुखी पात्र सुइ अहहिं जिन हरिचरणन चित लाग॥

महादीन आधीन अति भिक्षाहित नित धाव।
उदर भरे नहिँ ताहु सन चित संतोष न पाव॥
देह एक परिजन शयन रैनि भूमि आधार।
वस्त्र जीर्ण शतखंड कृत कंथा दुख-आगार॥
विधि विहीन या विधि जऊ अधम दशा आरूढ़।
ताहूँ पै मन विषय विष हाहा तजत न मूढ़॥
मोहित होत विलोकतहि जो स्वरूप सानन्द।
सो अतिशय अपवित्र अरु सब प्रकार ही मन्द॥
कुच कठोर कुंदन कलश ग्रंथी मास मलीन।
मुख सुश्लेष्मागार तिहि हिमकर उपमा दीन॥
करिवर सिर सम कहत पुनि मलमूत्रादिक भाग।
घोर निंद्य ता कहँ कविन गुरु करि करे विभाग॥
अस्थि चर्म मज्जादिकन सुखद जानि इन माहिँ।
तहाँ रमत जे नर तिनहिँ कृमि किमि कहिये नाहिँ॥
निज न जानि असमर्थ उड़ि तीव्र अग्नि महँ धाय।
गिरत पतंग विनाशहित अंत न कछू बसाय॥
खाय सकंटक कौर जिमि मरत मीन अज्ञान।
अनजानत सेवत विषय देत आपने प्रान॥
देखि मनुज प्रत्यक्षहू करत न कछू विचार।
अहो मोह महिमा प्रबल प्रेरत विपति अपार॥
अति उतंग मेरो भवन मेरे पूत सुजान।
प्रिया परम कमनीय मम सुंदरता की खान॥
यौवन धन नव तन निरखि मूढ़ अचल अनुमानि।
हठि जग कारागार महँ परत आपदा आनि॥
क्षणभंगुर सर्वस्व लखि जिन खैचो निज हाथ।
तिनके युगपद कमल में पुनि पुनि मेरो माथ।
निज तिय दीन मलीन मुख अति जर्जर कृशगात।
व्याकुल रोदति क्षुधित बहु व्यथा न कछु कहि जात॥
तापर शिशुता जीर्णता वसनन की न सँभारि।
गहत चहत भोजन सकल इत उत भवन निहारि॥
गदगद कंठ विलोकि इमि याचत चहुँ दिशि धाय।
उदर हेत को सुजन जन बोलहिँ हाहा खाय॥

अभिमत मानसरोज कह अधम याचना नीच ।
चन्द्र चन्द्रिका सम सदा करत क्षीण जग बीच ।।
लज्जा बन बल्ली बनी खर कुठारिका सोय ।
काटत मूल समेत तें जामें फेरि न होय ।।
यह अति प्रबल विडम्बना लोक शोक की सार ।
अब कत करति निरास मुहिँ विनवहु बारंबार ।।
महानिबिड़ आरण्य जहँ मृग मृगपति गजवास ।
अपर पशूगण खग रमत नितप्रति करत विलास ।।
तहाँ जाय रहिबो भलो खैबो नव फल फूल ।
पै न दीनता दीन ह्वै करिबो मति अनुकूल ।।
भागीरथी तरंग कण शीतल सींचत ज़ाहि ।
विद्याधर मुनिवर कुशल सेवत जाहि सराहि ।।
सो सुंदर गिरिवर गुहा ना पद पायौ काहु ।
लोभ ग्रसित विचरत सबै नर नरेश अरु शाहु ।।
कंदादिक शैलादिकन कीधौ भई विनाश ।
की गिरिवर निरझर भये कीन्हा अनल प्रकाश ।।
द्रुमशाखा रसयुक्त मृदु फल अरु बल्कल दानि ।
टूटि काहु धरणी खसी समुझत लागत ग्लानि ।।
जानि यथा स्थित इन सबै नर युग नयनविहीन '
उदर दिखावत मानहति कहत बैन अति दीन ।।
या दिन लो याँचो सबहि करो न कछू विचार ।
वृत्ति मूल फल फूल की अब तू जानु अधार ।।
प्रातकाल रवि किरण सम कोमल लाले पात ।
करु शय्या अरु चलु तहाँ जहाँ ब्रह्म दरसात ।।
अति व्याकुल अविवेक तें जे नर नित्य भ्रमात ।
तिनकर कबहूँ नामहूँ भूलि न उतै सुनात ।।
प्रतिवन अति घन पल्लवनि छाये तरुवर वृन्द ।
इच्छित फल सब काल में देत लेत आनन्द ।।
ठाम ठाम सरिता निकर मधुर सुशीतल वारि ।
वेलि मृदुल कोमल नवल कीजै सेज सँवारि ।।
तऊ नीच जन धन हितै जाय धनीन दुवार ।
भोगत बहु सन्ताप अरु सहत कलेश अपार ।।

शैल शिला विस्तीर्ण सित शय्या सुखद बनाय ।
धरत ध्यान जब शुद्धचित कानन काम नसाय ॥
अपनो अपनो करि गये जे दिन माँगत खात ।
हँसि आवत तब सुमिरि तिन सकल गात पुलकात ॥
योगीश्वर निज योग बल समदरसी सब काल ।
चिदानन्द चिन्तन चतुर परत न माया जाल ॥
जिन तन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महँ पूरि ।
तिन चरणन की रेणुका मेरी जीवन मूरि ॥
भोग रोग भय होत है कुलच्युति भय सब देश ।
मन दरिद्र बल शत्रु भय धन भय नगर नरेश ॥
रूप सुरमणी भय बहुरि शास्त्र वादभय होय ।
गुण खलभय तन कालभय कहत सदा सब कोय ॥
जो कछु या संसार महँ सबहि नित्य भय लाग ।
तीनि काल त्रिभुवन अभय केवल एक विराग ॥
जन्मतही पीछे जरा करत आक्रमण रोज ।
तब यौवन या योग तें घटत नसात मनोज ॥
वित्त लोभ सन्तोष कहँ शम सुख तरुणी भोग ।
वनभूखल विषधर निकरि नृप विपत्ति अरु रोग ॥
ग्रास कीन एकैक इमि अति दुस्तर दिन लागि ।
को जानहि को सतपुरुष बचि है यातें भागि ॥
आधिव्याधि शतशः सकल मनदुख विविध प्रकार ।
खैंचि मूल आरोग्य की डारत एकहि बार ॥
जहँ लक्ष्मी कर वास है तहाँ विपत्ति अपार ।
अनचाहत आवत अवशि करिय उपाय हजार ॥
होत करत या भाँति ते जात वेगिही प्रान ।
रचो काहि स्वस्थिर सुचित विधि स्वतन्त्र बलवान ॥
भोग सुतुंग तरंग सम चपल भंग ह्वै जात ।
प्राण महाप्रिय जो सुऊ क्षण इक माँहि नसात ॥
दिवस जात पल सम चले यौवन जो झलकात ।
देखतहीं देखत तुरत झट पट विनशि बिलात ॥
यासों या संसार सब रे मन जानि असार ।
भली भाँति जो बनि सकै कीजै पर उपकार ॥

आयु वायु विघटित घटा अल्पकाल समुदाय ।
विज्जुलता सम भोग सब चंचल अति अधिकाय ।।
जीव युवा संयोग तें कछु न भरोसा देत ।
नातें हे सज्जन सुमन करिये हरि सो हेत ।।
आयु लोल कल्लोल जिमि वेगि पाइ है नाश ।
कितने दिन तारुण्य यह जाकी करिये आश ।।
विषय सकल सङ्कल्प सम भोग तड़ित आभास ।
प्रेम तन्तु तिय परमप्रिय थिर न सदैव विलास ।।
करि सुईश आराधना त्यागि वासना भार ।
बिन प्रयास चित चेति तू तरु भवसागर पार ।।
जीवन महाअनर्थ महँ प्रविशत प्रथम शरीर ।
गर्भवास करि कछुक दिन बहुदुख सहत अधीर ।।
जन्मि जुवा उपभोग तें काटत कठिन कलेश ।
जरा निन्द्य सब भाँतिही जहँ न शान्ति कर लेश ।।
रे मन जगजगतीविषै तिलभरि सुख न दिखात ।
फिरि तू कत इतउत भ्रमत श्रीपतिशरण न जात ।।
जरा बाघिनी सम सदा गर्जहि सन्मुख घोर ।
रोग शत्रु इव देह पै करत प्रहार सजोर ।।
फूटे घट को नीर जिमि आयु स्रवत नित जाय ।
अनहित ताकत ताहु पै हाहा कछु न बसाय ।।
भोग विनाशी वृत्ति है जा सन जग जंजाल ।
उपजत सकल प्रपंच अरु पावत कष्ट कराल ।।
विपय हेत जो पै अरे निशिदिन फिरत विहाल ।
तौ सुनु मम उपदेश यह होहि सुखी सब काल ।।
मूल काम उत्पत्ति कर घर है आशा पास ।
दे नसाय इन कहँ प्रथम मानु वचन विश्वास ।।
ब्रह्मा इन्द्र कुवेर सुर अपरहु अमित महान ।
आवतही जिहि ज्ञान के लागत चणक समान ।।
बहुरो सब सुख संपदा तीनि लोक को राज ।
विरस होत क्षण एक मैं सधत सुदुर्लभ काज ।।
ब्रह्मबोध चैतन्य अति परम प्रकाशित जोति ।
दिन दिन अब हे मूढ़ मन वृद्धिगतसी होति ।।

आलंबन तजि तासु कर वृथा होत किमि खेह ।
बार बार संसार महँ मिलत न मानुष देह ।।
अति उतंग नगरी नई नृपति श्रेष्ठ बलवान ।
जगविजयी विख्यात चहुँ सम नहिं जाकी आन ।।
सचिव सभासद चतुर वर अगणित मत्त मतंग ।
परिचारक बहु विकट भट कोटिन तुंग तुरंग ।।
नाश कीन भ्रू फेरतहि समरथ काल कराल ।
वन्दौ द्वौ कर जोरि मै धरि धरणी निज भाल ।।
दुख सुख रिपु अरु भीत पै रक धनेश सुजान ।
रत्न मृत्तिका पै सदा करि निज दृष्टि समान ।।
कब मै तजि सब जाल जग अति पवित्र बनमाँझ ।
जपिहौ हरि परिहरि सबहि भोर दिवस निशिमाँझ ।।
भूमि शयन दशदिशि वसन भोजन भिक्षाभाव ।
करनो कहा धनीन लै जो अस बनहि बनाव ।।
बलकल ते संतुष्ट कोउ कोऊ शाल विशाल ।
न्यूनाधिक सतोष मे होत न कौनो काल ।।
अति लोभी सोई सदा निपट दरिद्री जानु ।
जो पै मन संतोष तौ रक धनी सम मानु ।।
भोजन कहँ बनमूलफल अरु पीवन कहँ नीर ।
शयन धरातल कर उशी गेह गुहा गम्भीर ।।
विभव लेश मधुपान जो करत बुद्धि हठि हीन ।
हे प्रभु मोहिं न दीजियौ सुनि मम विनती दीन ।।
रविराकेश कलंक दिय शनि आदिन कछु नाहिँ ।
शेषहि दलत सुभारतें अहि विचरत महि माहिँ ।।
करिवर कारागार महँ जंबुक सुखी सदाहिँ ।
प्रबल सकल करतूतिये कहिये किमि कहि जाहिँ ।।
सकल गुणन की खानि अरु भू भूपन दिन रैन ।
पुरुष रत्न सिरजत जगत पै तिन अमर करै न ।।
भंग होत भ्रूभंग तें क्षण महँ सोउ सुजान ।
अहह सर्व उलटी क्रिया विधिगति अति बलवान ।।
अनहोनी होनी करहि होनी होन न देय ।
तृण सुमेरु अरु मेरु को तृण करि यग यश लेय ।।

रजकण की कण ते अधिक आपुहि लघु अनुमानि ।
रे मन गहु भगवंत पद काल कलेवा जानि ।।
भ्रमण करत काहे वृथा हे मन इत उत जात ।
ह्वै थिर कहुँ विश्राम करु नातर वयस सिरात ।।
होनहार सो होइगो तामे कछु न विचार ।
करु विस्मरण व्यतीत को सोचु न आगिलि बार ।।
जो कछु सन्मुख आवई ताहि ताहि क्षण मीत ।
भोगु सुमिरि हरिपदकमल मन दृढ़ आनि प्रतीत ।।
रे मन चंचल तोहि मै विनवहुँ हाहा खाय ।
श्री आशा जनि तू करै सर्वस यदपि नसाय ।।
भूपालन भृकुटीन की कल इच्छा लखि सोय ।
निरतत वर वेश्या बनी थिर कबहूँ नहिं होय ।।
गणना हम सबकी भला किमि करियै अज्ञान ।
अशन न मिलत दुबेरहू दौरतु होत विहान ।।
सरस गीत सुन्दर मधुर नवल रागिनी राग ।
रसिक सुछंद प्रबन्ध बहु अरु साहित्य विभाग ।।
मृगलोचनि हिमकरवदनि हंसगमनि सुकुमार ।
कर कंकण नूपुर पगनि उर बिच सोहत हार ।।
बनु लम्पट मन तोहि जो इनकर सुख अनुकूल ।
नहि तौ तजि सब जाल जग सेवै हरि पद मूल ।।
परम गहन इंद्रीन कर अर्थ विषय तिहि त्यागि ।
अजहूँ निश्चल शांतचित मोह निशा तें जागि ।।
आत्मभावगति चपल अति ताकहँ तू विलगाय ।
सकल वासना रहित हित साधत किमि न सुहाय ।।
नाशवन्त संसार महँ जनि करु रति स्वीकार ।
चेतु ब्रह्म चैतन्य कहँ अद्वितीय अविकार ।।
छाँड़ि मोहमायादि सब करु हरिचरण सनेह ।
तजि कुसंग सतसंग गहु फिरि न मिलत नर देह ।।
वीचि वारि कल्लोल घन तड़िता सम धन गेह ।
प्रिय दारा परिवार सब पल में ह्वैहैं खेह ।।
जगबंधन महँ बाँधि ये करत अकारज तोर ।
विरस जानि इन सकल तू भजु श्रीयुगुलकिशोर ।।

वृथा काम सेवन जगत् अखिल अमंगल भोग ।
का फल तन इक कल्प लौ जीवित रहे निरोग ।।
प्रबल शत्रु के शीश पै पग दीन्हे कह होय ।
कछु न सरत उत्तम विषय यदपि मिलावै कोय ।।
कोटि कोटि चल संपदा काह भयौ घर आनि ।
जो नहिं श्रीपतिचरण रति सब सुख दुख की खानि ।।
परम विशद शुचि भक्ति हरि जन्म मरण भयभीति ।
लघु गुरु जीवन पै दया अरु मन्मथ की जीत ।।
रहित दोष संसर्ग ते सकल विकार विहीन ।
निरजन बन वैराग्य गत इंद्रीहू आधीन ।।
इमि सत पुरुष प्रबीन जिन पायौ वर विश्राम ।
पुनि पुनि तिनहिं सप्रेम मम विधिवत दण्डप्रणाम ।।
परम प्रकाशक ज्ञाननिधि अजर सुब्रह्म अनंत ।
चिंतन करु निशिदिन सदा अति समीप तव अंत ।।
विरसविषय तजि मुदित मन प्रभु अनादि कहँ ध्याव ।
जाकी कृपा कटाक्ष ते आवागमन न पाव ।।
होत जासु अनुसंग शुभ त्रिभुवन भोग विलास ।
मिलत सहज हिय बिच जबहिं विमल ज्योति परकास ।।
रे मन अपनी भ्राति ते चपल स्वभाव प्रभाव ।
दिग्मण्डल आकाश लौ पल पल मे फिरि आव ।।
करि प्रवेश पाताल बिच पाव न तनिक प्रयास ।
शत शत योजन निमिष महँ धावत श्रम नहिं भास ।।
सुखद ब्रह्म हिय जो बसत ताहि न सुमिरत नीच ।
सद्गति किमि पै है भला सिर पै नाचत मीच ।।
वेदस्मृति सुपुराण अरु सकल शास्त्र विस्तार ।
कछु न होत इन पठन ते मै करि दीख विचार ।।
सुरपुर फलदाता जगत केवल कर्म विलास ।
आडम्वर बहु भाँति जे अंत करैहै हास ।।
भव-दुख-नाशक विमलवर ब्रह्मानन्द विहाय ।
अपर सकल उद्योग जग वणिक वृत्ति समुदाय ।।
थरथर कंपत गात सब पग भरि चलत बनै न ।
भई भग्न दंतावली बधिर अंध द्वौ नैन ।।

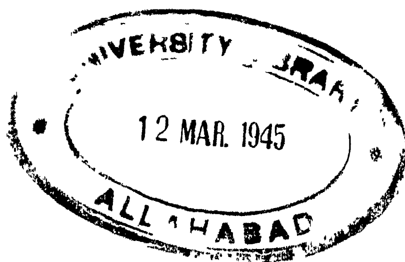
लारालय आनन सुहृद कहे सुनै नहिं बैन ।
नारी निंदति नित्य उठि भूलिहु सेव करै न ॥
कठिन कष्ट हाहा सहत जीर्ण वयस दिन रात ।
परिपालित निज परम प्रिय पुत्र शत्रु ह्वै जात ॥
वात पित्त कफ तीनि ऐ तापैं कासस्वास ।
प्राण लेत हठि वेगिही देत विविध विधि त्रास ॥
तरुण तीय सिर केश सित देखत दूरि पराहिं ।
सुनत कूप चण्डाल को जैसे सब तजि जाहि ॥
जब लौ स्वस्थ शरीर है जरा सु जब लौं दूर ।
जब लौं सब इंद्रीन की शक्ति भई नहिं चूर ॥
जब लौ निज आयुष्य कर क्षय नहिं भयौ सुजान ।
तब लौ करिय प्रयत्न जग अरु शुभ कर्म प्रधान ॥
अनल जरत गृह देखि जिमि खननो कूप सुठाम ।
नतरु दशा सुइ होयगो विनशै यह धन धाम ॥
मांधाता मुचुकुंद मनु दुर्योधन शिशुपाल ।
कर्ण युधिष्ठिर वेणु बलि महाबली महिपाल ॥
सुमुख सुलोचन श्रोणपति नृपति कंस लंकेश ।
गे बिलाय सब धूरि में लखि न परत कछू लेश ॥
ताहू पै समुझत नहीं रे मन मैं सिर फोरि ।
पुनि पुनि विनवहुँ सुमिरु हरि सुनि गुहारि अब मोरि ॥
चंचल चित्त तुरंग कहँ योग लगाम लगाय ।
अल्पकाल कछु दुःख सहि खैचि पंथ महँ लाय ॥
ले बनाय अपनी सकल जो तू चतुर प्रवीण ।
बारि बीचि सम देह यह होत पलक में क्षीण ॥
रे मन मानत एक नहिं ठानी बानी सोय ।
नयन खोलि अब देखु तौ काह काह जग होय ॥
करत विनाश शरीर कर जरा जरी जर काटि ।
मृत्यु हरत आयुष्य प्रिय सन्मुख गरजत डाटि ॥
पल महँ या तन की प्रलय होवहिगी तत्काल ।
त्राहि त्राहि कहि शरण गहि धरु हरि चरणनि भाल ॥
रम्य भोग भोजन मधुर रम्य देह अरु गेह ।
रम्य बंधु धन सुत सकल रम्य सुप्रिया सनेह ॥

रम्य सुधाकर किरण निशि रम्य गान अरु पान ।
रम्य वसन भूषण नवल रम्य सखा सनमान ॥
सज्जन कब लों रम्य ये अति सुखदाई भास ।
जब लों अचल अनित्यता करति न हृदय प्रकास ॥
दीपक निकट पतंग की छाया सम सब जानि ।
संत सच्चिदानंदपद सेवहिं बन मन मानि ॥
मायामय करिणी प्रबल लै जगबन्धन दण्ड ।
अभिमानी अन्त.करण गज मदमत्त प्रचण्ड ॥
त्रासहि पुनि पुनि निरदई ता कहँ बारम्बार ।
असि न सुनो त्रिभुवन कहूं कीजै सुजन विचार ॥
बेधि मनोरथ हिय गये होत सु यौवन नास ।
गुणहू सकल गुणज्ञ बिन रहे न एकहु पास ॥
जा सम अपर न कोउ जग सहसाकर बलवान ।
अवशि सुकाल कराल चलि निधन करहिगो प्रान ॥
मोह तिमिर नाशक युगुल परम प्रकाशक पाय ।
कबहूँ नहि सेये सुचित हरि मन्दिर महँ जाय ॥
बिगरी को अब काह हठि मूढ़ बिगारत आप ।
जानि पतित सिरमौर निज करु सुनाम की जाप ॥
अतिसुन्दर उपवन सघन मिलत पन्थ के माँहि ।
मधुर फूलफल भूमि पै उपजत है सब ठाँहि ॥
मृग अरु केहरि वसनवर सुलभ जानि सब काल ।
मन्द होत मदअन्ध जग परि नित माया जाल ॥
अहो मातु लक्ष्मी सुनिय विनवौ द्वौ कर जोरि ।
जाहु आन के पास तुम पुनि पुनि कहहुँ निहोरि ॥
भोग लेश की अब नही मो कहँ इच्छा एक ।
ताते करि इतनी कृपा राखहु मेरी टेक ॥
बलकलपट गिरि-खोह गृह बन पलास के पात ।
ए सब मम निरवाह हित सुलभ सदैव दिखात ॥
जरजर तर शतखण्ड की कन्था अरु कोपीन ।
भिक्षाशन निक्षिप्त नित प्रिय परिवारविहीन ॥
सदा निरंकुश शात मन बसिबो विपिन मशान ।
योग महोत्सव माहि थिर बर विवेक विज्ञान ॥

जो बनाव या विधि बने सब प्रकार तें आय ।
तौ त्रिलोक के राज में कछू न अधिक लखाय ।।
सुदिन सुखद वह होइहै पद्मासन जब लाय ।
शिला बैठि सुरसरित-तट प्रभुपद ध्यान लगाय ।।
योगमगनमन जानि मुहिँ जरठ हरिण मम अंग ।
पुनि पुनि आय खुजायहैं मुदित लाय निज श्रृंग ।।
महिशय्या शय्या अनुप भुजबल्ली उपधान ।
पवन व्यजन अनुकूल अति सुन्दर व्यम वितान ।।
चन्द्रदीप प्रज्वलित निशि वनिता विरति बनाय ।
हे प्रभु कब मैं करहुंगो सुख सो शयन सुहाय ।।
रजसमान सर्वस्व तजि विरम जानि धनधाम ।
कब मैं पुण्यारण्य में पुलकिततन निष्काम ।।
पातक अंगीकार करि मुख तें जगदाधार ।
पावन नाम उचारिहौं बैठि सुकुटी मझार ।।
कानन नदी समीप कब युगकर अंजुलि जोरि ।
शरणागत रक्षक कहत विनती करत करोरि ।।
परिहौ महि मैं दण्ड इव सब प्रकार तृन तोरि ।
अरु मन मुदित बिताइहौं दिवस निमिष सम मोरि ।।
मज्जन करि सुरसरि सुमन लै पवित्र फल फूल ।
हे जगव्यापक पूजिहौ कब मैं तव पद मूल ।।
कब मैं मन धरि ध्यान शुचि जाय गुहा गंभीर ।
शिला बैठि सब कहहुंगो तुम सन अपनी पीर ।।
पुनि पुनि आत्माराम में परमानन्दित नाथ ।
तव प्रसाद कब होइहौं विषय विगोय सनाथ ।।
दीप्तिमान उज्ज्वल विमल कण युत सरितातीर ।
भव-भुजंग तें भीति अरु भागि हीय धरि धीर ।।
परमप्रेम मय शुद्धचित सुखद समाधि लगाय ।
हाहा कब मैं सुमिरिहहुँ प्रभुपदपद्म मनाय ।।
धन्य सुदिन धनि धनि घरी धन्य सुबुद्धि विकास ।
करहिं कृतारथ मोहि जब पूरै मेरी आस ।।
बीतत दिन जेती घरी ते फिरि आव न एक ।
गये दिवस अबलो कितिक आनी मनहि न नेक ।।

बाल्यावस्था आदि दै कछु न भलाई कीन।
काह कहहुँ करणी कुटिल जप तप कर्मविहीन ॥
रही वयस जेती अहहि सोऊ याही भाँति।
निशदि नजगजंजाल महँ क्रम क्रम सकल सिराति ॥
हे विधि अब मेरी दशा होवैगी धौ कौन।
नीच मीचु मुख मलिन खल महापतित अघ-भौन ॥
जगदीश्वर तव शरण तजि काहि जुहारहुँ जाय।
संसृति विषय विरक्त करि लीजै मोहि बचाय ॥
सन्मुख तेरे होन में यद्यपि बहुत लजाहुँ।
पै तुम बिन करुणानिधे आन कहाँ चलि जाहुँ ॥
सब प्रकार तव विमुख मैं अघओघनि सिरमौर।
विश्वबीच विश्राम-हित पावत कहुँ नहिं ठौर ॥
कहहुँ कहाँ लगि गाथ निज करत पाप उठि भोर।
हे दयालु सुधि लीजिए कीजै अपनी ओर ॥
या दिन लौं कीन्हें कलुष नित प्रति अमित अघाय।
सोचत कछु न सुहात अब हे प्रभु होहु सहाय ॥
भवभयभंजन नाम तव बोलत बेद पुकारि।
पतित-उधारन लीजिए हाहा मोहि उबारि ॥
दीनबंधु करुणायतन जगपति दीनानाथ।
बूड़त भवनिधि मध्य लखि गहिये मेरौ हाथ ॥
शरणागत माँगत प्रभो हे अनाथ के नाथ।
युगुलचरण अरविन्द महँ राखन दीजै माथ ॥२००॥

विहार-वाटिका



समर्पण

यह "विहार-वाटिका" मेरे मित्रवर पं० महावीरप्रसाद जी की वाग्-विलास है। पद्य-रचना की सुघराई, यमक की मनोहरताई और लालित्य की अधिकाई आज इस मनभाई वाटिका को रसिकजनों की भेंट करने में मेरे परमहर्ष का कारण हुई है। आशा है कि न्यूनताओं की ओर ध्यान न देकर इसका विहार अंगीकार करेंगे।

हरलालगंज, झाँसी
१५ फ़रवरी १८९० ई०

सीताराम

श्रीराधामाधवाभ्यां नमः

बानी दानी भवानी विमल बुधिमनी लोकलोकेश रानी ।
माता अंभोज गाता सकल फल लता श्रीस्वरूपा सयानी ।।
शक्तीनादा प्रसादा शरण तव सदा पादवंदे विनीता ।
राधाबाधाहरी जै विनय मम इती आदि माया पुनीता ।।१।।
उद्धार्यौ बरवेद सिंधु मथिकै आनी धरा धारिकै ।
दैत्यै मारि बलीकुलै धरनि लै क्षत्रीनि संहारिकै ।।
लंका लै मघवाभिमान हनिकै बौद्धावतारी भये ।
वन्दे सो निकलंक बङ्क जनहा नानावतारै लये ।।२।।
मेरी बुद्धि मलीन दीन जड़ को हे शुद्धि कै दीजिए ।
ध्यावौं नाथ नवाय माथ धरणी एती कृपा कीजिए ।।
वर्णी छंद निबंध वृन्द कविता सारी जु सिंगार की ।
या नाही तिन माहि पूर्ण परिहै दोषानि के भार की ।।३।।

सुमिरि हास विलास कलानिहि ।।
सरसरास दुलासनि मानिही ।।
चरित कोमल नूतन श्याम के ।
कहन हौं चहहूँ शुभधाम के ।।४।।

बंशी बट तट यमुन के राधा नन्दकिशोर ।
बिहरत आनन इन्दुछबि ब्रजजन नयन चकोर ।।५।।
छाये मेघ चहूदिशानि लखिकै श्यामा ललामा महा ।
घोरारण्य मझार श्याम हँसिकै हो गेह जैयौ कहा ।।
प्यारी आयसु पाय जाय हरिके 'संकेतित-स्थान में ।
कालिन्दीवर कूल केलि करिहीं आनन्द पागे रमे ।।६।।
रासोल्लास भरे प्रसून विथरे शय्या सवाँरी जहाँ ।
श्रीराधाघनश्याम काम बिधि कै प्रेमांध राजै तहाँ ।।
दोऊ अंक भरै 'अनन्द बिहरै' हारै न कोऊ कहूँ ।
हूँ हूँ मे छलमैं कपोल दल मे लावण्य लीला चहूँ ।।७।।

अनेकनारी रतिलाल लालसी।
विलुब्ध वैसी अति ही प्रभालसी॥
सखी दिखावै सुइ रूप राधिके।
समै समेता मति चित्त साधिके।८॥

सुधा वाहा थाहा सुथल अवगाहा हरि तबै।
प्रिया भाई लाई हियहि सुख पाई छकि जबै।
कही बामा श्यामा मुदित अभिरामा रस भरे।
गहौ वाही नाहीं करि कि कर जाहीं करकरे॥९॥

सुशोभा महा श्याम जू की भई है।
प्रिये संघ ले रासलीला ठई है।
कला कोटि कौशल्य तू कामिनी है।
कहो एकही राधिका नामिनी है॥१०॥

सरिस सबै जानी राधिका रासरानी।
मलिन अनख मानी मानिनी मानि ठानी।
बिरह दव दहेली कुंज पैठी अकेली।
रिसि बस अलबेली दीन बैठी नवेली॥११॥

राधे नागरि के बिना साधे सुख सब श्याम।
विरस जानि बिह्वल बिकल तजी सकल ब्रजवाम॥१२॥

हिये थके मोहन ताहि हेरिकै।
दशौ दिशा प्यारिह टेरि टेरिकै।
विथा महा मैन तपै जबै दयी।
कलिन्दजा राह दुखी तबै लयी॥१३॥

साधै बान कमान नैन भृकुटी सधानिकै नानिकै।
मारै मोहि सरोष तू शशिमुखी या मान ना ठानिकै॥
लीजै प्राण प्रचारि जारि विरहा पैं दुःख ना दीजिये।
पापी मार कुठार धार खरते रक्षा हहा कीजिये॥१४॥

सालै हालै कुलिश सम ये ठीक माला ठये हैं।
नीके जीके बसन वरजे तेउ फीके भये हैं॥
कू कू कूके द्रुमनि चढ़ि सो हीय छेदै प्रचारी।
ऐरी देरी करिन सुधि ले प्राणप्यारी हमारी॥१५॥

जहाँ कीन्हें दीन्हें सुख सुख सुरस भीने विपिन में।
तहाँ भामा नामा जपत सब यामा मृमन में॥

लखै घाटा बाटा पुलिन नव ठाटादुख दहे।
कहाँ जावै पावै उरज उर लावै कर गहे ॥१६॥
तकत प्रिय मुरारी सेज साजै विहारी।
कृशित तनु दुखारी पाय ना हीय हारी ॥
तन मन धन वारी सुद्धि सारी बिसारी।
तलफत विनुवारी मीन जैसे तृषारी ॥१७॥
भुजनि भरि निशंका मेटिबे हेत अंका।
विधि हरि कृषलंका हाय पायो कलंका ॥
मधुर मधु बिलासा राधिका में सुपासा।
सुरति करत हासा सर्व भूली हुलासा ॥१८॥
श्यामा श्यामा श्याम टेरत मुरली धरि अधर।
देखि सुललितावाम ताहि पठाईं खोज हित ॥१९॥
महा बिकल हौं कल नहीं पल युग सरिस बितात।
बिन दर्शन कीन्हें प्रिया मोहि न कछू सुहात ॥२०॥
मनभावनि जितको गयी जाय तितै तिहि आन।
गई सखी देखी दुखी सर्बस मनहु नसान ॥२१॥
न सो डोलै बोलै नमत कछु खोलै महि परी।
विहारी जूही के गुनतगुन हारी सब घरी ॥
दुरें मारै जारै रतिपति बिचारै कछु नही।
लखै राधा बाधा दुख अति अगाधा सरि बही ॥२२॥
कहति मालति माल तमाल हू।
दुखद दाख सदा खस जालहू ॥
अलि नलीन कलीनन लीन हैं।
भ्रमत भ्रामत हामत खीन हैं ॥२३॥
लखत ही तिनही तन ही भयौ।
कुलिश ज्यौ तजतै नहि जी गयो।
पवन पावन पावन पावऊ।
रज सदा जसदा जस गावऊ ॥२४॥
पल्लवलता नव विशद किशलय शोक उर उपजावहीं।
सुन्दर सुगन्धित मंद मारुत सुमन सुचित सतावहीं ॥
गुञ्जत भ्रमरवर मंजु कंजनि लखत तप तन तावहीं।
व्रजराज बिनु सब काज आज अकाज करि अकुलावहीं ॥२५॥

इमि सखी आतुर देखि चिन्तत तुरत मोहन ढिग गई ।
तहँ जाय तिय संदेश पिय सो कहेहु विरहानल नई ।।
सुधि नहीं तन वसन की मधु अधर मधुकर पीवही ।
मनसिज दहत मन हारिनी हरि हाय कैसे जीवही ।।२६।।

परी छरी सी महि माहि राधा ।
कही न जावे सु असाध्य बाधा ।
चलो हहा दीजहु जीवदाना ।
न तो तजैगी वह बेगि प्राना ।।२७।।

आशा लाये तिहारीं नयनयुगुल ते अश्रुधारा बही हैं ।
नारे खारे करारे जलधि तिन भये टेकवाही गही है ।।
ताते ताको पतीजै दरशन चलिके बेगि ता ठामि जाई ।
दीजै लीजै निहारी न तरु जग सबै बूड़ि है अन्त पाई ।।२८।।

सीरी पीरी धरी सी शिथिल अति परी रोमठाढ़े अधीरा ।
चिन्ता दाहै कराहै कहत किमि बनै पीर जेती शरीरा ।
देखे तापाकलापा कंपनि सुतनु की होइहै सर्व दूरी ।
ऐतो कीजै धरीजै सिख चित दृगनै लावऊँ पाद धूरी ।।२९।।

जरे अनग ज्वाल जाल बाल सर्व कालहीं ।
महा विहाल हाल है लखे रसाल मालही ।।
अचेत स्वेत चाँदनी चितौत चन्द चौगुनी ।
कृपानिधान ध्यान प्रान राधिका कथा सुनी ।।३०।।

कीजिए सनाथ नाथ नायिका अनाथ जानि ।
अंगु मंजु कंज गंज मैन दीन हीन मानि ।।
हौ कहौ करौं कहा अहौ महा मलीन मन्द ।
सुन्दरी उठाय जाय देहि तोष नन्दनन्द ।।३१।।

प्रेमाकुल व्याकुल थकित कुंजपुंज बिच बाम ।
लाय समाधि अखण्ड जनु जपति तुमहिं घनश्याम ।।३२।।

कबहुक स्वासाहू नहीं चलत कलेश अपार ।
ऐक नाम आधार लखि तजे सकल आहार ।।३३।।

सुरनि कबहु करि रास की उर उमंग उपजाय ।
हीय हार शृंगार वर धारै बहुरि लजाय ।।३४।।

सजै साजै सेजा चकित चित लाजै पुनि छकी ।
कला लीला न्यारी विशद शुभशीला थिर थकी ।।

करै देखै लेखै हियहि अवरेखै दुति घटी।
दशा फीकी जी की सुधि करत फीकी हरि कटी।।३५।।
जकै सोचै मोचै नयन जल नोचै कलि नहीं।
गली जोवै खोवै निशि मलिन रोवै कल नहीं।।
व्यथा भारी मारी लखत बनवारी दरखरी।
तिया आवै भावै न कछु फिरि जावै तप भरी।।३६।।
ऐ हो प्यारे कहहि कित हौ मोहि काहे बुलाये।
जी मे ही में सकल तन में आपही हौ समाये।
ऐती मेरी विनय सुनिए कीजिए नाहि देरी।
हाहा दीजै दरश अबतो आपनी जानि चेरी।।३७।।
इत गोपाल विहाल अरु उत वृषभानु सुताहु।
अशन व्यसन तजि चहत, इक केवल लोचन लाहु।।३८।।
भावे कछू न बिन प्रीतम सेज सूनी।
बाढ़ै विलोक तन भूषण पीर दूनी।
कीन्हें विलम्ब अवलम्ब न पाय प्यारी।
संकेत हेत सब देह दशा बिसारी।।३९।।
राधा हिये बिरह व्याकुलता बिलोकी।
जान्यो मुकुन्द सखि आगम बात रोकी।।
आली गई न मनमोहन पै जु आयो।
लागी दवार हिय अंग अनग छायौ।।४०।।
अवधि आवन भावन याम ही।
युगुल गे युग से निशि बामही।।
अनिल कुंजनि कंज शरीर है।
लगत ही अग अग मनो दहै।।४१।।
सजन साजन साज नसाय हैं।
विकल के कल के कल आय हैं।
जगत जीवन जीवन जाय हैं।
अतन तापन ताप तचाय हैं।।४२।।
यह सुधा धर चादर लाज की।
अहह खैंचत मो सिर ताज की।
बरत बारि लगै तपते घनी।।
सुभगनी यम की यमुना ठनी।।४३।।

आये भाये अजहु नहि है धीर जीना धरो री ।
मारे मोको मदन शर लै हाय कैसी करौ री ॥
पाऊँ लाऊँ हियहि हरि के शूल सारे कलेश ।
मेटौ भेटौं भुजनि करिये पूर्ण आशा ब्रजेश ॥४४॥
उतकंठित दुख कंठलो मोचति लोचन वारि ।
सजनी दुति पीरी परी रजनी विगत निहारि ॥४५॥
रमे विहारी कित जाय आजू ।
मिली कहूँ काहु सखा समाजू ॥
भूले घने कानन कै सुश्याम ।
आयै अबौ ना निशि एक याम ॥४६॥
पिया हिया हाय कठोर कीन्हा ।
चिंता महादुख अपार दीन्हा ।
बूझै तऊ लाज भरी न बोलै ।
सशंक प्यारी नहि मर्म खोलै ॥४७॥
ना आये पिय निर्दयी यदि अली तेरो कहा दोष री ।
सो स्वच्छन्द निकन्द द्वन्द दुख के ताते हिये रोष री ।
जोपै बेगि न आय धाइ मिलिहै गोपाल मोको अरी ।
तौ मेरो मन आपु त्यागि तन को ह्वैहै जहाँ श्री हरी ॥४८॥
लीन्हों गोकुल के उबार गिरि लै गोपीश गोवर्धनै ।
हारे इन्द्र समेत मेघ पचिकै गाथा न मोते बनै ॥
मारे दैत्य अनेक एक कर से संहारि सारी अनी ।
कीजै सो अनुकूल मूल भुज के दाता दया को धनी ॥४९॥
निरखि प्रिय प्रभाता हर्ष ही ना समाता ।
हुलसत हरिबाता कौन देखा जुगाना ॥
कतहु मन धरे हैं रूप औरै करे हैं ।
सरस रस भरे हैं माल मोती गिरे हैं ॥५०॥
रिस उर उपजाई बाल बोली रिसाई ।
सुरति रत सुहाई पाग नीकी बनाई ॥
युग दृग अलसोहैं कीजिये लाल सोहैं ।
हिय बिच नख सोहैं वा दिही खात सोहैं ॥५१॥
बिन गुउ गुन माला है कहै भेष भाला ।
दुरत कत दुशाला संग लाये विशाला ॥

मुकुर मुख निहारौ फेरि टीको बिगारौ ।
इमि बनि जनि जारौ गैल बाही सिधारौ ॥५२॥
मधुर अधर पीका त्यागिये नाम पीका ।
तन मन सब फीका सोहती नैन लीका ।
धनि धनि ग्रह आये रैन कापै भुलाये ।
सवतिन मन भाये जाय हूजै पराये ॥५३॥
पुरुष लखि पियारी मानिनी खेद भारी ।
सिसकत हिय हारी दीन बानी उचारी ॥
सनमुख सखि कै कै दीठ नीची चितैकै ।
गद्गद गति लैकै पाणि जोरै विनैकै ॥५४॥
सब बिधि मनमानी अंग मेरे समानी ।
अतुलित सुखदानी सत्य तूही सयानी ।
अपर तिय तहाँ हीं ठौर कैसे सुपाही ।
सदन जब जहाँही नित्य ही मोहि माही ॥५५॥
भृकुटि तरल तेरी नागिनी लौं तिरेरी ॥
डसत कुटिल हेरी बंक होतै दरेरी ।
विषम गरल हेता बिम्बरूपी सचेता ।
अमृत मधुर देता वेगिकै पान लेता ॥५६॥
विनय करहु दीना हूजिये ना मलीना ।
सुमुखि तव विहीना पीर जाती सहीना ॥
अब मत मुख मोरै हेरियै नैन कोरै ।
दुखसर मन भोरै आजु मेरो हिलोरै ॥५७॥
भरे तेरे ऐरी अधर मधुकेरे रस सने ।
कली लाली शाली कमल कुच आली लखि घनै ॥
बनी नासा हासा सुखद सुविलासा सुधि किये ।
तुही गावोंपावों पलयुग गवावों मम प्रिये ॥५८॥
रमा जोहै मोहै अपर अस कोहै यग महा ।
उमा मैना रम्भा सम सकल दभा यदि कहा ॥
लजै नारी भारी तड़ित इव सारी तन लसै ।
तजौ माया दाया करहु मन माया कत कसै ॥५९॥
भृकुटी कमान समान अलकै सुघर बन झलकै बनी ।
आनन अनूपम बंक चितवनि सुभग शर शोभा घनी ॥

अंगनि अनंग उमंग छाये छबि छकित अभिरामिनी ।
शोभित परम कमनीय गुणमय जलजतनुदुतिदामिनी ॥६०॥
कोमल कपोल कटाक्ष तीक्ष्ण विशिषजनु हिय में लगे ॥
सिर बारबर तम भार पूरित लखत रद मनसिज जगै ।
सुखमा सदन सुचि रूप सुन्दर धन्य लखि मनमानही ।
अनमोल गोल अडोल गोरे उरज युगुल समानही ।६१॥
हरि हर्‌यो मानिन मान या बिधि विनय कीन मनायऊ ।
मुरली मधुर सुसलीन करलै हेरि फेरि सिधायऊ ।
पिय गये जानि गुमान निजगुनिविकल तिय दुखपायहू ।
अपमानि उर पछितानि रिसबस नयननीर बहायऊ ॥६२॥
व्यथा कथा तब तासु तन प्रेम कलह विरहागि ।
सखी चतुरि आतुरि कहति मनमोहन रसपागि ॥६३॥
सोहै तेरे निहोरे मलिन मनखरे प्रानप्यारे अधीरा ।
मानो ऐ कौन ठानी कुटिलगति अरी घाय बूझी न पीरा ॥
दीन्हे तूने घनेरे तमकि दुख पियै मानकै सर्वखोवा ।
ताते तोको दहैहैं मलयजरजहू चाँदनी चारु चोवा ॥६४॥
सुनै कहै सखी सखी समाज आज भास है ।
सुवास अंग मे लगे मनौ भुजंग स्वास है ॥
करै अकाशचन्द सो दुचन्द प्रान घात है ।
शरीर काम धामहू कछू नहीं सुहात है ॥६५॥
सदा सुभाय शीलता सनेह गेह गावऊ ।
सप्रेम नाम नेम लै सुप्रीति ना दुरावऊ ॥
कहा हिये विचारि कै सरोष दोष मै दयो ।
बियोग बीर आपही बिमूढ बादिहौ लयो ॥६६॥
दीजै आश्रय दीनबन्धु सुनिये दासी निरासा भई ।
जिह्वा चामहराम हाय मख में आपत्ति केती दयी ॥
कीन्हें वाद विवाद कोटि कटुजै सो काढ़ आली अरी ।
हा हा नाथ पधारिये छमि सबै कीजै न देरी हरी ॥६७॥
कछुक काल गत विरह बस मनसिज प्रेरी नारि ।
निशि अभिसार बिहार हित आभूषण तनधारि ॥६८॥
चली कली सी सुसहेट पीय की ।
सराहती तीय ,उछाह हीय की ॥

नचावती नैन छकावती सखी ।
गई छबीली न कहू किहूँ लखी ।।६९।।
किये अनेकानि मनोर्थ पंथा ।
कबै लगैं हौ उर माहि कंथा ।।
तपै सबै अंग करौं कहारी ।
न जाय कामज्वर हा सहारी ।।७०।।
कारी कुहू रैनि महा अंध्यारी ।
सकेत सानन्द पिया निहारी ।।
लै अंक प्रेमाकुल हर्पि प्यारी ।
भाई करी केलि कला पसारी ।।७१।।
प्यारी बदी ठीक गई सयानिहूँ ।
दोउन न जानी निशि नाहि बानिहूँ ।।
पायौ उभै ओर विषाद अन्त में ।
लज्जा बढ़ी भेद खुलो इकन्त में ।।७२।।
लजी आई भाई तजि हरि बनाई कछु तहाँ
सखी मेरी मानै कहति तिय अपने उनइहाँ ।।
अरी हेरे नेरे अवहि प्रिय प्रेरे मदन के ।
सुई आली चाली कुशल बनमाली सदन के ।।७३।।
गरे डारा हारा नवसत सिंगारा रचि किये ।
तिया भोरी गोरी बयसअति थोरी पिय हिये ।।
बसी कीसी सीसी बस वर बतीसी इमि बनी ।
मनौ मोती भासै जगमग प्रकाशै दुति घनी ।।७४।।
कथा भाषै लाखै करत अभिलाषै पुनि कहै ।
कबै जैहैं पैहैं सुख दुख नसैहैं मन यहै ।
दही देही काँपै अतन तन तापै निशि दिना ।
मिलो प्यारी लावै उर सब सतावै तुम बिना ।।७५।।
हारावली तरल कङ्कण शुभ्र सोहै ।
मंजीर दीप्ति मणि देखत कौन मोहै ।।
राधै निहारि हरि मंजुल कुंज द्वारा ।
संकोच सोच उपजाय न जाय पारा ।।७६।।
जानी लजी नवल बाल सुदेखि मोही,
आनन्द प्रेम परिपूरित तासु सोही ।

बैठे सखीन सिख दै सुसखी बुलाई।
स्वाधीन आप इत लै मुरली बजाई ॥७७॥
प्यारो प्यासो चहैहै मृदु रस अधरा पान येरी अयानी।
गावै तोही सुनावै सुनि मम सजनी लीजिए मानि बानी॥
नाहीं नाहीं नहीं है तव कुशल कला ताहि ते बेगि आवौ।
ज्वाला सारी बुझावौ सकुचि तजि सबै भावते हीय लावौ ॥७८॥
बिना मोलही लय लियो मोल जिनहि चितचाय।
तिनसो बोलन में बिहसि गौरी कहा लजाय ॥७९॥
बन अलीके सुनत इमि चली मिली गोपाल।
सादर मय आनन्दयुत मन्द मन्द गति बाल ॥८०॥
आछेकटाक्ष मृगाक्ष के तजि कानि कानन लौ गये।
तासो भयो श्रम विथकि चंचल चपल तारे दृग छये॥
पूरे प्रयास प्रस्वेद मुकता बिलग करि कोरन दये।
श्यामहि निहारत उमंगि उरगिरि मनहु हर पूजत भये ॥८१॥
प्यारी सखी मिसकै चतुर मुसुकाय जब न्यारी भई।
छूटी सकुच सब बदन पियलखि अतन की तनतप गई।
सोहै शुभग शुचि स्वेत सुन्दरहार हरिछवि निधि महा।
धारा यमुनजलबिमलपै जनु फेन सितरुचि सो बहा ॥८२॥
मोहन मुदित मनभावती सन कहत सनमुख आइहै।
कोमल कुसुमदल सेज पर पदकमल मृदु पधराइये।
अंबुज अरुन समता करत तिहि जीतप्रीति लुनाइये॥
सेवहु चरन तब हरन सब दुख मधुर वैन सुनाइये ॥८३॥
दंपति सुरति आरम्भ संपति पुलकि जनु बहु पायऊ।
भेटनि मनोहर हँसनि चितवनि अधररस सरसायऊ॥
अंकनि भरत निरशंक हरषित हरि विपुलसुख छायऊ।
नैननिमिषितजि प्रियामुखछबि लखत अति मन भायऊ ॥८४॥
अधखुली पलकैं अलकैं बनी,
उर उतंग अनंग सनी अनी।
ललित अंग सुरङ्ग धुरङ्ग है,
गति बसी जनु सीव मतंग है ॥८५॥
भुजन जोरि उरोजनिहूँ मिलै,
सुरति दायक नायक अंग लै।

नखनि दंतनि कंत इकत कै,
छत किये सुपिये रस अंत कै ॥८६॥
थकि थली सिथली रस रीत में,
रति रची सुखची विपरीत में ।
लजित कंपति कंप सनेह की,
नव कला विकला कलदेह की ॥८७॥
वसन आसन-आसनि दास कै,
विलग पी रस की हँसि हाँस कै ।
द्रगलसै विलसै अलसै गही,
सुमन हार बिहार विहाय ही ॥८८॥
छरा छूटे टूटे सुरति रस लूटे हिय गहे ।
चितै गौहीसौही सजति अरसौही मुदलहे ।
थकी गीता प्रीता उझकि अगरीता सुखसनी ।
महाशोभा लोभा मन लखत शोभा छवि घनी ॥८९॥
प्यारे धारो सवारौ वसन सुरुचिसों अंग मेरे बिहारी ।
देखो मारे बिथारे कचतिय कहही भालबेंदी बिगारी ।
रेखा केती बनाई हियहि तुम छली वेगि नीकी करीजै ।
माला तोरो सजीरी विनय नहि सुनी आनिये ताहि दीजै ॥९०॥
रचित कुच अडोला शुभ्र ज्यो मैनगोला ।
तिल कलित कपोला लाइयै श्याम लोला ।
विरति रति मशेनी गूथिये लाल वेनी ।
करनि वलय श्रेनी कीजिए मोद देनी ॥९१॥
जिमि जिमि मुसकाई युक्ति राधा बताई ।
तिमि तिमि चितलाई कीन सोई सुहाई ।
तन मन बलिजाई प्राणप्यारी रिझाई ।
पुनि पुनि उर लाई धामं आये कन्हाई ॥९२॥
मधुर सुर सुनाई श्याम बंशी बजाई ।
विपिन निशि लुभाई गोपनारी बुलाई ।
सजल जलद देही मोहती नाहि केही ।
तजि सुत पति गेही वाम लाई सुगेही ॥९३॥
विरह दव बुझाई ताप सारी सिराई ।
नव सुख अधिकाई दीन संतोष पाई ।

दुखि नहि लवलेशा जाहि सेवै महेशा।
तिहि धरि नर भेषा कोटि काटै कलेशा ।।९४।।
छायारूप अनन्त सन्त हरि को शास्त्रादि जानै कहैं।
जोरे पाणि गणेश शेष विधिहू जाको सदा ही रहै।
सो राधा सुखदा त्रिलोकजननी आनन्दसंमोहनी।
लीलाहेत निकेत कीन बृज में श्रीकृष्णअर्धाङ्गिनी ।।९५।।
गोपाल गोविन्द मुकुन्द श्यामा।
शोभानिधे शील समूह धामा ।।
दाता दया सिन्धु नमो मुरारी।
भूभारउद्धारक तापहारी ।।९६।।
इन्द्रादि शीश नित नावहि ईश ध्यावैं।
लावे समाधि सुर सिद्ध मुनीश गावैं।
पादारबिन्द बृजचन्द अनन्द कंदा।
बन्दै प्रसाद मतिमन्द बनाय छंदा ।।९७।।
अक्षि अवधि अरु रन्ध्रविधु पौष पक्ष तमजान।
नवमी शुभ बुध हस्त मह कियौ याहि निरमान ।।९८।।
ललितलता अनुराग की छाई मैं हुलसाय।
रसिकशिरोमणि सुजनजन विहरिय आप सुहाय ।।९९।।
सुमन बेलि अनमिलत जहँ तहँ करि भिन्न विभाग।
मोहि कृतारथ कीजिए देखि मोर अनुराग ।।१००।।

।। इति ।।

विहार-वाटिका में प्रयुक्त वृत्तों की नामावली

वृत्त	नाम	वृत्त	नाम
१	स्रग्धरा	२९	स्रग्धरा
२	शार्दूल विक्रीडित	३०	नराच
३	,, ,, ,,	३१	चामर
४	द्रुतविलम्बित	३२	दोहा
५	दोहा	३३	दोहा
६	शार्दूल विक्रीडित	३४	दोहा
७	,, ,, ,,	३५	शिखरिणी
८	वंशस्थ	३६	,, ,,
९	शिखरिणी	३७	मन्दाक्रान्ता
१०	भुजंगप्रयात	३८	दोहा
११	मालिनी	३९	बसंततिलका
१२	दोहा	४०	,, ,,
१३	वंशस्थ	४१	द्रुतविलम्बित
१४	शार्दूल विक्रीडित	४२	,, ,,
१५	मंदाक्रांता	४३	,, ,,
१६	शिखरिणी	४४	मन्दाक्रांता
१७	मालिनी	४५	दोहा
१८	मालिनी	४६	उपजाति
१९	दोहा	४७	,, ,,
२०	दोहा	४८	शार्दूलविक्रीडित
२१	दोहा	४९	,, ,,
२२	शिखरिणी	५०	मालिनी
२३	द्रुतविलंबित	५१	,, ,,
२४	,, ,, ,,	५२	,, ,,
२५	हरिगीतिका	५३	,, ,,
२६	,, ,,	५४	,, ,,
२७	वंशस्थ	५५	,, ,,
२८	स्रग्धरा	५६	,, ,,

वृत्त	नाम	वृत्त	नाम
५७	मालिनी	७९	दोहा
५८	शिखरिणी	८०	,, ,,
५९	,, ,,	८१	हरिगीतिका
६०	हरिगीतिका	८२	,, ,,
६१	,, ,,	८३	,, ,,
६२	,, ,,	८४	,, ,,
६३	दोहा	८५	द्रुतविलंबित
६४	स्रग्धरा	८६	,, ,,
६५	नाराच	८७	,, ,,
६६	,, ,,	८८	,, ,,
६७	शार्दूलविक्रीडित	८९	शिखरिणी
६८	दोहा	९०	स्रग्धरा
६९	वंशस्थ	९१	मालिनी
७०	उपेन्द्रवज्रा	९२	,, ,,
७१	इन्द्रवज्रा	९३	,, ,,
७२	इन्द्रवंशा	९४	,, ,,
७३	शिखरिणी	९५	शार्दूलविक्रीडित
७४	,, ,,	९६	इन्द्रवज्रा
७५	,, ,,	९७	वसंततिलका
७६	वसंततिलका	९८	दोहा
७७	,, ,,	९९	,,
७८	स्रग्धरा	१००	,,

स्नेहमाला

समर्पण

प्रेम के आधार यह आपके प्रेम की ही रचना है। अनुचित तो है ही कि कुछ भी आपसे इस अवसर पर इस विषय में कहा जाय क्योंकि प्रेमी जनों की लालसा को, केवल उनकी उत्कण्ठा की ओर ध्यान देकर, असंगत बातों को दुरा , पूर्ण करने का तो आपका प्रण ही है; तथापि बिना कहे सन्तोष नही होता कि, इसे भी आपने पूर्वार्यिवंशजों के प्रशंसित संकल्पों से संगृहीत जान स्वीकार कीजिए।

झाँसी
१ मार्च, १८९०

—ग्रन्थकार

स्नेहमाला

तनु जनु घनश्यामा शोभाधामा रसिक सुनामा विश्वभरं।
नटवर नँदलाला उर बनमाला रूप विशाला मुकुटधरं।
लोचन अनियारे जीवनप्यारे नाथ हमारे देववरं।
श्री राधानायक जनसुखदायक होहु सहायक विघनहरं।

दोहा

विधि हरिहर उत्पत्ति अरु पालनलयकरतार।
सेवक इन सबहू किये विधुवदनी आगार॥
जाके चरित विचित्र अति परम मनोहर रूप।
ता पद अम्बुज बन्दहूँ कर शरकुसुम अनूप॥
घूँघुटपट खोलनि हँसनि हिय आशय गभीर।
लाजसकुचभाषण मधुर मरकतहेमशरीर॥
वाद बहुत अभिमानयुत भृकुटी कुटिल चढ़ाय।
नारि सहजही विश्व के नरनि लेत अपनाय॥
बंक भौह वि॰ चारु मुख स्नेहयुक्त मृदुवानि।
दृग चंचल गज इव गमन मन्द मन्द मुसकानि॥
शोभा देहिं अनेक यें मृगनयनी तन माँहि।
करन नरनि आधीन जग सोई आयुध माँहि॥
भय लज्जास्पद भंग भ्रू सकुचि कबहुँ रहि जात।
लीलाहासविलास लखि कौन ताहि पतियात॥
नवल वदन चख अति चपल नारि नवोढ़ा केरि।
नील सरोज समान युग मुदित होत मन हेरि॥
चंद्रानन सरसिजनयन स्वर्णमयी सब देह।
कचकुंचित लखि होत है बलिबलि अलिगण खेह॥
चक्रवाक कुच केहरी कटि नितम्ब विस्थूल।
बचन सरस मृदु अपर सब तिय स्वभाव के मूल॥
•अल्पहास सह मुखकमल चंचल चितवनि चारु।
बोलनि बरसनि अमिय जनु सुनत न रहत सिहारु॥

मंद मंद पग अवनि धरि कुटिल कटाक्षनि मारि।
बिन प्रयास तरुणी करत वश्य सुकोर निहारि॥
प्रेम प्रफुल्लित युवति वर, बदन देखिबे योग।
घ्राग सुगन्धित मुखपवन सम नहि दूसर भोग॥
दचन श्रवण तिनके सुखद अरु अधरारस पान।
नवयौवन सुमिरन करत छूटत मुनियन ध्यान॥
कोमल कर कंकण वलय पग नूपुर रवकारि।
धारि लजावत हँसि तिया इक टक रहत निहारि॥
त्रसित शिशुमृगीलौ नयन पुनि पुनि चपल चलाय।
असि को जग नर धीरधर दे न जाहि बिचलाय॥
तन कुकुम चिह्नित सुघर कोमलाग उर हार।
करत वश्य नर पलक मे कुटिल कटाक्ष प्रहार॥
निश्चय ते कविश्रेष्ठ है ज्ञान बोध विपरीत।
कामिनीन अबला कहहिं जे नित आनि प्रतीत॥
दृग विलोल अवलोकि जिन शक्रादिकहु महान।
मोहत तिन किमि भाषिये अबला अधन अमान॥
दरसतही जाके नयन तुरत काम प्रकटात।
ताको अज्ञाकारिवर सेवक मदन लखात॥
केशबद्ध सबकाल सिर लोचन श्रुति-पर्यन्त।
हृदयशुद्धता ते दसन अरु मुख स्वच्छ लखन्त॥
द्वौ कुच कुंभनि पै सदा भाल सुशोभित सोइ।
लीन शान्त बपु तदपि लखि महाक्षोभ जिय होइ॥
मुग्धे परम प्रबीन तू धनुष धारिबे माहिं।
शर सम पैनी कोर उर बेधत सकुचत नाहिं॥
दीप अनल रवि इन्दु अरु तारागण समुदाय।
मृगलोचनि बिनु अवनि सब अन्धमई दरसाय॥
तरल नेत्र भृकुटी कुटिल पीन पयोधर भार।
अधरामृतहू ते व्यथा होति न करिय बिचार॥
रोमावलि लखि ताप पै अधिक अधिक अधिकाय।
निज कर अक्षर पंक्ति जनु लिखी मैन चित लाय॥
गरुता कुचनि कठोर की सहि नहि सकत सुतीय।
कटि लचाय पग मग धरति पुनि पुनि तकि तकि हीय॥

कठिन स्तन नव चारु मुख रे मन लख अकुलात।
जो चाहत ऐसहि प्रिया करु तप काहु सिहात॥
सुजनि छाँड़ि मत्सर सकल करिये हिये विचार।
कार्य एक उत्तम परम अरु मर्याद करार॥
कै नितम्ब भू भूधरनि सेइय अति अनुराग।
मार भार धर तियन के कै तजि सब जप जाग॥
या संसार असार महँ चतुरन कहँ गति दोय।
तत्त्व ज्ञान अमृत सुइक, पान करत नर कोय॥
नातर मदन विलासिनी जघन अंग सुकुमार।
परसि लहत सुख द्वै विहति जग न आन आधार॥
चन्द्रकान्त आनन सुघर महानील सिर केश।
पद्मराग कर तरुणि के वदन रतनमय भेष॥
नारि निपट सब विधि प्रबल करत मनुज आधीन।
विहँसि मोह उपजाय पुनि प्रकटत कला नवीन॥
निर्भय रमत निलज्ज अति कारण बहुरि विषाद।
रमणी रमण सदैव करि राखत वशी प्रमाद॥
विरहानल सन्तप्त अति अञ्चल बाल उठाय।
व्याकुल सुधि बुधि सकल तजि विचरत इत उत धाय॥
उर शीतल रजनीश कर लागत शर इव आय।
वेगत थर थर काँपि तनु आतुर हाहा खाय॥
प्रिय जब लग दरशति नही तब लगि जिय अकुलात।
आवत नयनन तर जबहि मन औरहि होइ जात॥
आलिंगन हित करत तन बहु प्रयत्न हरषाय।
भरत अंक चह परस्पर तक न कबहुँ बिलगाय॥
कटि केहरि कमनीय विधु आनन रूप रसाल।
प्राप्त जाहि सुन्दर नवल ताहि स्वर्ग सब काल॥
तिय स्वभाव ते नहि कहत भोग समय सुखमूल।
आश्रित तजि निज मान पै वनि आवत अनुकूल॥
करत बहुरि निःशक मुद आदर स्निग्ध सुहाय।
पुलकित प्रेमाकुल रमत प्रीतम हीय लगाय॥
केश मुक्त उर बिच पतित किञ्चित मुकुलित नैन।
परम रम्य मुसुकानि मृदु प्यारे कोमल बैन॥

सुरतजनित श्रमस्वेदकण छाये जासु कपोल।
वधू मधुर मधु पिवत हैं भाग्यवन्त नित लोल॥
आमीलित चञ्चल नयनि सुधा सुरतिरस एक।
सुखकर मनसिज शान्ति कर निश्चय सत्य विवेक॥
जरासु मदन विकार किय अति अनुचित विधि एह।
किय न स्तनपतनावधी जीवन कामिन देह॥
उभय चित्त अरु प्रीति जो सम ह्वै रहै हमेश।
तौ सुख जानिय नतरु सग शवसम विविधि कलेश॥
मृगनयनी चञ्चल चतुर बाणी मृदुल पुनीत।
कविवर कहि कहि थकि रहे पाय सुहृदय प्रतीत॥
रसमय सुखमय प्रेममय भाषण रुचिर विनीत।
मैनोदयकर छबि छकित सकहि जगत सब जीत॥
ज्ञानिन कहँ सुरसरी तट वास त्यागि मद काम।
तरुणी स्तन मन हरन ते कै सुन्दर विश्राम॥
युवति करहि पिय सन्मुखहिं लघु मध्यम गुरु मान।
मलय सुचन्दन सम्मिलित पवन सुखद सम जान॥
आवतही ऋतुराज के बहहिं वायु मृदुमन्द।
नवल पल्लवनि युत सकल सोहहिं तरुवर वृन्द॥
करहिं मधुर रव पिक प्रिय द्रुमनि डार हुलसाय।
पाय समय अस होहिं सब भोग सरस अधिकाय॥
पवन सुगन्धित कोकिला कल वसन्त महँ हाय।
विरहिन दुखद विपत्ति जिमि सुधा गरल ह्वै जाय॥
आवासिन रमणीय है मधु रस मोद निधान।
तरुणि अधर मकरन्द नित करहिं सदा जे पान॥
चन्द्र किरण शीतल रजनि अति विचित्र तिहि मास।
करहि साज सुख के सुई प्रवासीन उपहास॥
लखि रसाल नवमंजरी उत्कण्ठित पिक कूक।
विरहानल हुति सरिस सो देत हीय बिच हूक॥
बात कुसुंभि सुवासमय हरनि सुश्रम समुदाय।
विष सम प्रिया वियोग ते लगि तन देति जराय॥
गुञ्जत अलिगण पुष्पमधु पीवत मधुर लुभाय।
ऋतुपति ललित लता निरखि किहि न काम सरसाय॥

अति शीतल श्रीखण्ड सम कामिन कर सुकुमार ।
सीकर सीचत भवन सब जलधि सुता सुतहार ।।
मरुत मन्द शुचि चाँदनी कुमुदिन कुसुमाकाश ।
मदनविवर्धक ये सकल ग्रीषम जबहि प्रकाश ।।
सुमन मनोहर मालवर व्यजन पवन पर्य्यंक ।
विमल सुजल कोमल शयन अरु निश किरण मयंक ।।
धवल धाम ऊँची गची सरवर चन्दन चूर ।
मुख सरोजलोचनि लहहि जे सुकृतिसह पूर ।।
सुघर भवन सुन्दर रचित अमल रश्मि शशि रैन ।
मलयज मृदुरज शुभ सुरभि खसखाने मुददैन ।।
श्वेत नवल पट सुमन स्रक प्रिया वक्त्र अम्भोज ।
क्षोभहिं तुरत रसज्ञ जन मन सरसाय मनोज ।।
कामोद्दीपक कमल तन कुच कठोर कटि छीन ।
पावस अति तरुणी कहिय काहि न हर्षित कीन ।।
श्याम जलद मय नभ भई अवनि हरी चहुँ ओर ।
कुटज कदब सुगन्धवर बक पंगति चितचोर ।।
विपिन रम्यशिखि कल मधुर अरु झिल्लीझनकार ।
वरषा जग संभोग हित वश करि राखत मार ।।
घनोपटल आकाश घन नृत्य मयूरनि बाग ।
वसुधा कंदल धवल लखि धीर वियोगी त्याग ।।
विलसित वल्ली अंकुरित जात केतकी फूल ।
गर्जनि घोर पयोद चहुँ दादुर रव सरकूल ।।
केकी पिक कोलाहलनि, पूरि जगत जब जाय ।
गजगामिनि बिन रजनि तब विरह भरी न सिराय ।।
अन्धकार दीसहि नही कछहू नभ घनघोर ।
बरसत पुनि पुनि गरजि अति गिरत नीर करि शोर ।।
ता बिच चंचल दामिनी चमकि चमकि रहि जात ।
धन्य तिनहि जे भुज भरत प्रिया मुदित यहि रात ।।
पावस अगम बिचारि मगु जो कदापि पिय गेह ।
शरद न बिछुरन हेत तिय आलिगन अति नेह ।।
श्रमहारक शीतल पवन सीकर स्वेत विभास ।
सुखकारक दुख दिवस हू करत प्रिया जिहि पास ।।

शरद अर्ध निशि जे पुरुष सब विधि दैव बिहीन।
भोग आस तजि शिथिल तनु जरत बिरह दवदीन॥
रजनी शुभ्र वितान इव निरखि मयंक प्रकाश।
बिन तिय उपल प्रहारि हिय ग्रहगण गिनत अकाश॥
भाग्यवन्त घृत दुग्ध दधि प्राशन वर हेमन्त।
केशरि रस तन खौर अरु नवपट अरुण अनन्त॥
पीनोरस्थल कामिनी अक लाय सुख पाय।
आनन्दित सोवहि सुखी सब जगजाल बिहाय॥
उड़ि कपोल चुम्बन करत केश झकोरनि बात।
सीसी सब मुख ते कढ़त उर न वस्त्र ठहरात॥
कपत थर थर थर उरू वायु वेग लगि गात।
मरुत दशा विरहीन सी शिशिर काल ह्वै जात॥
पुनि अबलन सन पुरुषसम करत सोइ व्योहार।
आकर्षत कच बसनहू अंग अंग ते टार॥
आकुंठित करि दीठ कर विस्तृत रोमसु देह।
सीसकार ते अधर जनु रोतत भग्त सनेह॥
विषय विरस अति दुःखमय त्याग्यो जानि असार।
निन्दत जे यहि मन्द कहि निज विचार अनुसार॥
आत्म तत्त्व थिर करि जबहि तिनहूँ बुद्धि सुजान।
खाजत तब नहि कह सकत तिय महिमा बलवान॥
श्रुति पुराण गुरु हित चहत यद्यपि चतुर प्रवीण।
वेद वारि वर महँ करत कवि कोविद मन मीन॥
तदपि कहत भू है न कछु परहित पुण्य समान।
अरु सुन्दर भामिन सरिस रम्य न जग कछु आन॥
युक्ति अनेक अनर्थ मय करिबो वृथा प्रलाप।
सेवनीय जग मैं अहहि अपर सकल परिताप॥
तिय यौवन मद युक्त अरु नमित पयोधर पीन।
वा बन, जियब निरर्थ फिर जो वर युगुल विहीन॥
साँची कहहुँ न और कै लीक यथारथ टेक।
विषइनि की संतोष जर नवनितम्बिनी एक॥
नित परमारथ साधहु मुनि समरथ कृषगात।
गहहि पन्थ वैराग्य जब मन इनते फटि जात॥

दीप पुरु प्रज्वलित है निर्मलता अधिकाय ।
जब लगि तिय लोचन चपल अंचल दे न बुझाय ।।
कवि कोविद सब मन करत बहु विधि वादविवाद ।
विषय त्याग मुख ही रहे मन ते तनिक न बाद ।।
रत्नखचित वर मेखला लोभित जिहि तन माहि ।
ताहि बिलग करि देन में जग समर्थ कोउ नाहि ।।
तरुणी निन्दत जे प्रवर ते बंचन हठि लोग ।
तप फल स्वर्ग सुतासु फल अप्सरानि संभोग ।।
अति उनमत गजराज बल मथत प्रबल जे शूर ।
अरु मृगपति सुप्रचण्डहू मद करि डारत चूर ।।
दक्ष बलीन पुकारि पै कहहुँ होउ सो होउ ।
दलन दर्प कन्दर्प मे समरथ बिरला कोउ ।।
साधु समागम दमन तन इन्द्रिय अरु अज्ञान ।
हिय लज्जा धरिबो सकल आश्रय तब लगि जान ।।
आकर्षण कर भ्रू धनुष राख्यो जब लगि तानि ।
लालावति तकि नयन शर नहि छाँड़े सन्धानि ।।
तिय सनेह युत बेगही आरम्भत जो काज ।
तामहँ विघ्न न कर सकहि विधहू जो सुरताज ।।
ज्ञानी सुघर कुलीन नर तब लगिही आचारि ।
जब लग अत प्रविष्ट नहि मैन शराशन धारि ।।
वक्ता वेद पुरान वर, ज्ञाता शास्त्र सुजान ।
लहत परम पद गति क्वचित कोऊ पुरुष महान ।।
परम अनूपम कुञ्चिका तिय भृकुटीन विहाय ।
चहत खोलिबो अमरपुर द्वारौ खुलि न सकाय ।।
मीन-ध्वज मुद्रा तिया बहु सम्पति दातार ।
मन्द त्याग तिय करहिं जे पावहिं दण्ड अपार ।।
क्रोधित मदन महीप कृत मुण्डित नग्न विदेह ।
कर कपाल लै भ्रमत नित दुखित नेह ते गेह ।।
विश्वामित्र मुनीश जिन अशन पवन अरु पान ।
सो मोहे लखि कमल मुख प्रगट सबहि यह बात ।।
मनुज दूध दधि घृत करत शाली अन्न अहार ।
ते न फँसहि यदि विंध्य तौ तरहि पयोनिधि पार ।।

बदन तेज रजनीश सम कटि कृश अति कमनीय।
मध्य भाग तरुणी कुशल मैन कुम्भ र हीय॥
इनही हित नर बुद्धिवर दुष्टहु राज दुवार।
सेवत चित धरि धैर्यगत मानि विविध उपकार॥
सुघर गुहा रमणीय जहँ गिरजा शम्भु स्थान।
गगधार शोभित शिला तहँ धरिबे कहँ ध्यान॥
जात कौन मनमलिन तजि गृह सुत निज परिवार।
जो कुरंग शावकनयनि ब्यापति जग न विकार॥
कोमलांगि मोहन प्रबल मंत्रन यदि प्रकटात।
अति दुस्तर संसार तरि तौ सब पारहि जात॥
करि न उलंघन सकत नर सागर आशा रूप।
परम मनोहर तरुणता यह सब भाँति अनूप॥
फिरि प्रवास किमि खोइयै भ्रमत अमित दुख पाय।
अन इच्छित आये जरा कर मीजबु रहि जाय॥
कहेहुँ प्रबलता मैन की मैं नहिं चाहहुँ ताहि।
ताते करि ताको बिरस बरणहुँ अब अवगाहि॥
यौवन दाहक निज वदन अरु बहु अनरथ हेत।
ज्ञानरूप विधु विमल कहँ घनसमपटल सचेत॥
बीज मोह उतपत्ति कर पंचवान प्रिय मीत।
दुखप्रद नरकागार यह सबही विधि विपरीत॥
श्रृंगारद्रुम नीरदा क्रीडा मेघ समान।
सींचि मधुर रस ते करत हाव लतादि वितान॥
मुकता फल अनमोल तिहि लागत फल चतुराय।
धन्य युवा जे नहिं चलहि निज मर्याद भुलाय॥
पुरुष स्त्रिय जानत अशुचि तौहूँ ताहि निहारि।
निलज बहुरि मद युक्त ह्वै रमत न अंतविचारि॥
अंबुजनयने प्रियवरे पुष्टोच्चस्तन भाषि।
चन्द्रानने प्रवीन कहि हर्षंत हिय हँसि राखि॥
सुनत ताप उन्माद लखि छुवत मोह अधिकाय।
तासु नाम किमि लीजिए प्रिया सुशील सुभाय॥
जब लगि नयनन ओट नहि तिय तब लग सुख जान।
बिलग होत ही सो सकल विष इव चढ़त निदान॥

सुधागरल दोऊ रहत कामिन अंग समूल ।
अमृतलता अनुकूल विषबल्लरीसु 'प्रतिकूल ।।
अति दुस्तर जड़ यन्त्र है घोर मोह की पाश ।
विघ्नकरी अमरावती अरु जग जीवन त्रास ।।
संशय हिंसा कपट की भवन कुबुद्धि निधान ।
सृष्टि माँहि अस नीच कछु दुखद न नारि समान ।।
कविवर उपमा देत हैं मुख शशि सरसिज नैन ।
कनक वदन भृकुटी कुटिल धनुष सुधा सम बैन ।।
सुनत जाहि भूलत मनुज सब सुखमय अनुमानि ।
सेवहि हाड़िन मांसही मृगजल सरिस न जानि ।।
अतिप्रिय मानत मन्द मति लीलावती विलास ।
गुञ्जत आनन्दित भ्रमर जिमि कुमोदनी पास ।।
अति कोमल वारिज सदृश शोभित आनन वाम ।
पूरण विधु छबि हर सुघर सुंदर सुखमा धाम ।।
बिम्बाफल इव अधर जहँ सुधा कहत सब कोय ।
यौवन बीतत ही सुई तुरत हलाहल होय ।।
कान्ता सरिता जानिए जल अथाह गम्भीर ।
चक्रवाक कुच पद्म मुख नाभि भँवर वर तीर ।।
संसारार्णव माहि जो चहहु न मज्जन पान ।
तौ दूरिहि ते याहि को त्यागहु सुमति सुजान ।।
बोलत इकसन एकतन देखत हिय अभिलाखि ।
चित ते चितत औरही प्रिय को सकिय न भाखि ।।
मुखहि रहत मधु हृदय विष ताही ते यह रीति ।
अधरारस पीवत समय हिय मर्दन युत प्रीति ।।
वनिता अजगर रहत नर चतुर दूरि सब काल ।
चितवत जाके क्षणक मे आवत लहर कराल ।।
सर्प सकल मुख ते डसत विषविमुक्त हू होय ।
कबहुँ न उतरत जन्म भरि जो यह देवै जोय ।।
नारी जाल जहान मे धीमर काम प्रवीन ।
फैलायो है युक्ति तें अधरामिष जा लीन ।।
मनुज मीन के फसत ही आकर्षत अति हेत ।
प्रीति अनल महँ डारि पुनि पचवत ताहि सचेत ।।

कामिन काया वन सघन शिखर स्तन दुहुँ ओर।
रे मन पथिक न जाइयो बसत मार तहँ चोर॥
चतुर सुचञ्चल चपल अति गजगामिनि मदवन्त।
पंकज बदन विलोकि कै जासु मयंक दुरन्त॥
ताके नयन भुवंग कहुँ ५. भूलि डसै न।
भेषज मिलहि न तिन कबहुँ जिन घायल किय सैन॥
मधुरादिक रह नृत्य अरु गायन सुखद सुगंध।
परस पयोधर पाँच ये पंचेन्द्रिय के बंध॥
मूढ़ भ्रमत इन मह फिरत देह मनुज की पाय।
अविवेकी जड देति हैं परमारथहि नसाय॥
मदन सुव्याधि असाध्य है जासु निवारण नाहिं।
औषध लगत न मंत्रहू वाके निकटहि जाहि॥
शान्ति करत नहि पावई कैसेहू सो नाश।
मोहज्वर नर अंग मह आवत करत प्रकाश॥
सुन्दर वेश्या मैन की ज्वाला अति विकराल।
कामी यौवन धन जहाँ होमत नित्य विहाल॥
जन्म अंध दुर्मुख अशुचि जराजीर्ण सब गात।
अविचारी अकुलीन खल कपटी कोल किरात॥
अल्प द्रव्य हित जे रमत तिय इनहूँ सँग माँहि।
ज्ञानी श्रेष्ठ गुणज्ञ जन तिन पै मोहित नाहि॥
वारवधू के अधर नहिं सज्जन चुम्बन जोग।
दूत चोर चेटक नटहु मुख लावत सब लोग॥
पीन पयोधर चल तरल लोचन तन कमनीय।
कर कोमल कृश उदर वर हार मनोहर हीय॥
त्रिवलीलता अनूप लखि कछु लावत नहिं जीय।
धन्य धन्य ते धन्य हैं सब प्रकार कथनीय॥
बाले लीला करि कहा तू नैननि के बानि।
छोड़ि व्यर्थ श्रम करति है चूकत देख निशान॥
गुनिबो मन महँ प्रथम सम उचित नाहि अब तोहि।
विषय मोह माया सकल तृण इव दीसत मोहि॥
नील कमल छबि हरण ये युगुल नयन तरवारि।
तकि तकि नित प्रति कत करत प्रबल प्रहार सँभारि॥

ठानी कह समुझत नही जाकी कछू न जाय।
ज्वाला चहहुँ अनंग की मैं तन देहुँ बुझाय॥
निरमल गृह अति शुभ्र अरु तरुणी भोग विलास।
अंग अनूपम बहुरि जो जग सुखदायक भास॥
इन सबही को जानियो प्रेमतंतु कर जाल।
कामी कृमि फँसि जासु तें तलफत दुखित बिहाल॥
योगाभ्यास अखण्ड ते आत्मा मन अपनाय।
सुखी निरन्तर जे अहहि मायाबंध नसाय॥
तिनकह क्षोभि न सकत हैं तिय मुख स्वास सुवास।
अधरामृत भाषण मधुर प्रेम पल्लवित हास॥
निज कोदंड चढ़ाय किमि ठनकारत तू मैन।
सिर धुनि धुनि बोलत वृथा कोयल हू मृदु बैन॥
री कटाक्ष चंचल कहाँ मुग्धे पुनि पुनि मार।
चित्त शरण भगवन्त की गह्यो विनाश विकार॥
मोह अन्ध मदग्रस्त जब मदन हाथ बिकि जात।
सकल विश्व तब नारिमय दशहूँ दिशा दिखात॥
वर विवेक अंजन जबहिं लोचन लेत लगाय।
सकल भुवन भरि तिनहि तब ब्रह्म एक दर्शाय॥
कृपा तिहारी के बिना सो निलि सबहि सकै न।
विश्वविमोहन एक रस श्रीपति सुखमाऐन॥

॥इति॥

अथ श्रीमहिम्नस्तोत्रम्

भूमिका

योगप्रियाय भवसागरतारणाय,
कालान्तकाय कमलासनपूजिताय ।
नेत्रत्रयाय शशिशेखरधारणाय,
त्रैलोक्यतापशमनाय नमः शिवाय ॥

इस स्तोत्र की अनुपम काव्य और सरस वाणी को सुन किसका चित्त गद्‌गदित न हो जाता होगा और किसके मन में यह आकाक्षा न उत्पन्न होती होगी कि इसके मनोहर छन्दों में श्री पुष्पदन्ताचार्य गन्धर्वराज ने जो कुछ प्रकट भाव से दर्शाया है उसे समझकर कृतकृत्य होवें। परन्तु संस्कृत-विद्या में पूर्ण रूप से प्रवीणता न होने के कारण अनेक प्रेमीजन इस रस से वंचित ही रहते हैं। मैं स्वयं इस भाषा से परिचित नही। इसी से यह विचार बहुत दिनों से मेरे मन में था कि यदि अवकाश मिले और किसी गुणज्ञ का दैवयोग से मेरा संयोग हो जाय तो अपनी बुद्धि के अनुसार इसके आशय को जान यदि हो सके तो उसे प्रकाश भी करूँ। सो वह आज पूर्ण हुआ। सका अनुवाद मैंने सन् १८८५ ई० में, जिस समय मैं हुशंगाबाद में स्थित था, किया था।

इस अनूठे स्तोत्र की रचना का कारण ऐसा सुना जाता है कि किसी राजा ने एक बहुत ही रमणीय पुष्प-वाटिका बनाई थी उसमें नाना प्रकार के सुवासित पुष्प सदैव विकसित रहते थे। किसी समय पुष्पदन्ताचार्य इस वाटिका की अत्युत्तम शोभा देख उसमें पधारे और जितने नूतन नूतन और सुगन्धित प्रसून पाये सब ले गये। उस दिन से उन्होंने नित्यप्रति वहाँ से फूल ले जाना आरम्भ किया। यह बात राजा को विदित हुई परन्तु कौन पुष्प ले जाता है यह कोई न बता सका क्योंकि गन्धर्वराज इस चौरकर्म को गुप्त रीति से करते थे। राजा ने गुणी जनों द्वारा यह प्रमाणित कराया कि यदि पुष्पचौर शिवनिर्माल्य का उल्लंघन करे तो निश्चय पकड़ा जाय। इस प्रकार का मन्त्र ठहराय एक रात्रि को वाटिका के चारों ओर शिवनिर्माल्य सिंचन कराया। पुष्पदन्त आये परन्तु जब लौटने लगे तब अपनी अन्तरिक्ष गमन की शक्ति नष्ट हुई जान चकित हुए और आशंकित होकर इस कष्ट से मुक्त होने के लिए शंकर की स्तुति करनी आरम्भ की जिसको श्रवण कर

श्री शिव जी ने प्रसन्नता प्रकट करके गन्धर्वाचार्य को पूर्ववत् शक्ति प्रदान कर उनका मनोरथ सुफल किया।

एक भाषा के छन्द को दूसरी भाषा के छन्द मे उल्था करना कुछ तो आप ही कठिन होता है तिस पर इस पंथ मे प्रवेश करने का यह मेरा प्रथम ही साहस है; इस कारण मूल संस्कृत-छन्दो के यथार्थ भाव को मुझे शंका है कि मैं भाषा मे तादृश न दर्शा सका हूँगा अर्थात् कही कही छन्द-रचना में आवश्यक वाक्यो की योजना करने में कुछ न्यूनाधिक हो गया होगा इसी से प्रत्येक श्लोक का भावार्थ भी लिखा है कि जिसमे मूल का अर्थ जानने में कुछ विरोध न हो। इस स्तोत्र के भाषान्तर करने में मूल कवि के अभिप्राय को भली भाँति प्रकट करने के हेतु से कहीं कहीं भावार्थ के प्रकरण में फेर-फार भी हुआ है सो अवलोकन से विदित हो जायगा। इसका छन्द-प्रबन्ध इस प्रकार से है :—

मूल	भाषा
१से २९तक शिखरिणी	१से१३तक शिखरिणी
३०.......हरिणी	१४ से २८ तक भुजंगप्रयात
३१ से ३४ तक मालिनी	२९ से ३५ तक हरिगीतिका
३५ से ३७ तक अनुष्टुप्	३६ से ४३ तक नाराच
३८ और ३९ मालिनी	४४ से ४९ तक मालिनी
४० वसन्ततिलका	५० से ५२ तक तोमर
४१ अनुष्टुप्	५३ से ५५ तक प्रज्झटिका
....	५६ ......दोहा

इस कार्य में हुशंगाबादस्थ श्रीमद्बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो साम्प्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर मे विराजमान हैं मैं परम कृतज्ञ हूँ। उक्त महोदय ने बडी कृपापूर्वक पुस्तक के आशय और भावार्थ के जानने मे सहायता देकर भाषानुवाद को शुद्ध किया। तदनन्तर श्रीमद्बाबू सीताराम जी स्वामी इंडियन मिडलेंड यन्त्रालय, झाँसी को मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी परम देशहितैषिता, स्वभाषानुराग और अनुपम मित्रस्नेह से इस पुस्तक को प्रकाश किया।

आशा है कि सद्गुण ग्राहक एक वार इसका अद्योपान्त पाठ कर मेरे परिश्रम को सफल करें।

झाँसी
१५ जनवरी, सन् १८९१ ई०।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीः

अथ श्रीमहिम्नस्तोत्रम्

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥१॥

अहो शम्भू तेरी अतिव अपरम्पार महिमा।
महाज्ञानी ध्यानी सकहिं नहिं भाषी तिहि समा।
वदी ब्रह्मा आदी गुननि गणना औरहु करी।
थकी वाणी गायी गिरिश तव गाथा गुणभरी ॥१॥

बखानै हैं तोही सकल निज बुद्धी सब नितै।
स्तुती मेरी हू या ग्रहण करिहैं श्री शिव चितै।
सदा हेरैं हीरे हियहि निज दासै अहहि जो।
कुसेबे हू रीझै लखहिं मन की भावनहिं जो ॥२॥

हे शम्भु आपकी महिमा को भली भाँति जानना परम दुस्तर है, तथापि ब्रह्मादिकों अरु अपर महर्षियों ने निज निज शक्त्यनुसार आपके गुणानुवाद गाये हैं, और आपने उनके गुणकथन और स्तुति को ग्रहण किया है, इससे मुझे भी आशा है कि इस स्तोत्र को भी उसके दोषों पर ध्यान न देकर आप अंगीकार करेंगे। मुझे विदित है कि मैं, जिसको आपकी महिमा का लेशमात्र भी ज्ञान नही है, सब प्रकार से आपका स्तवन करने में अयोग्य हूँ, तथापि परम्परा से अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सबने आपकी स्तुति की है, इसी से मै भी दृढ़ विश्वास करके यथामति आपके गुण-गान करने में प्रवृत्त हुआ ॥१॥

अतीतः पंथानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥२॥

मनौ बानी आहै अलग महिमा पन्थ हरते।
पुराणौ औ वेदौ चकित चित ह्वै कै सुडरते॥
कहैं जैसे तैसे बिलगि गुण ग्रामैं प्रगटते।
शशी गंगाधारी अलख अविनाशी पशुपते॥३॥

सुताही के कैसे कहत बनि आवै गुण कितै।
विषै का केते हैं मिलहि नहिं ढूँढ़े युग बितै॥
न है आदौ अन्तौ अगम अति जाकी करणि का।
करै लीला कोऊ कवन विधि ताकी वरणि का॥४॥

आपकी महिमा वाणी और मन से परे है, अर्थात्, वाणी और मन में यह सामर्थ्य नहीं है कि पूर्णरीति से उसके पार जा सकें प्रत्यक्ष वेदवाणी भी आपके स्वरूप का प्रतिपादन भयभीत होकर करती है, आपके अनन्त गुण वर्णन करने मे कोई भी समर्थ नही है परन्तु आपके लीलार्थं धारण किये हुए रूप के वर्णन में किसकी वाणी स्फुरित नही होती और किसका मन आर्कषित नहीं होता॥२॥

मधुस्फीता वाचः परममममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता॥३॥

गुरू देवौं केहू परम मृदु गंभीर स्वर ते।
अमीरूपी जाके वचन सुखदाई हृदय ते।
भया भीता गीता सकुचि जिय सोऊ कहत है।
कृपासिन्धू बन्धू यदपि शिव प्रेमैं गहत है॥५॥

कथा गैबो चाहो पुरमथन पुण्यैं हिय धरो।
मिसी याही के मैं वचन रसना पावन करों।
द्रवैंगे मो पै श्री त्रिपुरअरि आशा यह मना।
सबै देतै आये शरण न गुणौ औगुण गना॥६॥

हे पुरमथन! सब गुणसम्पन्न अमृततुल्य वेदवाणी के कर्त्ता आपके महिमा के वर्णन करने में सुरगुरु (बृहस्पति) की भी वाणी विस्मय को प्राप्त होती है। भला मेरी वाणी की कौन गणना है, परन्तु हे ईश! मेरी वाणी आपके स्तुति करने में इस हेतु से नही प्रवृत्त हुई कि वह किसी प्रकार से

आपको सन्तोष-दायक होवे किन्तु उसका अभिप्राय यह है कि आपके गुण-गौरव को वर्णन करके वह परम पावन हो जाय ।।३।।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणी
विहंतुं व्याक्रोशी विदधत इहैके जडधियः ।।४।।

प्रभुत्व स्वामी ते जगत उपजै औ पलि नरै ।
प्रलै ूड़ सारो धरणि पुनि सोई जल भरै ।।
श्रुती तीनौं नित्यै करत प्रतिपादन तव हरे ।
त्रयी मूर्ति विष्णुर्विधिहु शिव शम्भू शशि धरे ।।७।।

यहै न्यारे न्यारे गुणनियुत राजै प्रभु जिते ।
सबै मे ज्योनो है विमल शुचि तेरी जगपते ।।
करै निन्दा तापै कछुक इहलोके जड़ सदा ।
न सो शोभा पावै लगति रमणीया तिन यदा ।।८।।

हे वरद ! जगत् के उत्पत्ति, पालन और संहारकारक; ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवताओ की भिन्न भिन्न तीन गुणों से प्रकाशित तीन वेदों-द्वारा वर्णन की हुई आपकी महिमा को; इस लोक में कोई कोई जड-बुद्धि मूर्ख, लोप करने का प्रयत्न करते हैं उनको अपने यह कृत्य, अपने दुराचरण से यद्यपि सुहावने लगते हैं, तदपि, वास्तव मे वह सब भाँति विपरीत ही हैं ।।४।।

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ।।५।।

विधाता है कैसो रचत त्रयलोकै किमि सुई ।
धरे कैसी देही सकल किन बस्तू निरमई ।।
कुतर्कै है मूर्खा कहि सुइमि माया भ्रम परे ।
न जाने ऐश्वर्यो सकत नहिं जो खंडन धरे ।।९।।

आपके अतर्क्य ऐश्वर्य मे जगत् मे बहुतेरे दुष्टबुद्धि, अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार की कुतर्कना करते है कि विश्वोत्पत्ति ब्रह्मा ने की है । कल्पना किया कि

उनका कहना सत्य है, परन्तु उस देवता ने किस इच्छा से, किस शरीर से, किस उपाय से, किस आधार से और किस उपादान से जगदुत्पत्ति की? इन प्रश्नों के उत्तर का आधार उन्हें कही भी न मिलने से उनके सर्व दुष्ट कुतर्क जो केवल भ्रममात्र हैं नष्ट हो जाते हैं।।५।।

अजन्मानो लोकाः किमवयववंतोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो
यतो मंदास्त्वा प्रत्यमरवर संशेरत इमे ।।६।।

सुजन्मे हैं प्राणी अवयवनियन्ता कहुँ नहीं।
विनाधिष्ठाता के जगत उतपत्ती किम कही ।।
अनीशोहू कैहूँ भुवन रचि जीवै करि सकै।
वृथा चाहै कोऊ अपर विधि कल्पै अमितकै ।।१०।।

सबैको निर्मायो अमरवर लोकौ अरु नरा।
असी शक्ती काकी अहहि बिनु तेरे शशिधरा ।।
महा मूढ़ा ँ जे करत कछु शंका निज जिये।
तिन्है सूझै नाही नयनयुगहीना अघ पि ै ।।११।।

क्या यह लोक जो अवयवयुक्त हैं उत्पन्न नही हुए? अर्थात् हुए हैं। क्या इनकी रचना बिना ईश्वर के सम्भव है? अर्थात् नही है। क्या अनीश (जिसमे ईश्वरत्व न हो) भी भुवन और जन (जीव) की उत्पत्ति कर सका है? अर्थात् नही कर सकता। हे अमरवर! इससे स्पष्ट है कि ऐसी ऐसी कुतर्कना केवल मन्दमति ही किया करते हैं।।६।।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।७।।

त्रयी वेदेमार्गी पशुपति उपासी पुनि जिते।
सदायोगाभ्यासी तदुपरिच सांख्यी सब तिते।
मती जेते सारे निज निज प्रशंसै कहि यहै।
मतो येही साँचो कतहुँ जग दूजो नहि अहै ।।१२।।

रुची वैचित्रेते सरल कुटिलो पन्थ सबही।
गहेहैं भावै जो समुझि तिहि श्रेष्ठै धरत ही।
तिही भाँती जैसे सरित जल जावै जलधि में।
मिलैंगे ते तोहीं सकल अवसाने पलक मे ॥१३॥

तीनों वेद, साख्य और योगशास्त्र, शिव और विष्णु-माहात्म्य-सम्बन्धी ग्रन्थ द्वारा निर्मित किये हुए भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों को अपना-अपना मार्ग उत्तम भासता है, कारण, रुचि की विचित्रता से सरल और कुटिल पंथ में उन्हें अन्तर नही समझ पड़ता, परन्तु अन्त समय जैसे सर्व संसारी जल टेढ़े और सीधे दोनों मार्गों से सागर गे जाकर सम्मिलन करते हैं इसी प्रकार यह विविध मतानुयायी आपही को आकर मिलते हैं ॥७॥

महोक्षः खट्वागं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तत्रोपकरणम्।
सुरास्तां तामृद्धिं विदधति भवद्भ्रूप्रणिहिताम्
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

महा उक्ष खट्वाग व्याला कपाला।
कुठारै धरे पाणिराजै दयाला॥
रमाये विभूती उमानाथ अंगा।
मृगच्चर्म आसीन प्रेतादि सगा॥१४॥

अमांगल्य सामग्रि कामारि तेरी।
ऋद्धी सिद्धि दातार से भौह फेरी।
सुरेशादि ब्रह्मादि सम्पत्ति सारी।
महाराज गौरीश दीन्ही तिहारी॥१५॥

निजात्मा सुखी शम्भु आनन्दकारी।
विभौ ना चहैहैं कबौं श्रीपुरारी॥
मृगारंग तृष्णा समा जानि ईशा।
हियो सो कियो त्याग ताको गिरीशा॥१६॥

हे वरद! नन्दी बैल, खट्वाग, परशु (कुठार), मृगछाला, भस्म (चिताभस्म), फणि (सर्प) और कपाल तौ आपकी स्वयं सामग्री है; परन्तु देवताओ की जो ऋद्धि-सिद्धि है सो आपकी केवल कटाक्षमात्र की कृपा से है। सत्य है आपको, जो कि परमानन्द में सदैव निमग्न रहते हैं; यह विषय-वासनारूपी मृगतृष्णा कदापि मोहित नही कर सकती है ॥८॥

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तवि ये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवन् जिह्नेमित्वा न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

ज ध्रू कहैहै नितै नित्य कोऊ—
अध्रू कोय संसार थापै सुदोऊ।
यही भाँति विस्मय जतावै सबी को।
अचम्भो बडो सो सुनै होत मोको ॥१७॥

करौं मैं विनय नाथ कैसे तिहारी।
लजौहौ हिये माहि हा हा पुकारी।
लहै अन्त नाही कबौं वेद जाको।
सु मैं मन्दबुद्धी कहौं काह ताको ॥१८॥

हे पुरमथन! कोई तो कहता है कि यह ससार ध्रुव अर्थात् (स्थिर) सत्य जन्ममरणरहित है, कोई कहता है कि यह अध्रुव (अस्थिर असत्य) है, और कोई यह भी कहता है कि ध्रुव और अध्रुव दोनो है। ऐसी ऐसी वार्ताओं को सुनकर मै विस्मित की भांति आपकी स्तुति करने मे सलज्ज नही होता हूँ, कारण की वाचाल सदा धृप्ट हुआ करते हैं। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार से स्तुति करने में, मेरे मोहित होने से, लोग मेरी निन्दा करेगे यह सकुच मैंने तनिक भी मन में न ला करके आपकी विनय करने मे, अपनी वाणी की योजना की ॥९॥

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिंचो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कंधवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥१०॥

परीक्षा तवैश्वर्य की लेन हेता।
पतालै हरी उर्द्ध धाता सचेता।
गये हारि थके लहो नाहिं पारा,
तबै ते भये भक्ति श्रद्धा अगारा ॥१९॥

कहौ शम्भु सेवा कहू ना फलैहै।
त्रिशूलै गहे पाणि काकी चलैहै।

दुराधर्ष कैलासवासी नमामी।
हरौ मोह-माया व्यथा सर्व स्वामी ॥२०॥

हे गिरीश! आपके अग्नि-समान तेजपुञ्ज स्वरूप-सम्बन्धी ऐश्वर्य की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मा तो ऊपर आकाश और विष्णु नीचे पाताल को गये, परन्तु निराश होकर अन्त में भक्ति श्रद्धा समेत उनको आपकी विनय करनी पड़ी, तब आपने उनका मनोरथ पूर्ण किया। जिसके ऊपर आपकी कृपा हुई उसको कौन-सी वस्तु दुर्लभ है? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१०॥

अयत्नादासाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरम्
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकंडूपरवशान्।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणांभोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥११॥

दशग्रीव लै मुण्डमाला तुम्हें जो।
चढ़ावै अनेकानि बारै हुमै जो॥
फलाह्वै प्रसन्न प्रत्यक्षै दिखायो।
निजाशीष सो सार ताको बढ़ायो ॥२१॥

महा ह्वै बली तीनहू लोक त्रासे।
भयो एक राजा बिना ही प्रयासे।
तऊ ना गई खाज बाहूनि वाके।
बड़ी युद्ध इच्छा बढ़ी हीय ताके ॥२२॥

हे त्रिपुरहर! दशानन (रावण) ने अनायास बिना किसी से वैर-भाव किये त्रैलोक्य का राज्य सम्पादन करके ऐसी ऐसी बली भुजाओ को धारण किया कि जो युद्ध की सर्वदा इच्छा करती रहीं। उसने अपने ही हाथ से अपने सिर काट कमल-माल तद्वत् आपके चरणारविन्दों में अर्पण किया। यह सब आपही की स्थिर भक्ति के प्रताप का प्रभाव है ॥११॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनम्
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलितांगुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

सुरारीश ता मोह माया चलायो।
तव स्थान कैलास जातै उठायो।

पतालै भयो आदरो ता अनूठा।
दबो ईश ज्योंही दबा ो अँगूठा ॥२३॥

अहे सो सबै भक्ति औ नाथ सेवा।
वशीभूत जो कीन लंकेश देवा।
खलै जो मिलै नेक कैहूँ बड़ाई।
बनै आँधरो दुष्ट करमै अड़ाई ॥२४॥

आप ही की सेवा के प्रभाव से जिस रावण की भुजा इतनी बलवान् हुई उसी रावण ने बलात्कार से आपका वासस्थान कैलाश पर्वत बरजोरी उठाना चाहा परन्तु आपने अपने अँगूठे की नोकही से दबा कर रावण को ऐसी दशा को प्राप्त किया कि उसको पाताल में भी आश्रय मिलना कठिन हो गया। सत्य है, मूर्ख उपकार को भूल करके अपने बल का उपयोग करने लगते हैं ॥१२॥

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे वाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥१३॥

बली वाण चर्णाम्बुजानि प्रभावा।
नवौ खंड जै को जु डंका बजावा।
लयो जीत पादोच्चधारी सुरेशा।
न सोऊ अचंभो कछू है महेशा ॥ २५॥

जपा नाम जै नाथ साँचे स्वभावा।
धरा ध्यान औ प्रीति से माथ नावा।
तिहूँ लोक लोकेशहू ताहि स्वामी।
कहै कंपिकै हीय तुभ्यं नमामी ॥२६॥

हे वरद ! वाणासुर ने समस्त त्रैलोक्य को सेवक के समान अपने वश करके सुरेश (इन्द्र) के महदैश्वर्य को भी लज्जित किया सो सब इस वाणासुर को जो आपके चरणो में इतना प्रेम रखता था, कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। आपके भक्तों को कौन-सी वस्तु अलभ्य है ? कोई नहीं ॥१३॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।

स कल्माषः कंठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः ॥१४॥

प्रलै होन ब्रह्माण्ड आई जबै है।
भयो देव दैत्यानि विस्मय तबै है।
विषै पान कीन्हा दुखी देख सारे,
भई श्यामता कंठ मे जो तिहारे ॥ २७॥
जगत्रास के नाश मैं चित्त जाको।
विकारो सदा भूषणै नाथ ताको।
लहै काहू ना सोउ शोभा घनेरी।
नमामीश मेरी हरौ ताप हेरी ॥२८॥

• हे त्रिनयन ! समुद्रमंथन के समय मे हलाहल के निकलने से अकस्मात् ब्रह्माण्ड के नाश होने के भय से सुरासुरो को चकित हुआ देख, उनपै कृपा करके, विषपान करने से आपके कण्ठ में जो कालिमा हो गई है सो क्या शोभा नही देती है ? देती है। जिनका शासन संसार के भय को भंग करना ही है उनको तो दूषण भी भूषण है ॥१४॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥१५॥

विजयी जगत सुप्रचण्ड शर नहि होत निष्फल जाहि के।
व्यापित असुर सुर मनुज के मह विशिष तीक्षण ताहि के।
हे ईश सन्मुख जात तव जरि मारि छार सु है गयो।
करि कै अनादर महापुरुषहि भलो जग काको भयो।२९।

हे ईश ! जिस मनसिज के जगत् विजयी वाण सुर, असुर मनुष्य किसी को लगकर असफल नहीं होते उसने आपको भी साधारण देव जान, आपके ऊपर भी वाणप्रहार किया, परन्तु आपने उसकी एक क्षण-मात्र में भस्म की ढेरी बना दी। सत्य है जितेन्द्रिय पुरुषो का अनादर करना भला नही होता ॥१५॥

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदम्
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।

मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडित तटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ।।१६।।

निरतत जबहि पदघात सो हर भूमि भुजन उछारते ।
ग्रहगण सहित नभ बहुरि अनिभृत जटनि की फटकारते ।
बैकुंठ तट सब लहत संशय दुस्थ होवन चाहते ।
यदि करत जगहित हेत प्रभ यह बाम होत प्रभाव ते ।।३०।।

आप जिस समय ताण्डवनृत्य करते हैं उस समय आपके पादाघात से पृथ्वी डगमगाती है, भुजो के फेरने से आकाश में ग्रहगण भयभीत होते हैं और जटों की फटकार से स्वर्गलोक को भी ताड़ना होती है, आप तो जगद्रक्षा के हेतु से नृत्य करते हैं परन्तु आपके वैभव से यह क्रियायें किञ्चित् विपरीत हो जाती हैं। (जैसे किसी राजा की सवारी निकलने से यदि किसी के बोये हुए खेतों का कुछ भाग विध्वंस हो जाय तो क्या आश्चर्य मानना चाहिए, यह तो पराक्रमी और महानुभावों के चिह्न ही हैं) ।।१६।।

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद् द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ।।१७।।

जा फेन सम तारा निकर निकसी सुनभ ते सुरसरी ।
धारा अपार अखण्ड सब जग द्वीप आकृति जिहिं करी ।
शिव शीश धारी विन्दु इव तिहि लहत सो शोभा महा ।
इमि दिव्य रूप अनूप भासत पार नहिं काहू लहा ।।३१।।

जिस जलसमूह के प्रवाह (सुरसरिता) ने आकाश में व्याप्त होकर, तारागणों से निज फेन को अधिक शोभायमान करते हुए भूतल में आय सम्पूर्ण जगत् की द्वीपाकृति बनाई वही (सुरसरि) आपके शीश (जटामंडल) में एक विन्दु के समान दृष्टिगोचर है; इसी से आपके दिव्य और स्थूल शरीर का अनुमान करना चाहिए। ।।१७।।

रथः क्षोणी यंता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथांगे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतंत्राः प्रभुधियः ।।१८।।

हर त्रिपुर त्रण के हरन हित रथ अवनि सारथि विधि कियो ।
रथ अंग सविता चन्द्र हिम धनु विष्णु शर सम कर लियो ।
जिहि हेरि करि सक भस्म ता हित इतिक आडम्बर कहा ।
क्रीड़ा स्वतंत्र समर्थ पै किय जगत यश जाकर रहा ।।३२।।

त्रिपुर दैत्य जिसको आप अपनी क्रोधाग्नि में तृणवत् भस्म कर सकते थे उसके संहारणार्थ आपने इतना आडम्बर किया कि पृथ्वी को रथ, विरंच को सारथी, सुमेरु को धनुष, चन्द्र और सूर्य को रथ के दोनों चक्र और विष्णु को बाण बनाया; सत्य है महापुरुषों की बुद्धि परतंत्र नहीं होती है । यह आपकी स्वतंत्र क्रीडा और महान् प्रभुता की प्रभावदर्शकता है ।। १८।।

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ।।१९।।

कमलेश सरसिज पुष्प दश शत पद चढ़ाहि सराहहीं ।
इकबार पावत ऊन एक सुनैन काढ़न चाहहीं ।
दृढ़भक्ति लखि इम चक्रदिय रक्षक त्रिलोक विचारि कै ।
हरि पाणि सो अजहू विराजत अमित शीश उतारि कै ।।३३।।

हे त्रिपुरहर ! आपके चरणपंकज में विष्णु भगवान् को एक सहस्र कमल पुष्प चढ़ाते समय ऐसी घटना हुई कि एक पुष्प कम पड़ा, तब उन्होंने अपना कमलरूपी नेत्र चढ़ाया । स अनुपम भक्ति का प्रसाद चक्ररूप रण करके विष्णु को प्राप्त हुआ, सो वह त्रिलोकरक्षक चक्र अभी तक जाग्रत है ।।१९।।

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमताम्
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवम् ।
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वादृढ़परिकरः कर्मसु जनः ।। २० ।।

कृत यज्ञ पूरन होत ही कर्तानि तुम ता फल दिये ।
अति ही असम्भव विश्व जो बिनु ईश आराधन किये ।
अस समुझि फलदातार श्रुति श्रद्धा सुजन उर आनही ।
ह्वै बद्धपरिकर सुभगवर हित सकल जागहिं ठानही ।।३४।।

जब यज्ञ पूरा होता है तब आप ही फल देते हैं आपकी आराधना बिना यज्ञकर्त्ता के सब कर्म नष्ट हो जाते है; जब कर्म ही नष्ट हो गये तो फल कहाँ से मिलेगा इसी कारण आपको यज्ञकृत कर्म का फलदातार जानकर, सुजन जन वेद से प्रतीत करके श्रद्धायुक्त बद्धपरिकर हो सर्व कार्य करते हैं ।। २० ।।

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः।
क्रतुभ्रंशःस्त्वत्तः क्रतुषुफलदानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धा विधुरमभिचाराय हि मखाः ।। २१ ।।

सब देह धारिन ईश मुनिन सहाय निपुण सुकर्म मे।
जाके सभासद अमर शरणद दक्ष तत्पर धर्म में।
विध्वंस वाहू को भयो मख गिरिश शुचि श्रद्धा बिना।
किमि सकत पूरण होन तव पद व्यसन नहि एकहु दिना ।। ३५ ।।

हे शरणद! क्रियादक्ष (कार्य्य में निपुण) दक्ष प्रजापति स्वयं यज्ञ कर, संपूर्ण ऋषीश्वर यज्ञ करानेवाले और देवता सभासद् होने पै भी बिना आपकी श्रद्धा के यज्ञ विध्वंस हो गया इससे स्पष्ट है कि आपकी भक्ति विहीन कोई भी शुभकर्म करने में कर्ता का विनाश होता है ।। २१ ।।

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसंतं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ।। २२ ।।

जबै बिरंचि पुत्रि संग में रमै विचारियो।
सभीत त्रस्त तैं मृगी स्वरूप वेगि धारियो।
भयो मृगा सोऊ विलोकि हा हहा पुकारियो।
महा अधीन दीन ह्वै दुखी नभै निहारियो ।। ३६ ।।

कह्यो समर्थ कोउ जो अहै सु हो उबारियो।
परी अधर्म फाँस बीच धाय दुःख टारियो।
सुनै सु जासु के दयालु शंभु बान मारियो।
विधो चतुर्मुख्यो शरीर दै फलै प्रचारियो ।। ३७ ।।

हे नाथ ! विरंचि ने जब कुदृष्टि से अपनी दुहिता (लड़की) को देख उसके साथ भोग की इच्छा प्रकट की, तब उसने धर्म-रक्षा के हेतु हरिणी का रूप धारण किया। ब्रह्मा भी हरिण होकर उसके पीछे धाया। इस अन्याय को देखकर आपने वधिक के समान बड़े आवेश में आकर उस मृगरूपी ब्रह्मा को ऐसा वाण मारा कि स्वर्ग में जाने से भी वह पीछा अभी तक नहीं छोड़ता और मृगशीर्ष नक्षत्र होकर तारागणों में प्रसिद्ध है ।।२२।।

स्वलावण्याशंसा धृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा वत वरद मुग्धा युवतयः ।।२३।।

जऊ अनंग को महेश भस्म कै दियो चितै।
लयो हतो गिरीशनन्दनी सुभेष जो हितै।
तऊ अशक्त ही कहै प्रिया जु अर्धअंगिनी।
तिया न दोष योग सो सदा कुबुद्धि संगिनी ।।३८।।

हे पुरमथन ! हे वरद ! हे यमनिरत ! (योगादि नियमो मे कुशल) पार्वती जी की, जो आपकी अर्धांगिनी हैं, विशेष सुन्दरता दिखाकर आपको मोहित करने के हेतु से जिस कामदेव ने आपके ऊपर पुष्पबाणप्रहार किया उस काम को आपने तृणसमान भस्म कर दिया यह वृत्तान्त विदित होने पर भी यदि वह पार्वती जी आपके अर्धांग में अपने को विराजमान जान आपको सकाम कहें तो यही समझना चाहिए कि स्त्रियों की यह मूर्खता है ।।२३।।

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम्
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मंगलमसि ।।२४।।

मशान वास औ पिशाच आदि की अनी घनी।
चिता विभूति अंग लेप मुण्डमाल है बनी।
सदा पुरारि साज शील सर्वहू भयंकरा।
अभै परन्तु होत नाथ नाम के जपे नरा ।।३९।।

हे स्मरहर! हे वरद! श्मशान तो आपका क्रीड़ास्थान है, पिशाच आपके सहचर हैं, चिताभस्म आपके अंग का लेप है और मनुष्यों (भक्तों) के मुंड आपकी माला है। यद्यपि आपके अखिल साज और समाज अमंगलकारी हैं तथापि आपके भक्तों को, जो आपका स्मरण करते हैं यही सब मंगलमय हैं॥२४॥

मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुत
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यंतस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्॥२५॥

मुनीश आत्मसाध का जु बात जीतहू लियो।
सहर्ष जासु प्रेम नीर नैन ते बह्यो कियो।
समाधि लाय नित्य तत्त्व जौन ढूँढ़ते रहैं।
अहौ उई तुम्हैं कृपानिधान वेद यों कहैं॥४०॥

योगीजन जिन्होंने, मन से इन्द्रियों के आचरण को निहित करके, विधिवत् पवन को भी चित्त में वश कर लिया है और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का त्याग करके योग साधन कर मन में जिस तत्त्व को देख गद्गद होते हुए और नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहाते हुए अमृतरूपी कुण्ड में तल्लीन होने के समान परमानन्दित होते हैं वह तत्त्व आप ही हैं॥२५॥

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥२६॥

सु आप अर्क अग्नि सोम आप वायु रूप हैं
धरा पताल व्योम लोक आपही अनूप हैं।
गिनौ कितेक मूर्ति ईश सत्य ही कहो खरै।
बिना तुम्हें न वस्तु एकहू कहूँ लखी परै॥४१॥

आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्र हैं, आप ही पवन हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही जल हैं, आप ही व्योम हैं, आप ही पृथ्वी हैं और आप ही आत्मा हैं। महात्माजन इस प्रकार आपके परिमित स्वरूप का वर्णन करते हैं, परन्तु

मेरी बुद्धि तो यह कहती है कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमे आप व्यापक नही ॥२६॥

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वा शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥२७॥

सदा महेश ध्यान ऊ समस्त व्यस्त गावईं।
अ ऊ मकार युक्त यों विभक्त कै बतावई।
त्रिवेद वृत्तिदेव स्वर्ग मृत्यु औ रसातला।
विकार सर्व हीन शंभु व्याप्त आपकी कला ॥४२॥

हे शरणद ! ओ३म् जो अ उ म संयुक्ताक्षर है सो अकेला और भिन्न भिन्न त्रिधा विभक्त भी मन्द मन्द ध्वनि से तीनो वेद, तीनों वृत्ति (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनो लोक और तीनों देवताओं के प्रति आप ही के निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करता है ॥२७॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योस्मि भवते ॥ २८॥

महान भीम औ इशान रुद्रजू पशूपती।
भवं सुसर्व उग्र आठ नाम एक है गती।
न्हैहि नित्य नित्य वेद शोधि कै सुनावई।
नवाय माथ दास पै अखंड धाम ध्यावई ॥४३॥

हे देव ! भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, सहमहान, भीम और ईशान इस नामाष्टक मे से आप के प्रत्येक नाम को वेद भी गाते हैं; मैं तो ऐसे परम पुनीत नाम धारण करनेवाले आपको मन वच कर्म से नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।

नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नमः ॥२९॥

सकल गुण निधाना एक त्रैलोक व्यापा।
चर अचर सबै में सिद्ध तेरो प्रतापा।
जगत जनक रूपा दूर हू नेर स्वामी।
त्रिपुर अरि दयाला अंग ब्याला नमामी ॥४४॥

हे प्रियदव! (बनविहारी) आप समीप तथा दूररूपी को नमस्कार है। हे स्मरहर! आप सूक्ष्म तथा स्थूलस्वरूपी को नमस्कार है। हे त्रिनयन, आप युवा तथा जरठ वेशधारी को नमस्कार है। इसी भाँति आप सर्वस्वरूपी तथा सर्वव्यापी को मेरा बारम्बार नमस्कार है ॥२९॥

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः ॥३०॥

भव रज बहुधारी जीव उत्पत्तिकारी।
हर तन तन धारी क्रुद्ध संसार हारी।
प्रबल सत धनेशा ईश गौरीश मामी।
त्रिगुण पद विहीना चन्द्रचूडं नमामी ॥४५॥

विपुल रज (बहुरजोगण) धारी, विश्वोत्पत्तिकारक, ब्रह्मस्वरूपी आप (भव) को नमस्कार है। प्रबल तम (प्रबल तमोगुण) संयुक्त सृष्टि संहार-कारक, ईशरूपी, आप (हर) को नमस्कार है। जनसुखदायक, सत (सतोगुण) की मूर्ति, विष्णुस्वरूपी, आप (मृड) को नमस्कार है। त्रिगुणविहीन माया रहित, परम पदस्थायी आप (शिव) को नमस्कार है ॥३०॥

कृशपरिणतिचेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः।
इति चकितममंदीकृत्य मां भक्तिराधा-
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

कहँ मम बुद्धि दीना मोहसंतप्तमन्दा।
अकथ गुण तिहारे सो कहा विश्वकन्दा।

तव पद रतही ने वाक्यपुष्पानिमाला ।
सचकित चढ़वाई प्रेरि मोको कृपाला ।। ४६ ।।

हे वरद ! आपका, गुण की सीमा को उल्लंघन करनेवाला, ऐवर्श्य कहाँ ! और मेरी क्लेशवश्य अत्यन्त अल्प बुद्धि कहाँ ! मुझको तो परम चकित जान आपकी भक्ति ही ने उत्कण्ठित करके यह वाक्यरूपी पुष्पमाल आपके चरणारविन्दों में चढ़वाई ।। ३१ ।।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।। ३२ ।।

असित गिरि बनावै जो मसी सिन्धु दोती ।
सुरतरु लिखनी औ निश्चला पत्र होती ।
लिखहि यदपि लै कै शारदा जू सदा ही ।
तदपि गुण कथा को नाथ पारै न पाही ।। ४७ ।।

हे ईश ! यदि श्यामवर्ण पर्वत के बराबर कज्जल (मसि, स्याही) करके सिन्धु का पात्र (दावात, मसिदानी) बनाया जाय और सुरतरु (कल्पवृक्ष) के शाखा को लेखनी कर पृथ्वीरूपी पत्र के ऊपर साक्षात् शारदा सर्वकाल लिखती रहैं तो भी आपके अनन्त गुणो की गणना का अन्त न लगे ।।३२ ।।

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदंताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ।।३३।।

असुर सुर मुनीशा सिद्ध औ साधु वृन्दा ।
नमत नित सप्रेमा शम्भु पादारबिन्दा ।।
सब विधि गुणवाना पुष्पदन्त प्रवीना ।
रचि सुरुचिर छन्दै स्तोत्र कीन्ह्यौ नवीना ।।४८।।

आप सुर-असुर और मुनीश सम्पूजित और उन्हीं के द्वारा निज गुण की महिमा वर्णित, निर्गुणेश्वर के इस स्तोत्र की रचना सर्वगुणसम्पन्न पुष्पदन्ताचार्य्य ने रुचिर और अलघु अर्थात् बड़े बड़े वृत्तों (छन्दों) में की ।।३३।।

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यः स्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान्कीर्तिमांश्च ॥३४॥

प्रतिदिन नर याही शुद्धि ह्वै जो सचेता।
पढ़हिं अति हेता भक्ति श्रद्धा समेता।
अघ सकल नसैहैं रुद्रलोकै सिधैहैं।
धनवय अवगैहैं कीर्ति संतान पैहैं॥४९॥

जो कोई इस उत्तम स्तोत्र का नित्य नित्य शुद्ध चित्त होकर भक्ति-समेत प्रेम से पाठ करते हैं वे इस लोक में नवान्, पुत्रवान्, कीर्तिमान् और दीर्घायु होते हैं और अन्त को शिवलोक में जाकर रुद्रतुल्य आत्मा को प्राप्त होते हैं॥३४॥

दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः
महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३५॥

तप होम तीरथ दान। दीक्षाति यज्ञ विधान।
इन ना महिम्न की जान। षोडस कलाहूँ समान ॥५०॥

दीक्षा, दान, तप, तीर्थ, हवन और यज्ञादि क्रियाओं का फल महिम्न के पाठ के फल के सोलहो भाग की भी बराबरी नहीं है॥३५॥

समाप्तोयं समस्तोत्रं सर्वमीश्वरवर्णनम्।
अनूपमं मनोहारि पुण्यं गंधर्वभाषितम्॥३६॥

तत देत मैं अब भाषि। पदपद्म हर उर राखि।
मन हरन चरित अनूप। कहि बन्दि प्रभु गिर भूप ॥५१॥

यह गंधर्व राजकृत स्तोत्र, जो परम मनोहर और अनुपम है और जिसमें श्री शंकर ही का सर्वत्र वर्णन है, समाप्त हुआ॥३६॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।
अघोरान्नापरो मंत्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्॥३७॥

सुर शिव परे कहु हैं। विनती महिम्न परे न।
न अघोर छाँड़ि सुमंत्र। गुरु परे तत्त्व न तंत्र॥५२॥

शंकर से विशेष कोई देव नहीं ह, महिम्न से विशेष कोई स्तुति नहीं है, अघोर मंत्र से विशेष कोई मंत्र नहीं ह और गुरु से विशेष कोई तत्त्व नही है ।।३७।।

कुसुमदशननामा सर्वगंधर्वराजः
शशिधरवरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ।।३८।।

श्री पुष्पदन्त भव भक्त लीन ।
गुरु घोर क्रोध पै भ्रष्ट कीन ।
सुनि वर महिम्न शंकर सुजान।
उद्धारि कीन गुणगण निधान ।।५३।।

कुसुमदशन (पुष्पदन्त) नाम गंधर्वों के राजा श्री महादेव जी के सेवन ने, जिसका आचरण गुरु क रोष से भ्रष्ट हो गया इस महिम्न की रचना करके स्तवन करने से, दिव्य रूप पाया ।।३८।।

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुम्
पठति यदि मनुष्यः प्रांजलिर्नान्यचेताः।
व्रजति शिवसमीप किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ।।३९।।

कर युगल जोरि जो शिव समीप ।
पढ़िहै हो है कुल माहि दीप ।
कैलाश जाइहै मोक्ष पाय ।
यहि सम न आन जग कछु उपाय ।।५४।।

इस पुष्पदन्तप्रणीत अमोघ स्तोत्र, स्वर्ग मोक्ष के दाता और सुर-मुनियों द्वारा पूजित, का जो कोई एकाग्रचित्त होकर, हाथ जोड़ प्रेम से पाठ करते हैं वे अन्तकाल शिवपुर को जाते है और गन्धर्वादि उसकी स्तुति करते हैं ।।३९।।

श्रीपुष्पदन्तमुखपंकजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ।।४०।।

गंधर्वराज कृत विनय नित्य।
श्री शंकर मन्दिर शुद्ध चित्त।
अघ जूह नसहि मुख पढ़त गाथ।
अतिशय प्रिय है यह विश्वनाथ ॥ ५५ ॥

श्री पुष्पदन्ताचार्य्य के मुखारविन्द से निकले हुए, पाप के नाश करनेवाले और शंकर जी के परम प्रिय, इस स्तोत्र का जो कोई जिह्वाग्र पाठ करते हैं उनके ऊपर भूतनाथ श्री महादेव जी बहुत प्रसन्न होते हैं ॥ ४० ॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छंकरपादयोः।
अर्पिता तेन मे देवः प्रीयतां च सदाशिवः ॥ ४१ ॥

अर्पित शिव पद कमल मे वाणी पूजा एह।
करहि निरन्तर हर कृपा मोपै सहित सनेह ॥ ५६ ॥

यह वाणीमयी पूजा श्री शंकर के चरणकमल में अर्पित की है इससे सदा शिव मुझ पै प्रसन्न होय ॥४१॥

सुरसरि शेखर गिरिश हर चन्द्रमौलि कर जोर।
भाषा करौ महिम्न की यथा बुद्धि लघु मोरि।

इति

श्रीकान्यकुब्जवंशोत्पन्नमहावीरप्रसादद्विवेदीप्रणीतं प्राकृतभाषानुवाद-सहितं श्रीपुष्पदन्तगंधर्वराजविरचितं श्रीशिवमहिम्नाख्यं स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

ऋतुतरङ्गिणी

भूमिका

देवनागरी भाषा के काव्यों की पुस्तकमालिका में जहाँ तक मेरे अवलोकन में आया है विशेष करके दोहा, चौपाई, सोरठा, गीतिका, कवित्त (घनाक्षरी), सवैया इत्यादि साधारण मात्रावृत्तों के अतिरिक्त गणात्मक वृत्तों का बहुत ही कम उपयोग किया गया है। कहीं कहीं भुजंगप्रयात तोटकादि छन्द दीख पड़ते हैं परन्तु ऐसी तो कदाचित् ही कोई पुस्तक होगी जिसमें आद्योपान्त संस्कृतयोग्य (गणवृत्त) छन्दों में ही काव्यकथन हुआ हो। हाँ, कविवर केशवदास जी ने अपनी "रामचन्द्रिका" काव्य में अनेक गणात्मक छन्दों का प्रयोग किया है और यह महाशय इस प्रकार की छन्दरचना में एक ही हो गये हैं।

(२) महाराष्ट्र भाषा देवनागरी से अच्छी दशा में है। इस भाषा के प्रसिद्ध काव्यों के निरीक्षण से यह विदित होता है कि उनमें गणवृत्त बड़े विस्तार से प्रयुक्त है। इस समय में इस भाषा के कवियों में बिरले ही ऐसे हैं जो मात्राछन्दों का प्रयोग करते हैं।

(३) संस्कृतषट्काव्य की मनमोहनी और सर्वगुण-सम्पन्न पद्य-रचना ने मेरे मन को परम उत्साहित करके निज भाषा में गणात्मक छन्दों की योजना करने में असीम उत्तेजन दिया। प्रथम ही मैंने विहारवाटिका नामक १०० गणात्मक छन्दों की पुस्तक श्रीमत्कविवर जयदेवप्रणीत "गीतगोविन्द" के आशय पर लिखकर श्री बाबू सीताराम जी स्वामी इडियन मिडलैंड यन्त्रालय झाँसी के प्रबन्ध से प्रकाशित किया और अब इस "ऋतुतरङ्गिणी" को लिखकर रसज्ञजनों की सेवा में अर्पण करने का द्वितीय प्रसंग आया देख चित्त में समाधान पाय पुस्तक को यन्त्रस्थ करने में जहाँ तक हो सकी है शीघ्रता की है।

(४) इसमें बहुत-सा संस्कृतवाक्य प्रयोग होने से रोचकता में विरोध हुआ है परन्तु आसाधारण छन्द होने के कारण नियत स्थान में शुद्ध हिन्दी-शब्द की योजना नहीं हो सकी। इस न्यूनता का मुझे बड़ा खेद है।

(५) यह मेरी सामर्थ्य के बाहर था कि मैं इसकी रचना किसी नवीन ढंग से करता और इसी कारण अपने भूतपूर्व महाकवियों का आश्रय लेना पड़ा इसमें जगद्विख्यात ऋतुसंहार आदि काव्यों के भाव बहुत स्थानों में

पाठकों के दृष्टिगोचर होंगे। ऐसा होना किसी प्रकार अनुचित समझे जाने के भय से मैं भाषाकविशिरोमणि तुलसीदास जी के रामायण बालकाण्ड के और संस्कृतमहाकवि कालिदास जी के रघुवंश प्रथम सर्ग के वाक्यों का जिनमें इन महानुभावों ने स्पष्ट रीति से उन कविवरों के निर्मित मार्गों पर चलना स्वीकार किया है जो उनसे पहले हो गये हैं स्मरण करना सामयिक समझता हूँ।

(६) क्रमप्राप्त ऋतुवर्णन में वसन्त आदि मे आना चाहिए परन्तु ग्रीष्मऋतु प्राणीमात्र को दुखदाई होने के कारण उसका वर्णन प्रथम ही करके वसन्त में पुस्तकपूर्ति की है।

(७) भूमिका के पूर्ण करने के पहले मैं उन महाशयों से जिनके समीप यह पुस्तक पहुँचे नम्रतापूर्वक अपना हृदयभाव प्रकट करता हूँ कि यद्यपि ये छुद्र छन्द उनको रुचिकर होने में सर्वथा असमर्थ हैं तथापि मेरे परिश्रम की ओर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत करने के हेतु से एक बार इनका अवलोकन करना उनके प्रशंसित कार्यों के अतिरिक्त न होगा।

झाँसी,
१ फ़रवरी १८९१

महावीरप्रसाद द्विवेदी

ऋतुतरङ्गिणी

सौन्दर्य्यातिशयागारं
नीलाम्भोधरवत्तनुम् ।
सप्रियाकुञ्जपुञ्जस्थं
वन्देऽहं श्यामसुन्दरम् ॥

अथ ग्रीष्मवर्णनम्

(१)

समक्ष वैश्वानर[१] ज्वाल ज्वाला,
फैली महा तीक्ष्ण मरीचि[२] माला ।
सारे भये वारिविहीन ताला,
आयौ कृतांतेव[३] निदाघ[४] काला ॥

(२)

न देखि तोयाशय[५] क्लान्त चेता,
पसारि जिह्वा गुरु[६] श्वास लेता ।
मरीचिमाली[७] प्रखरांशु[८] जारी,
भई वराही महिषी दुखारी ॥

(३)

दिनेश दावानल त्रस्त भारी,
आरक्तवर्णा रसना निहारी ।
निदाघ बाधाकुल श्वान सारे,
तृषार्त विश्राम करे बिचारे ॥

(४)

महा पिपासाकुल क्षीण अगा,
गरिष्ठ ग्रीष्माग्नि दहै कुरंगा ।
शीतोदकार्थी पग वेगहीना,
परिश्रमै दीन दुखी मलीना ॥

१—अग्नि, २—किरण, ३—कालसमान, ४—ग्रीष्म । ५—जलस्थान, ६—दीर्घ, ७—सूर्य, ८—तीक्ष्ण किरणें ।

(५)

वसुन्धरा चण्डकरांशु[१] व्यापी,
प्रचंड ज्वालालय[२] तुल्य तापी।
वितप्तझंझानिल[३] रेणु संगा,
करे बटोही हठि अंग भगा॥

(६)

मार्तण्ड भूमण्डल खंड ताकी,
तीव्राग्नि वर्षा करिकै न थाकी।
वात प्रसगोपल[४] युक्त छारा,
धारा गिरावै अति ही अपारा॥

(७)

विशुष्क[५] पत्र द्रुम में अनेका,
घसे घसे कीचक[६] एक एका।
अनन्त जीवान्तक दुःखदाई,
दशौ दिशा पावक देत लाई॥

(८)

सप्ताश्व[७] तीव्रकरतप्तदुखी विहंगा,
मध्याह्नकाल बलवीर्यविहीनअंगा।
उद्विग्न बैठि बट पीपर नीम डारा,
श्वासा परित्यजत व्याकुल बार बारा॥

(९)

मनुष्य आराम[८] आराम[९] रामा[१०],
विहाय आशास्थित धाम कामा।
फलार्थ सेवै सहकार[११] बागा,
सुपर्णशाला सजि सानुरागा॥

१—सूर्य की किरण, २—अग्नि का घर, ३—झंझा, अनिल (वायु)। ४—उपल (पत्थर), ५—सूखे हुए, ६—बाँस। ७—सूर्य, ८—उपवन, ९—सुख, १०—स्त्री, ११—आम।

(१०)

निदाघ संतप्त समस्त देहा,
दिनेश संदग्ध विहाय गेहा।
दिनान्त सेवैं सुगची[१] न जाई,
शशांक[२] ज्योत्स्ना[३] जब हर्ष पाई ॥

(११)

स्वेदाम्बु[४] युक्त जन रैनि निदाघ जारे,
रुद्धानिलाकुलित[५] देह दशा बिसारे।
देवैं तुरन्त तन ते पट फेंकि कैसे,
नारी नई कुचनि ते पिय हस्त जैसे ॥

(१२)

अत्यन्त सूक्ष्म विशदुज्ज्वल[६] वस्त्रधारी,
तत्काल के बकुल माल हिये सँभारी।
दावाग्नि त्रास[७] खसखास सुवास लाय,
राजै निशामुख[८] जनोपवनानि[९] आय ॥

(१३)

अत्युग्र ग्रीष्म खर-आतप में समाने,
लै लै युवा सुमन संग सखा सयाने।
कल्लोल[१०] लोल अवलोकन चित्रताई;
लेवैं दिनान्त[११] सरि तीर समीर जाई ॥

(१४)

कृतिहिमोपल[१२] बारि बनाय कै,
व्यजन[१३] सज्जित गेह कराय कै।
खसन ते पवनायन[१४] छाय कै,
जन रहै दिन में सुख पाय कै ॥

१—उत्तम कोठे पर, २—चन्द्रमा, ३—चन्द्रिका, ४—पसीने का पानी, ५—रुकी हुई वायु से व्याकुल किये गये हैं जो, ६—विशद + उज्ज्वल, ७—दावाग्नि के त्रास से, ८—संध्यासमय, ९—जन + उपवनानि, १०—तरंग, ११—संध्यासमय, १२—यहाँ कृत्रिम हिम अर्थात् बर्फ़ का अर्थ है। १३—पंखा, १४—खिड़की।

(१५)

कुमुद पुष्प सुवास सुवासिता,
वकुल चम्पक गन्ध विमिश्रिता।
मृदुल वात प्रभात भये बहै,
मदनवर्द्धक अद्ध कला[1] कहै ॥

(१६)

दुखद दुप्रहरागम[2] देखि कै,
तलधरोदर[3] शीतल लेखि कै।
मनुज सुन्दर सेज सजाय कै,
सुख सनें खस कै खस लाय कै ॥

(१७)

अतर सुन्दर मंदिर मालिका,
चहल चन्दन अंगन नालिका।
गुल गुलाबनि आब भरी बही,
गरम ग्रीषम में सुख देवहीं ॥

(१८)

कुकुभ की चिक चित्रित सोहहीं,
सुजलयंत्र महा मन मोहहीं।
धननि गेहनि मंजुल मालती,
दहनि ग्रीषम अग्नि बुझावती ॥

(१९)

भुजंग श्वासैव[4] समीर ज्वालसी,
लसी स्वधामोदर[5] अंगना धसी ॥
बजाय जारै सिगरी घरी घरी,
घरी टरीसी स्थिर ताप ते भरी ॥

(२०)

पूर्णेन्दु आनन सरोज समान रंग,
भ्रू देखि होहि यमुनाम्ब, तरंग भंग ॥

१—घड़ी, २—दुपहरी की अवाई, ३—तलघर के अन्दर
४—श्वासा + एव ५—स्वधाम + उदर (अपने घर में)

उत्फुल्लकंजदललोचनि[1] ग्रीष्म काले,
पाटीर[2] पंक करि चर्चंत अंग बाले ॥

(२१)

कर्पूर चूर्ण करि शीतल बासि बारी,
मातंगमौक्तिक[3] मनोहर हार धारी।
शय्या समूल सरसीरुह ते सजाई,
पाटम्बरोत्तमनि[4] सूक्ष्म[5] शरीरधारी ॥

(२२)

चामीकराभरण[6] शुभ्र सुबास थोरे,
अल्पाल्प सर्व करि भूषित[7] अंग गोरे।
धारे नये बकुल चंपक चारु माला,
शीतांशु[8] रश्मि[9] निशि सेइ निदाघ काला ॥

(२३)

सप्रेम चन्दन रसाम्बु बनाय न्हाई,
गुच्छ प्रसून कर कंजनि लै सुहाई।
नारी प्रसादतल[10] रैनि सुखार्थ पाई,
ग्रीष्मर्तु ज्वाल विकराल दई नसाई ॥

(२४)
(विशेषक)

पुष्ट स्तन प्रचुर चन्दन चर्चि नीके,
वेणी विशाल बिच गूथि प्रसून जी के।
शीतोपचार शतशः करि सौख्यकारी,
ग्रीष्मानलोग्र[11] (इमि) नाशत[12] नित्य नारी ॥

(२५)

सारी दवारि जलपत्रनि ते निकारी,
भारी सुवारि अधिवासित वस्त्रधारी।

१—फूले हुए कमल के समान हैं नेत्र जिनके। २—चन्दन, ३—गजमोती, ४—पाटम्बर + उत्तमनि, ५—पतरे, ६—सुवर्ण के आभरण, ७—आभूषित, ८—चन्द्रमा, ९—किरण। १०—कोठा, अटारी, ११—ग्रीष्म + अनल + उग्र, १२—नाश करती है

सौन्दर्य मूर्ति सह वल्लभ सेज साजी,
बीरांगना[१] निशिमुखागन[२] मे विराजी ॥

(२६)

तारा निशान्त कमलीन समस्त होही,
क्षीण प्रभेन्दु नभमण्डल देखि सोही।
उत्तिष्ठ सृष्टि इमि भावत सुप्रभाता,
होवै चिरायु यह काल[३] सदा विधाता ॥

(२७)

आकाशगामी घन में कहूँ कहूँ,
आकुञ्चितार्कांशु[४] परै लगी चहूँ।
इतस्ततः[५] शीतल वायु निर्मई,
ग्रीष्मान्त मेघागम सूचना भई ॥

(२८)

करि हरित जवासा न्यून (शीतांशु) भासा[६],
सहित शुचि सुवासा शीतलागार[७] वासा।
जल जलज सनाला रैनि शीतांशु जाला,
मनुज मन निहाला कीजियो ग्रीष्मकाला ॥

इति प्रथमः तरंगः।

१—वेश्या, २—निशि मुख (सन्ध्या), अंगन (आँगन)।
३—प्रातःकाल (अर्थात् इस ऋतु में सदा ही प्रातःकाल ही बना रहे)
४—सिमटी हुई सूर्य की किरणें, ५—इहाँ वहाँ ६—सूर्य ७—शीतल घर।

अथ वर्षावर्णनम्

(१)

सवारि जीमूत[1] मतंग मान,
सुरेन्द्र-चापायुध[2] बुन्द बान ।
सशस्त्र देशेश्वर[3] सो सुहायो,
विलोकियो पावसकाल आयो ॥

(२)

नीलोत्पलाभा[4] जलदा[5] अपार,
संवर्षि पृथ्वीतल घोर धार ।
राखा न ज्वाला तप लेश लागा,
शोभामयी राजत दिग्विभागा ॥

(३)

हरिततृणाच्छादित[6] भूमि सोहै,
करै कलापी[7] सुखमा नई नई ।
अनेक । ह्वै इन्द्रवधूटिका[8] गई,
महा दुखारी पथिकागना[9] भई ॥

(४)

सुपक्व जबूफल[10] गुच्छकारी,
इतै उठीं श्याम घटा करारी ।
महावियोगानलदग्ध बाला,
उतै परी मूर्छित ह्वै बिहाला ॥

१—मेघ, २—इन्द्र-धनुष आयुध है जिसका, ३—राजा, ४—नील कमल के समान आभा है जिसकी, ५—मेघ, ६—हरी हरी घास से छाई हुई है जो, ७—मोर, ८—लाल रंग का एक कीड़ा, ९—परदेशियों की स्त्रियाँ, १०—जामुन ।

(५)

मेघानि मारुद्बहि[१] आन लेवै,
न व्योम कैसे ठहरान देवै ।
जैसे नितम्बाम्बर[२] वाम केरे,
टारै युवा मैन महीप प्रेरे ॥

(६)

खद्योतरासि प्रमदा प्रमादा,
केकी पपीहा बक भेक नादा ।
सत्क्रौञ्चमाला नद नीर नारे,
पानी भरे वर्द्धित होत सारे ॥

(७)

कारे करालाकृति सर्प भीमा,
भेकाकुलानेक तडाग सीमा ।
उन्मत्त नृत्याँगन मध्य मोरा,
देखे परै दृष्टि भये सजोरा ॥

(८)

धरा धरे धावत वारिवाह[३],
बहै चले जात जल प्रवाह ।
सुअंक लावै निशि नारि नाह,
अनंग अंगांग भरे उछाह ॥

(९)

हरी हरी बाल लता हिलाई,
सुकेतकी पुष्प सुगन्ध छाई ।
पयोद वर्षा जल संग पाई,
दशौ दिशा वायु बहै सुहाई ॥

(१०)

निशा अँधेरी न दिसै कछू कहू,
बहै सवर्षा जल नालिका चहू ।
सुयौवनी पंकजलोचनी भली,
सवेग मानौ अभिसारिका चली ॥

१—पवन चल कर, २—नितम्ब के ऊपर के वस्त्र । ३—मेघ ।

(११)

छाई घटानि अवलोक अकाशकारी,
नाचै मयूर मदमत्त महा सुखारी।
झिल्ली पुकार बरणै कविश्रेष्ठ लोगा,
उच्चाटनार्थ परदेशिन सुप्रयोगा ॥

(१२)

गावै न कोकिल न शोर शिखी सुनावै,
नावै प्रभा न चपला चमकै न पावै।
कांता कहै जनि घटा घन घेरि छावै,
प्यारे प्रवास तजि जो न निकेत आवै ॥

(१३)

सीमन्तिनी वदत वारिदब्रुन्द बाना,
सौदामिनी नवल धार धरी कृपाना।
केकी कठोर रव घोर पुकारि शूला,
हे प्राणनाथ कब ह्वैहहु सानुकूला ॥

(१४)

मेघ प्रघोर रव होत हितेऽनुरागी,
शोकाम्बुपात दृग ते लखि धीर त्यागी।
पत्नी सरोजनयनी सहबास आसी,
आवै स्वगेह अब वेगि विदेशवासी ॥

(१५)

राजै निशंक पिय अंकनि लै जु बामा,
देवै सुभाग्य तिनकाहि प्रवर्धि कामा।
दाहै वियोगिनिन सोइ सुसर्वकाला,
दावानलानुपम[१] मिश्रित मेघमाला ॥

(१६)

मेघोदरस्थ तडिता प्रगटि स्वरूपा,
तेज प्रपुञ्ज दरसाय प्रभा अनूपा।
सेज प्रसुप्त निशि प्रोषितवर्गनारी,
शब्द प्रघोर सह सर्व करै सुखारी ॥

१—एक अनूठी अग्नि से मिली हुई है जो।

(१७)

आघात शब्द करि वारिद वारिधारा,
आवै धराधरनि[१] ते धरणी मझारा।
दीपैव[२] देखि सवरी सुथिरी करारैं,
केकी[३] कदम्ब चढ़ि स्वस्ति सुखी पुकारैं ॥

(१८)

धारा हरिद्गिरनद्वै विच[४] शुभ्र सोहै,
शोभा बिलोकि न हँसै अस विश्व को है।
मध्यस्तनद्वयसकञ्चुकहृद्वरेरी[५],
मानो लसै सुलर मौक्तिकमाल केरी ॥

(१९)

बल्ली शिला शिखर शेखर[६] शस्यशाला,
आरण्य दिग् द्रुमलता सहिताल बाला।
सपूर्ण युक्त हरिताखिल वस्तु बाना,
सोहै हरी अवनि सब्जपरी समाना ॥

(२०)

अम्भोधर स्खलित[७] सीकर वारि भारा,
आनम्र अम्ब कचनार कदम्ब डारा।
वातावधूत[८] तर ऊपर ह्वै सुहाई,
देवेन्द्रवृक्ष[९] जनु मौक्तिक वृष्टि लाई ॥

(२१)

जाती कदम्ब कुसुमान्वित[१०] चारु शाखा,
शाली[११] समूह कृषि खेतन मध्य राखा।
नाना नवीन तृण संवृत[१२] भूमि भागा,
आलोक काहि नहि होहि महानुरागा ॥

१—पर्वतों से, २—दीपक की आकृति का, ३—मयूर, ४—हरिद्गिरनद्वैबिच—दोहरे रंग के पर्वतों के बीच, ५—हरित रंग की कंचुकी संयुक्त दोनों स्तनों के बीच में, ६—पर्वत, ७—(अम्भोधर स्खलित) मेघों से गिरी हुई बूँदों के पानी के बोझ से नम्र (नीचे) हो गई है जो, ८—हवा ने हिलाया है जिनको, ९—कल्पवृक्ष, १०—फूली हुई है जो, ११—धान, १२—छाये हुए हैं जो।

(२२)

श्यामा मयंक-वदनी कृषलंक[१] वामा,
बिंबाधरी सहचरी[२] सँग लै ललामा।
हिंडोर राग अति प्रेम समेत गावे,
कोटीन किन्नरवधू सहसा लजावे॥

(२३)

पीनोन्नतस्तनि मनोहर रूप नारी,
जीमूत[३] दूत इव मन्मथ के निहारी।
लीलातरंगित कटाक्ष कला दिखाई,
मोहै महान मुनि मेघ सहाय पाई॥

(२४)

मेघान्धकार परिपूरित रैनि कारी,
वर्षाम्बु धार खरपात विलोकि नारी।
श्रृंगार सर्व सजि वल्लभप्राणप्यारी,
संभोगहेत रतिमंदिर मे सिधारी॥

(२५)

अत्यन्त तीक्ष्ण मकरध्वज[४] बाण मारी,
व्योमाम्बवाह सह घोर निशा निहारी।
नारी विलास हित प्रीतम पास जायी,
विद्युत् प्रकाश महँ अंग प्रभा दिखायी॥

(२६)

तोयाशयोपलसितोत्तम के बनाये[५],
फेना समेत घन वारि भरे सुहाये।
देखे अनूप जिनको छबि हर्ष छावै,
बाला सहास्यमुख की सुधि बेगि आवै॥

(२७)

पानी प्रभाव परिपूर्ण सुवेगवाही,
विस्तीर्ण तीर सरि सिंधु मिलाप चाही।

१—कृष हैं कटि जिनके, २—सहेली, ३—मेघ, ४—काम, ५—(तोयाशयोपलसितोत्तम के बनाये) सफेद उत्तम पत्थर के बनाये हुए जलाशय (जल के कुण्ड इत्यादि) हैं जो।

आलोक संभ्रमित ह्वै इमि कैकहीना,
कैधो नदी कि पिय पास चली प्रवीना ॥

(२८)

संवेत गोपजन गोगण संग जावै,
आछे कछार नियराय सुखी चरावै ।
कोपे पयोद जल जोर जबै गिरावै,
भीजै भजै सकन पादप छाह आवै ॥

(२९)

वापी तड़ाग सरि सागर बारि बोरे,
नाना विधानि तृण धानि मुखानि जोरे ।
सानन्द भेक बक मोर चकोर कीन्हे,
वर्षा न काहि मुद मोदक दान दीन्हे ॥

(३०)

सतडित नभचारी छाय आकाशकारी,
प्रिय पिय सहनारी कौन सारी सुखारी ।
रवितपननिवारी वर्षि सर्वत्र वारी,
पुनि पुनि रवकारी मेघमाला सिधारी ॥

(३१)

अगणित गुणधारी निश्चला[१] तापहारी,
दिशि विदिश बिहारी सुप्रशंसाधिकारी ।
जगजनमनभाई लाल लीला दिखाई,
जलद ऋतु सुहाई हूजियो मोददाई ॥

इति द्वितीयः तरंगः

१—पृथ्वी ।

अथ शरद्वर्णनम्

(१)

कै कै निरभ्र नभ मारग शुभ्र पाई ।
नीके निशापतिमयूखछटानि छाई ॥
आकाशदेवसरितेव गली बनाई ।
देखो मनोहर शरद्-ऋतु आज आई ॥

(२)

शुभ्राभ्रगात परिरंभित गोपनारी ।
विद्युल्लतैव अति शोभित जासु सारी ॥
राधा समेत मनमोहन मोदकारी ।
श्रृंगाररास रसनायक श्री बिहारी ॥

(३)

अच्छाच्छ अब्ज[१] उरमाल अनूप धारी ।
बिम्बा रानि वर वेणु धरे सुवारी ॥
लावण्य लोल ललनागण संग लाई ।
सस्नेह याहि ऋतु रास रच्यो कन्हाई ॥

(युग्मक)

(४)

अम्भोधर प्रबल वायु प्रसग पाई ।
गौरांग वर्ण जलभार भरी गिराई ॥
स्वस्थान त्याग अति सूक्ष्म भये प्रकाशा ।
शैलाधिराज[२] शिखरैव[३] चलै अकाशा ॥

(५)

फेनावदातवृत[४] तीर तड़ाग आई ।
शुक्लारविन्द दल द्वन्दनि में लुकाई ॥
उन्मत्त हंस विरुतोत्तम[५] जो करै ना ।
अत्यन्त सन्निकट ते परखे[६] परै ना ॥

१—कमल २—हिमालय ३—शिखर + एव ४—सफ़ेद रंग के फेना से छपा हुआ है जो (अवदात = सफेद) ५.—विरुत + (शब्द) + उत्तम ६—पहिचानना ।

(६)

जाती जया सुमन सुन्दर वास[१] गातं ।
नाना लता ललित मध्य ल` सुहाते ॥
अन्यान्य पुष्प शुचि शष्प[२] समेत जो है ।
आरामभूमि[३] सहसा मनसा[४] विमो` ॥

(७)

शीतांशु[५] रश्मि[६] रुचिरा तनतापहारी ।
बाला वियोगबिरहानल ज्वालजारी ॥
संतापि सर्व सहसा कृशदेह दाहै ।
प्राणोग्रहार अविचारि प्रचारि चाहै ॥

(८)

पीनस्तनोरु रुचिरानन दिव्य नारी ।
शोभा समूह शुचि अम्बर अंगधारी ॥
सम्भोगग्लानिनिधनार्थ[७] श्रमान्तकारी[८] ।
ज्योत्स्ना[९] सअंबुकण[१०] सेवन को सिधारी ॥

(९)

शुक्लाम्बुवाह[११] कमनीय अकाश छाये ।
सांभोज शुभ्र सर सुन्दरता समायें ॥
सम्पन्न शालिकुल देश दिशा विभागा ।
को है करै न जग जासु मनोज[१२] जागा ॥

(१०)

वेणी विदारि मृदु मालन मोरि खोई ।
पाटीर[१३] खौर दृग कज्जलरेख धोई ॥
बाला विलोकि जल क्रीड़त क्रुद्ध भारी ।
मानौ भयाकुलित कंपत उर्मि[१४] सारी ॥

१—सुगन्ध, २—नवीन घास, ३—उपवन, ४—मन, ५—चन्द्रमा, ६—किरण, ७—नाश करने के हेतु से, ८—ज्योत्स्ना का विशेषण, ९—चन्द्रिका, १०— ीने के कण (ओस) सहित, ११—शुक्ल (सफ़ेद) अम्बुवाह (मेघ), १२—मैन, १३—चन्दन, १४—तरंग ।

(११)

राजीव[१] जाल जँह कंपत मीन मारे।
पानी पराग युत वर्ण सुवर्ण धारे॥
कादम्ब[२] कोक रव राग भरी सुनाई।
नारी मनुष्य सरि वश्य करै बजाई॥

(१२)

शुभ्राम्बु धार जँह शैल शिलानि लागी।
विंध्याद्रि[३] आदि शिखरोन्नत भाग त्यागी॥
वर्षा पयोद रव एव करै सजोरा।
साश्चर्य मोर तँह देखहि व्योम ओरा॥

(१३)

गगन तारन[४] तारन[५] संयुत।
जलज[६] जीवन[७] जीवन[८] ते च्युत*॥ ✓
लखि सुधाकर[९] धाक रही बहि।
प्रमुद[१०] मानस[११] मा न समावहि॥

(१४)

सुबिच कैरव[१२] कै रव[१३] राजही।
रुत[१४] सना रसना[१५] रस लाजही॥ ✓
सुनत सारस सारस[१६] गानही।
बधिक बान नवान[१७] न तानही॥

(१५)

विशद दामिन सुन्दरता रता।
असित[१८] वारिद वारि गता गता॥
अति मनोज्ञ[१९] तऊ कहि ना हिना[२०]।
लखि कही नभ कान्ति बिना बिना॥

१—कमल, २—हंस, ३—विन्ध्या + अद्रि = (पर्वत), ४—तारागण, ५—समूह, ६—कमल, ७—पानी, ८—मेघ,* रहित, ९—चन्द्रमा, १०—प्रसन्नता, ११—चित्त, १२—कमल, १३—शब्द करके, १४—शब्द, १५—कटिकिंकणी, १६—स (सहित) आरस (आलस्य), १७—नव (नया), आन (लाकर) १८—श्याम, १९—सुन्दर, २०—यहाँ,

(१६)

स्फुट सरोज सरोज[१] निशा गते ।
शुचि पराग परा गलि पेखते ।।
चलित मारुत मारु मनौ करे ।
स्वगुन साधुनि[२] साधु[३] निरादरै ।।

(१७)

शुचि दिवाकरता[४] कर[५] तालकी ।
प्रसरि जात प्रभात प्रमालही ।।
जनु शरच्छवि श्री सुखमा सनी ।
अरुण बादर[६] सी दरसी तनी ।।

(१८)

स सौम्य कंकेलि प्रसूनशालिनी ।
मन्दापगा[७] शालि समूह मालिनी ।।
मृगाक[८] भा[९] भूमि लता नई नई ।
घनागमश्री विजयी शरद् भई ।।

(१९)

न क्रौंच सानन्द कहूँ उड़ाहीं ।
सशक्रधन्वा[१०] घन घोर नाहीं ।।
तथापि शोभामय भा अकाशा ।
बिना निजार्थै जिमि अर्जनाशा[११] ।।

(२०)

ससस्य[१२] शालीकुल पीत रंगा ।
शुकावली आकुलिताङ्ग अंगा ।।
विनम्र संतुष्ट तऊ सुखारी ।
असाधु साधून न क्लेशकारी ।।

१—सर+ओज, २—अच्छे, ३—सज्जन, ४—सूर्य, ५—किरण, ६—वस्त्र, ७—मन्द+आपगा (नदी), ८—चन्द्रमा, ९—चन्द्रिका, १०—इन्द्रधनुषसहित, ११—अर्जन (सञ्चय)+आशा, १२—धान्यसहित ।

(२१)

द्रुम प्रकाण्डानि[1] बनानि बारी[2]।
लता विराजै परिरंभि[3] सारी ॥
बिलोलनैना स्मर[4] की सताई।
रही मनौ प्रीतम अंक लाई ॥

(२२)

नीलारविन्दामित[5] युक्त ताला।
नई नई मध्य मराल माला ॥
प्रसून संयोजित काश डारै।
नारीन की धीर ध्वजा उखारै ॥

(२३)

मन्द वाही[6] सरिता कृशोदरी[7]।
अत्यन्त शुद्धोदक स्वच्छ ते भरी ॥
प्राप्तार्थ तोयार्णव[8] प्रान्त प्रस्थली।
सानन्द कान्ता समदा मनौ चली ॥

(२४)

सुपुष्प संश्लिष्य[9] सुगन्ध सानी।
नदी तुषारोर्मिन[10] मे समानी ॥
पराग फुल्लोत्पल ते गिराई।
बहै श्वसन्[11] मानस मोददाई ॥

(२५)

दुकूल अम्भोज नव प्रवाला।
मरालमाला रसना[12] विशाला ॥
नितम्बवत् कूल घने बनाई।
तरंगिणी[13] रंजन प्राण आई ॥

१—वृक्ष का घर, २—नई, ३—आलिंगन करके, ४—काम, ५—नील + अरविन्द + अमित, ६—मन्द मन्द बहती है जो, ७—कृश है उदर (पेट) जिसका, ८—समुद्र, ९—अच्छे अच्छे फूलों ने आलिंगन दिया है जिनको, १०—तुषार (शीतल) + उर्मिन (तरंगन), ११—श्वसन (पवन), १२—मेखला, १३—नदी।

(२६)

अपंक[१] उर्वी[२] मनमोहनी महा।
जल प्रवाहोज्ज्वल जो जहाँ बहा॥
सुवस्त्रधारी प्रमदा गली गली।
इतस्ततः शुक्ल पयोधरावली[३]॥

(२७)

शनैः शनैः[४] शुभ्र नदी प्रवाहा।
सरोज संयुक्त सरावगाहा[५]॥
समीर संचालित पद्मजाला।
महा प्रसन्नानन मीनमाला॥

(२८)

मनोज्ञशाली सह दिग्विभागा।
जहाँ तहाँ सारस हंस रागा॥
सपुष्प बन्धूक लता विताना।
सुकैरवेन्दीवर अंग नाना॥

(२९)

निशीथिनी[६] श्रीनिशिनाथ[७] कौमुदी[८]।
अकाशगंगाग प्रभा जुदी जुदी॥
शेफालिका मंजुल मालती कली।
लखै न काकी पुलकावली चली!

(३०)

अयि शरद्! सुहंसा चारु चन्द्रावतंसा।
धवल कमल वंशा तेरियै दीप्त अंशा॥
कुमुदनि विकसाई वर्ष सीमा बताई।
जग रुचिर बनाई भगवती होहु आई॥

इति तृतीयः तरंगः

१—कीच नहीं है जिसमें, २—पृथ्वी, ३—मेघमाला, ४—मन्द मन्द, ५—सर (तालाब) + अवगाह (स्नान), ६—रात्रि, ७—चन्द्रमा, ८—चन्द्रिका।

अथ हेमन्तवर्णनम्

(१)

विहीन पत्राम्बुज खीन दीना।
गोधूम[१] धान्यांकुर में नवीना॥
चन्द्राननी नारि रसप्रवीना।
हेमन्त बे कन्त रहैं मलीना॥

(२)

हेमन्त आवतहिं अम्बर सूक्ष्म त्यागी।
ऊनांशुकानि[२] परिधानि[३] प्रभात जागी॥
स्नेही समेत शिशु द्वारन शीत पागे।
आदित्य[४] अंशु[५] सुखकारक लेन लागे॥

(३)

निशा भये पुष्टउरोज नारी।
सुगाढ़ि कूर्पासिक[६] अंग धारी॥
जबै पिया पास सुपास पावै।
हिमर्तुसन्ताप सबै नसावै॥

(४)

सुमध्य गोधूमन के विनीत।
विराजते सर्षप पुष्प पीत॥
किसान तोषी निज धारि रूप।
मनौ कृषी श्री लसनी अनूप॥

(५)

विभावरी[७] शीत हिमाम्बु पात।
महान सौन्दर्य सनो प्रभात॥
विलोकियो पातन माहिं कैसे।
मनोज्ञ मुक्ता अनमोल जैसे॥

१—गेह, २—ऊन + अंशुकानि = ऊन के बने हुए कपड़े, ३—धारण करके, ४—सूर्य्य, ५—किरणें, ६—कंचुकी, चोली, ७—राति।

(६)

जितै विलोको उतही सुहाई ।
जुवारि[१] पाई परिपक्वताई ।
मही हरेरी यव[२] जाल छाई ।
भई नई सर्षप[३] रासि राई ॥

(७)

न शुक्ल अम्भोधर व्योम छावैं ।
न मालतीमाल तियान भावैं ॥
न इन्दुज्योत्स्ना उपयोगकारी ।
न निम्नगा[४] मज्जहिं भूलि नारी ॥

(८)

शीलोच्चयोच्चत्तर[५] और जेते ।
प्रालेय[६] ते पूरित सर्व तेते ॥
निशान्त[७] बालार्क[८] प्रकाश माहीं ।
रूप्येव[९] रूपान्तर में लखाहीं ॥

(९)

हिमर्तु[१०] आये स्मर[११] दीप्तकारी ।
जु दैव इच्छा भ्रम ते बिसारी ।
बिलासिनी शुभ्र बिलास खोवैं ।
प्रसूनधन्वा[१२] असहाय होवैं ॥

(१०)

दृगस्फुरिच्चञ्चल चारु कारे ।
लखै लजै मीन मृगा विचारे ॥
दीनान्त रत्युत्सव[१३] हेत वाला ।
करै शलाकाञ्जन[१४] ते विशाला ।

१—ज्वार धान्यविशेष, २—जव धान्यविशेष, ३—सरसौं । ४—नदी, ५—शीलोच्चय (पर्वत) + उच्च (ऊँचे) + उतर, ६—हिम. बर्फ़, ७—प्रातःकाल, ८—बाल-सूर्य, ९—रूप + इव, १०—हिम + ऋतु = हेमन्त, ११—काम, १२—काम, १३—रति + उत्सव, १४—शलाका (सराई) + अंजन ।

(११)

विहाय सारी रिस काम जारी ।
विशालनैनी नतगात[1] नारी ॥
सकंप शय्यायन को सिधाई ।
मिलै स्वप्राणेश्वर कण्ठ लाई ॥

(१२)

केशप्रभा पटल नील पयोद जाल ।
आलोल बाल तरल दृग युग बिशाल ॥
पीयूष एव वच विद्रुम[2] कण्ठ माल ।
मोहै सरासर समस्त हिमन्त काल ॥

(१३)

प्राणेश हस्त हृदयस्थल माहि लागी ।
मुक्ता गिरै खसि मनोहर माल त्यागी ॥
विस्त्रस्त[3] हार अवलोक सलज्ज बाला ।
जावै सखी जननि मध्य न प्रातकाला ॥

(१४)

भ्रूभंग हीन रदनच्छद[4] भिन्न नारी ।
वेणी विशाल तिल गाल गले निहारी ॥
सालस्य प्रात रतिसूचक चिह्न लीन्हे ।
आवै गृहांगन मुखाम्बर ओट कीन्हे ॥

(१५)

हेमन्त बात[5] परिखेदित गात रामा[6] ।
शृंगार धारि निशि आवत ही सकामा ॥
सोत्साह[7] नाह[8] कर[9] को करि पाश[10] नाई[11] ।
राजै मनोज मद मोचि प्रभात ताई[12] ॥

१—नम्र है गात जिसका, २—मोती, ३—टूटे हुए, ४—ओष्ठ, ५—पवन, ६—स्त्री, ७—स + उत्साह, ८—पति, ९—हाथ, १०—बन्धन, ११—सदृश, १२—तक ।

(१६)

कृषिजन मनभानी सर्व सत्शस्य दानी ।
हिमऋतु हिमखानी आय नीके सयानी ॥
सुख दिवस दिखावौ कंत कान्ता मिलावौ ।
सब जग अपनावौ सार सत्कार पावौ ॥

इति चतुर्थः तरंगः

अथ शिशिरवर्णनम्

(१)

मारुत्तुषार कण मिश्रित लागि वात ।
कंपायमान नर-नारि करैं प्रभात ॥
संतोषकारि सबकी रवि रश्मि लाल ।
सेवैं निशांत जन शीतल शीत काल ॥

(२)

निशा निशाआनन[1] प्रातकाला ।
मनुष्य सोत्साह[2] जराय ज्वाला ॥
तपाय सारी तन बार बारा ।
शनैः शनैः शीत व्यथा विदारा ॥

(३)

धरे हसंती[3] जन पास पासा ।
गरू गरू वस्त्र भरे कपासा ॥
सजाय पर्यंकनि शंक त्यागे ।
स अंगना[4] सोवत प्रेम पागे ॥

(४)

बिहाय बालाऽऽनन[5] मन्द हास ।
अभाग्यशाली जन जे निरास ॥
बनैं विदेशी दिशि दूर जाई ।
मनुष्य देही तिन व्यर्थ पाई ॥

१—सायंकाल, २—स + उत्साह, ३—अँगेठी, ४—स्त्री
५—बाला + आनन ।

(५)

श्वसन्मनुष्यैव प्रभात काला।
विलोकि बारी रह गासि बाला ।।
कपोल कुम्भ स्तन वस्त्र टारे।
न लोक लज्जा तनिकौ विचारे ।।

(६)

असीम[१] दुःखाखिल[२] वृद्ध पावै।
सदा दिनेशोदय[३] ही मनावै ।।
भुजंग शीताकुल वीर्य हीना।
बसै स्वगेहानि निशानि दीना ।।

(७)

समस्त सांसारिक[४] काज रोकी।
मनुष्य संध्या समयावलोकी ।।
महान शीतानित सर्व जामा।
तुरन्त आवै सिगरे स्वधामा[५] ।।

(८)

न इन्दु तारागण मध्य सोहै।
न पंथ पन्थी कहुँ भूलि जोहै ।।
न पद्म पद्माकर[६] में विराजा।
अपूर्व आयी ऋतु साजि साजा ।।

(९)

कस्तूरिका कुंकुम चर्चि अंगा।
धारे सुउष्णांशुक[७] रक्त[८] रंगा।
देवै भुजालम्ब[९] पतो न नारी।
प्रेमाकुलानन्दित प्राणप्यारी ।।

१—नहीं है सीमा जिसकी, २—दुःख + अखिल (सर्व)। ३—दिनेश + उदय, ४—संसार से सम्बन्ध रखनेवाले, ५—अपने घर, ६—ताल, ७—उष्ण = अंशुक (वस्त्र), ८—लाल, ९—आलिंगन।

(१०)

संभोग श्रांत[१] प्रमदा[२] प्रभाता।
सच्छिन्न बिम्बाधर खिन्नगाता॥
निशा जगी सालस[३] खेद खाई।
लसै स्वगेहांगन मध्य आई॥

(११)

बिम्बाधरी चम्पक चारु देही।
लीलावती मन्मथ की सनेही॥
नितम्बिनी चन्द्रमुखी सुकेशी।
सन्दर्शनीयोत्तम नाभिदेशी॥

(१२)

पीनस्तनी कोकिलकण्ठ बाला।
सम्भोगशीला तरुणी विशाला॥
सौन्दर्य सौभाग्यवती सुशीला।
सीमन्तिनी सस्मित लोल लीला॥

(१३)

विलोलनैनी कमनीय वामा।
सुमध्यभागी ललना ललामा॥
प्रमादपूरी भृश[४] भासमाना।
प्रदीप्त कन्दर्प कला समाना॥

(१४)

सुवासकाला गुरु वासिताम्बरी।
कृषोदरी प्रेमभरी उजागरी।
विनोदिनी दाड़िमदन्त भामिनी।
सुमानिनी हास्य सुधारसाननी॥

(१५)

शुभाननी मत्तमतंगगामिनी।
तड़िल्लता सुन्दरगात कामिनी॥
शीतर्तु आये जन जे भुजा भरै।
स्वजीव की ते सुकृतार्थता करै॥

१—श्रमित, २—स्त्री, ३—स + आलस, ४—अत्यन्त।

(१६)

होवै दयार्द्र तिय तौ अनुकूलभोगा।
कोदंड[1] ऋुद्ध भृकुटी यदि जो प्रयोगा ॥
खोवै समूल सहसा सब विश्वजाला।
नाराच[2] नैन बरषा करि शीतकाला ॥

(१७)

दानार्थ प्राण मृतकामृत[3] धौल[4] धार।
मोहार्थ शम्भु कृत मोहन मन्त्र सार ॥
मत्तार्थ शीत ऋतु मंजु सुरोपचार[5]।
बाला कटाक्ष परमौषधि सुप्रकार ॥

(१८)

विरहिन दुखकारी पद्मिनी[6] पुष्प हारी।
सकल स्वगुणधारी सत्य श्रीमन्त[7] प्यारी ॥
अधनिन न सतावौ रैनि नीकै बितावौ ॥
शिशिर ऋतु सुहावौ शीत अल्पाल्प नावौ।

इति पञ्चमः तरंगः

अथ वसन्तवर्णनम्

(१)

पलाश कोदण्ड[8] अखंड पाई।
रचौ प्रत्यंचा[9] अलि माल लाई ॥
प्रसन्न पुष्पायुध हस्त धारी।
वसन्त भूपागम हर्षकारी ॥

१—धनुष, २—वाण, ३—मृतक+अमृत, ४—शुद्ध, ५—सुरा (मदिरा)+उपचार, ६—कमलिनी, ७—धनवान्, ८—धनुष, ९—धनुष को बाँधने के लिए चर्म अथवा किसी और प्रकार की रस्सी,।

(२)

न्दीवरानार निवार न्यारे।
चम्पा चमेली कचनार सारे।
सर्वत्र मे चित्र विचित्र साजा।
दीन्ह्यौ जबै दर्शं बसन्त राजा ॥

(३)

आयो वसन्त सुखकारक सर्व भायो।
फूले प्रसून चहुँ ओर सुगन्ध छायो ॥
झोरै मदान्ध अलियूथ सुवास माते।
उत्फुल्ल कंज सर मध्य न है समाते ॥

(४)

उन्मत्त भृंगरव दुन्दुभि दीह बाजै।
सेना प्रसून चहुँ ओर अनूप राजै ॥
कुञ्ज प्रवेशि चहुँ मारुत[१] दूत भाजै।
सौभाग्यवन्त सुवसन्त सजी समाजै ॥

(५)

शाखा पलाश शुचि श्याममयी बनाई।
सौन्दर्य सार करि पुष्पनि की ललाई ॥
सप्रेम जानि ऋतुनायक की अवाई।
दीपावली[२] मुदित मैन मनौ कराई ॥

(६)

सोत्कंठितांग[३] प्रमदा सिगरी सकामा।
भायौ करैं जलबिहार विलोल वामा ॥
गम्भीर हीर वर कुङ्कुम रङ्ग गोरी।
मोहै दुकूल[४] अनुकूल सबै सजोरी ॥

(७)

माला मनोहर सुगन्धित पुष्प के हैं।
राजै सुमध्य कुच मंडल में सजै हैं ॥
सानन्द धारि ऋतुराज अनेक साजा।
हाहा दुखी तिय करै विरही समाजा ॥

१—पवन, २—दिवाली, ३—स + उत्कंठित + अंग, ४—सारी।

(८)

कुसुम्भ रंगी कुच कुम्भ कंचुकी।
निहारि निर्मीलित हाल ह्वै चुकी॥
नई नई आन समान सान की।
सहर्ष धारै पिय प्रेम प्रान की॥

(९)

अपूर्व शोभा अहिफेन[1] फूल।
नितान्त[2] शुक्लारुण[3] सानुकूल॥
हरै प्रवासी प्रमदान हीय।
नवीन गेंदा दल दर्शनीय॥

(१०)

प्रफुल्ल अम्भोज जलानि निर्मला।
रसालशाखास्थ कलोल कोकिला॥
सुपुष्प संकीर्ण नवीन निर्गता।
भइ महा सुन्दर माधवी लता॥

(११)

श्यामा लता पुष्प पलाश जाला।
अनन्त अम्रांकुर[4] गुच्छ माला॥
आरक्त पीतांशुक[5] युक्त वामा।
न काहि आकर्ष करै सकामा॥

(१२)

जहाँ जहाँ फूल समूल लाले।
लगै परे पाश पलाश पाले॥
मनो वियोगी विधि हीय आखे[6]।
वसन्त व्याधा लटकाय राखे॥

१—अफ़ीम पोस्ता, २—अत्यन्त, ३—शुक्ल+अरुण (सफ़ेद और लाल), ४—आम की मंजरी, ५—पीले वस्त्र, ६—पूर्ण।

(१३)

मत्तातुरानन्दित[1] चंचरीक[2] ।
पी पी परागाम्बुज मंजु नीक ॥
सूर्यास्त भे पंकजबद्ध कैसे ।
उन्मत्त कामातुर जार जैसे ॥

(१४)

मलिन्द माला मकरन्द प्यासी ।
सुगुंजरै प्रात निशा उपासी ॥
प्रवाल आलंकृति पुष्पिता में ।
लची लजी सी ललिता लता में ॥

(१५)

जूही रु जाही गुलनार नाना ।
सुवल्लरी व्याम बनी विताना ॥
गुलाब दूर्वादिल मध्य भ्राजै ।
सुवाटिका स्वच्छ बनी विराजै ॥

(१६)

वरोरु[3] बाला रति रूप अंशा ।
अमूल्य माला श्रवणावतंसा ॥
सुरेख वस्त्राभरणानि शोभा ।
कहौ वसन्तर्तु न काहि क्षोभा ॥

(१७)

फूले अशोक अवलोकत शोक होवै ।
हाहा सखी कुटिल कोकिल धीर खोवै ॥
दावा दहै मनहु किंशुक साख मारी ।
भाखै वियोग व्यथिता बनिता दुखारी ॥

(१८)

आम्र प्रसून श्रवणस्थ पराग पूरे ।
बाला कपोल कमनीय बनाय धूरे ॥
लोभी मलिन्द[4] मुख छावत दुःखदाई ।
जैसे ग्रसै शशिहि सन्निध[5] राहु जाई ॥

---

१ मत्त + आतुर = आनन्दित, २—भ्रमर, ३—वर + उरु (अच्छी है (उरु) जंघा जिनकी) ४—भ्रमर, ५—निकट ।

(१९)

मत्तालि यूथ मलयाचल मन्द वाता।
पुष्प प्रयुक्त तरु कामिनि गौर गाता ॥
मोहैं न जाहि मधु मास विकाश पाये।
सोतोपश्वीश[1] अथवाद्रि[2] बने बनाये ॥

(२०)

ताम्रप्रवालवृत कुंज लतानि माही।
कूजै द्विरेफ[3] पिक प्रेम भरे जहाँ ही ॥
योगीश्वरानि मन मानस जो भुलावै।
ऐसे स्थलानि कुलकानि न को बहावै ॥

(२१)

पद्म स्फुट प्रचुर सालि[4] सुचालि माला।
वायु प्रवाह मृदु आम्र प्रसून जाला ॥
साह्लाद कोकिल कलाप अलाप ताला।
लेवै विमोहि नर नारि प्रभात काला ॥

(२२)

पलाश पुष्पान्वित युक्त बागा।
ज्वाला लगे से दरसै विभागा ॥
विलोकतै अनि अनूप एहा।
न को वियोगी जरि होहि खेहा[5] ॥

(२३)

सुगन्धवच्छीत[6] अवेगवाता।
महा मनोहारक सुप्रभाता ॥
पराग संवासित मन्द मन्द।
चलै मदोन्मत्त मनौ गयन्द ॥

१—पशु + ईश, २—अथवा + अद्रि (पत्थर), ३—भ्रमर पिक और द्विरेक (भ्रमर) जहाँ कूज रहे है, ४—स + अलि (भ्रमर सहित), ५—भस्म, ६—सुगन्ध समेत शीतल और मन्द पवन, अवेग = वेग नहीं है जिसमें।

(२४)

नव प्रवालारुण वस्त्र धारि कैं।
सुपुष्प आभूषणहू सँभारि कै॥
वसन्त आये सहहर्ष सोहई।
वनस्थली आगतभर्तृका[१] भई॥

(२५)

सरारविंदाम्र[२] प्रसून लागी।
जपा[३] नभस्वान परांग पागी॥
समीर चित्त स्थिर को विदारे।
न काहि कन्दर्प कृशानु जारे॥

(२६)

नीले सरोज सहकार निवार फूला।
पीले दिवाकरमुखी[४] सुमुखी दुकूला॥
हीले हरे हिय जगज्जन[५] के विचारै।
जी ले वसन्त जनि अन्त कबौ सिधारै॥

(२७)

सित अरुण अनारा पुष्प संयुक्त डारा।
दिशि दिशि कचनारा देत शोभा अपारा॥
विपिन अवनि नारी चित्र वैचित्र सारी।
कुछ सजल निहारी लाग माना पसारी॥

(२८)

मधुकर मधु लेता फुल्ल फूलानि खेता।
करत निज निकेता सर्व संलग्न चेता॥
रव विनय बनाये पै वसन्तान्त आये।
मनहु मन दुखाये पन्थरोधार्थ[६] धाये॥

१—आगतपतिका, २—सर (तड़ाग), अरविन्द और आम की मञ्जरी को स्पर्श किया है जिसने, ३—गुड़हल—, ४—सूर्यमुखी फूल, ५—जगत्+जन, ६—पन्थ रोकने के हेतु से।

(२९)

मनोज राजा मधु[१] मान मानी।
हारावली युत प्रमदा सयानी।।
वीणैवकण्ठी[२] कर[३] दान देई।
राजस्व दोऊ कर जोरि लेई।।

(३०)

प्रवालरंगारुणता[४] नसाई।
सारीनिरीतानन[५] श्री[६] सिराई।।
दई वसन्तावनि[७] त्यागि कैसे।
द्विमास भोगी नव नारि जैसे।।

(३१)

वेगि प्रयानापन[८] जानि आछे।
दीन्हीं सु जो जो वन भूमि पाछे।।
कृताति[९] सो सो मधु श्री विहीना।
तन्वंगि[१०] वे प्रीतम ज्यों मलीना।।

(३२)

सुकुसुम द्रुम जाला कुन्द माला विशाला।
पिक मधुप रसाला मोहनी मूर्तिवाला।।
ऋतुपति सहकारी और जेते विहारी।
रसिकन मनहारी ह्व जियो सौख्यकारी[११]।।

इति षष्ठः तरंगः
सम्पूर्णम्।

१—वसन्त, २—वीणा के सदृश है कण्ठ जिनका (स्त्रियों का), ३—वर्षा बढ़ी, वह द्रव्य जो नियत समय पर प्रतिवर्ष राजा को दी जाती है, ४—प्रवाल (=नवीन कोमल पत्ते + रंग) अरुणता (ललाई), ५—निरीत (भ्रमर) + आनन, ६—शोभा, ७—वसन्त + अवनि (भूमि), ८—प्रयान (गमन) + आपन (निज), ९—कृत + अति, १०—तनु + अंगि (कृष है अंग जिसका), ११—सुखदायक।

ऋतुतरङ्गिणी के उपयुक्त वृत्तों का विवरण

गण			छन्द	
नाम	चिह्न	रूप	नाम	लक्षण
मगण	म	SSS	वसन्ततिलका	त भ ज ज ग ग
यगण	य	ISS	मालिनी	न न म य त
तगण	त	SSI	द्रुतविलंबित	न भ भ र
रगण	र	SIS	इन्द्रवज्रा	त त ज ग ग
जगण	ज	ISI	उपेंद्रवज्रा	ज त ज ग ग

गण आठ ही हैं परन्तु लघु और गुरु का भी उपयोग होने से वे भी लिख दिये गये हैं।

इसमें दो प्रकार के उपजादि नामक छन्द हैं। उनमे से एक तो इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के और दूसरा वंशस्थ और इन्द्रवशस्थ के मेल से होता है। अर्थात् चार चरणों में कोई चरण एक के और कोई दूसरे के होते हैं।

श्रीगंगालहरी

प्रस्तावना

१—इसका पता ठीक ठीक नही चलता कि इस काव्य के कर्ता पंडित जगन्नाथराय कहाँ के निवासी थे। किसी का तो कथन है कि ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और महाराष्ट्र ही देश से दिल्ली में आये थे, और कोई-कोई यह कहते हैं कि इनका घर तैलंग देश में था क्योंकि इनके काव्य में उस प्रान्त के नगरों के नाम पाये जाते हैं। इनका जीवन-चरित देखने में नही आया इससे इनकी जन्मभूमि इत्यादि का विवरण करना कठिन हो गया है।

२—शाहजहाँ बादशाह की सभा में इस महान् पंडित ने बड़ा मान पाया था; यहाँ तक कि जितने पंडित और कवि वहाँ थे उन सबमें ये श्रेष्ठ गिने जाते थे और इनको "पंडितवर" और "कविराज" की पदवी मिली थी। लोगों का कथन है कि इनकी चातुर्य्यता और म ुरसभरे काव्य से प्रसन्न होकर बादशाह ने कविराज के इच्छानुकूल राजकुल की एक परम रमणीय कन्या का इनसे पाणिग्रहण कराया था। इस प्रकार धर्मच्युत होने से इन्हें वृद्धावस्था में बड़ा पश्चात्ताप हुआ और जब किसी ब्राह्मण ने इन्हें अपनी पंक्ति में लेना अंगीकार न किया और किसी प्रकार इनके अपकृत्य का प्रायश्चित्त न हो सका तब निराश होकर भागीरथी के तट पर जाय इन्होंने गंगास्तवन करना आरम्भ किया। वाराणसी में जो ५२ सीढ़ी का घाट आज तक विद्यमान है उसी पर जगन्नाथराय जी के मुख से यह लहरी उद्गत हुई थी ऐसा लोगों का कथन है। सुनते हैं कि इस गंगाहलरी के प्रतिश्लोक पर गंगा जी एक सीढ़ी बढ़ती आईं और अन्त में ग्रहण करके इन्हें मुक्त किया। इस आख्यायिका की सत्यता का विचार मैं पाठकों के स्वाधीन करता हूँ।

३— स गंगास्तवन का नाम जगन्नाथराय जी ने अपने दूसरे ग्रन्थों में पीयूषलहरी लिखा है परन्तु अब सर्वसाधारण इसे "गंगालहरी" के नाम से उल्लेख करते हैं, इस हेतु मैंने इसी नाम का प्रयोग किया है। पंडित जगन्नाथराय काव्य के सर्वांगों में परम निपुण थे यह इनके किये हुए "रसगंगाधर", "अश्वघाटी", "भामिनीविलास" इत्यादिक ग्रन्थों के अवलोकन करने से विदित होता है। शिखरिणी और अश्वघाटी छन्द इन्होंने ऐसे अनुप्रासयुक्त कहे हैं कि जहाँ तक मैंने देखा है ऐसे दूसरे और संस्कृतकवि के नहीं पाये जाते। इनका अश्वघाटी काव्य तो अनुप्रासालंकार में अद्वितीय ही है।

४—अर्थगौरव के कारण महिम्नस्तुति तो सब स्तुतियों में श्रेष्ठ गिनी ही जाती है परन्तु गगालहरी भी एक परमोत्तम स्तुति है और महिम्न के समान नहीं तो कुछ ही कम कहना चाहिए—'इसमें कहीं कहीं अत्यन्त ही करुणारसपूरित स्तवन कवि ने किया है। इसके मनोहर छन्द विद्वानों के मुँह से बराबर निकला करते हैं। वास्तव में हैं भी ऐसे कि पढ़ने से मनुष्य के हृदय में अंक-सा हो जाता है और आँखें साश्रु हो जाती हैं। इसमें आदि के ४८ शिखरिणी और अन्तिम आठ क्रम से पृथ्वी, शार्दूल विक्रीड़ित, स्रग्धरा और उपजाति छन्द हैं।

५—भाषा के कवियों ने अपने अपने गंगास्तवन में विशेषतः सवैये और दंडक ही का प्रयोग किया है। शिखरिणी का अर्थ छोटे छन्द में आ भी नहीं सकता इसी लिए मैंने भी ५० श्लोकों तक का भाषान्तर सवैये में कर अन्तिम २ का क्रम से दंडक और वसन्ततिलका में किया है। भावार्थ भी प्रत्येक का भाषा छन्द के साथ लिख दिया है जिससे कवि का अभिप्राय जानने में कठिनाई न पड़े। आशा है कि भाषारसिक त्रुटियों पर ध्यान न देकर पुस्तकावलोकन से मुझे कृत-कृत्य करेंगे।

झाँसी,
१ जुलाई, १८९१ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीगंगालहरी

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तन्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
सुधा सौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥१॥

जो भुव के ऋधिसिद्धि सुभाग को सत्य सदैव बढ़ावन हारो ।
भ्रू जिनकी फिरतै सब विश्व बनै तिन शंकर को धनसारो ॥
वेदन की सर्वस्व निरन्तर देवन पुण्य पताक विचारो ।
सो जल गंग तिहारो सुधा सम नाशहि पातक सर्व हमारो ॥

हे गंगे ! जो, सर्वत्र पृथ्वी का अखंड सौभाग्य; जो, निज लीला से विश्वोत्पत्ति करनेवाले शंकर का महत् ऐश्वर्य; जो श्रुतियों अर्थात् वेदों का सर्वस्व और जो देवताओं का पुण्यस्वरूप; ऐसा यह तेरा अमृत के तुल्य शुभ्र सलिल (जल) हमारे पापों को शमन करे ।

दरिद्राणां दैन्यं दुरितमथ दुर्वासनहृदाम्
द्रुतं दूरीकुर्वन्सकृदपि गतो दृष्टिसरणिम् ।
अपिद्रागाविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुरिह
प्रवाहस्ते वारां श्रियमयमपारां दिशतु नः ॥२॥

जो इक बार अचानकहू कहुँ आवत जात में दीठहि भेवै ।
पापिन पाप दरिद्रिन केरि दरिद्रता बेगि सबै हरि लेवै ॥
मोहमयी द्रुम तोरन को गुरु मंत्र समान है जो नर सेवै ।
सो तव धारा प्रवाह हे गंग ! अपार हमें सुख सम्पति देवै ॥

जो, एक बार भी दृष्टिगोचर होने से दरिद्रियों की दरिद्रता और पापियों के पाप तत्काल नाश करता है और जो, अविद्यारूपी वृक्ष के शीघ्र ही उखाड़ने को गुरु के सदृश उपदेश देता है सो यह ऐसा तेरा जल प्रवाह हमें अतुलित ऐश्वर्य देवे ।

उदंचन्मार्तंडस्फुटकपटहेरम्बजननी
कटाक्षव्याक्षेपक्षणजनितसंक्षोभनिवहाः।
भवन्तु त्वंगंतो हरशिरसि गंगातनुभुवः
तरंगाः प्रोत्तुंगा दुरितभयभंगाय भवताम् ॥३॥

जो गिरिजाकृत कोपकटाक्ष प्रभात के बाल पतंग समाना।
देखत ही अति क्षोभ बढ़ावत मत्सर ठानि बड़ेक प्रमाना॥
नाचति ईश के शीश में जो तिहि के भय मानि मनौ हतज्ञाना।
सो तव तुंग तरंग हे गंग! सुभंग करैं मम पातक नाना॥

तुम्हें शंकर के मस्तक पै विराजमान देख मत्सरभाव से पार्वती (हेरम्बजननी) को प्रातःकाल के नूतनोदित सूर्यसमान लाल नेत्र किये हुए अवलोकन करने से ही मानो भयभीत हो जो महेश्वर के शिरोभाग में कंपायमान होनेवाले तेरे विशाल तरंग; सो, हे गंग! हमारे सांसारिक भयों को भंग करें।

तवालंबादंब स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञासरणिमथ नीताः सुरगणाः।
इदानीमौदास्यं भजसि यदि भागीरथि तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः॥४॥

मन ठानि भरोस तिहारो ही मातु बड़ो करि गर्व हियो न सकाई।
सहसा इक बारहि हेलना मारग में सब देवन दीन दिखाई॥
यहि औसर जो भला भागीरथी करि चित्त उदास रहै अनखाई।
कहु तौ तुही हाहा निराश्रय मैं जग में किहि सन्मुख रो कहुँ जाई॥

हे माता! केवल तेरा ही अवलम्बन करके मैंने बिना ही विचार बड़े अहंकार से सर्व देवताओं की अवज्ञा (अवहेलना) की; इससे, हे भागीरथी! अब जो इस समय तू उदासीनता को धारण करेगी तो तू ही कह कि मैं हा हा खाते हुए इस लोक में और किसके सम्मुख जाकर रुदन करूँ।

स्मृतिं याता पुंसामकृतसुकृतानामपि च या
हरत्यंतस्तंद्रां तिमिरमिवचन्द्रांशुसरणिः।
इयं सा ते मूर्तिः सकलसुरसंसेव्यसलिला
ममांन्तःसन्तापं त्रिविधमपि पापं च हरताम्॥५॥

सपने जिन पुण्य क्रिया न करी तिन ध्यान में जो इक बारहु आई ।
हम ज्यों बिनसाय मयंक ते त्यो मन मोह कलंक को अंक विलाई ।।
तव मूरति सो यह जाके प्रवाहहि सेवत देव हिये हर्षाई ।
त्रिविधात्मक ताप औ पाप समस्त ममान्तस मध्य ते देहि बहाई ।।

जिन मनुष्यों ने सुकृत (पुण्य) कभी किया ही नही उनके भी स्मरण में आने से जो उनके समस्त अज्ञान को, जैसे चन्द्रमा अन्धकार को नाश करता है, तैसे छेदन करती है सो ऐसी यह तेरी मूर्ति जिसके सलिल को देव सदैव पूजते हैं, मेरे अन्तःकरण के त्रिविध सन्ताप और पाप का नाश करै ।

अपिप्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वा नीरं तव जननि तीरं श्रितवताम् ।
सुधातः स्वादीयस्सलिलभरमातृप्तिपिवताम्
जनानामानंदः परिहसति निर्वाणपदवीम् ।। ६ ।।

तृण तद्वत त्यागि महीपति राज अखंड वसुन्धरा मण्डल केरो ।
तव नीर के तीर सप्रेम बसैं वहै नीर जहाँ सब ओरनि घेरो ।।
मन तृप्ति भये लौ करैं जलपान पियूष समान सुरापगा तेरो ।
तिहि आनन्द ते मिलै हे जननी निरबान सुखै उपहास घनेरो ।।

हे माता ! बड़े बड़े भूमंडल के अखण्ड राज्य संपादन करनेवाले राजा अपने राज्य-वैभव को तृण समान त्याग करके तेरे तीर में, जहाँ वेतस वृक्ष पवन के बेग से हिलते है वास करते हैं और जब तक मन की तृप्ति नही होती, तब तक तेरे सुधा से भी विशेष स्वादिष्ट जल का पान करते हैं; इमसे उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह निर्वाण सुख (मोक्ष) को भी उपहासास्पद करता है अर्थात् मोक्ष को तुच्छ समझता है ।

प्रभाते स्नातीनां नृपतिरमणीनां कुचतटी
गतो यावन्मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः ।
मृगास्तावद्वैमानिकशतसहस्रैः परिवृता
विशंति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नदनवनम् ।। ७ ।।

उठि प्रात नहान को तेरे तिया नरनाह की साथ उछाह सिधारी ।
तिनके कुच की जबलौ कसतूरिका जाय मिलै तव तोय में सारी ।।

तबलौ मृग जाकी हती वह वे सुर संग अनेक लये नभचारी।
बिन रोक बने धरि सुन्दर रूप पुरन्दरबाटिका मध्य विहारी॥

हे माता! प्रभातसमय राजस्त्री तेरे जल में जब स्नान करती हैं तब उनके कुचप्रदेश मे लगा हुआ मृगमद (कस्तूरी) ज्यों ही तेरे जल में मिलता है त्यों ही वे मृग जिनका यह मद था तत्काल सहस्रो देवताओं संयुक्त विमान में बैठे सुन्दर शरीर धारण कर स्वच्छन्द इन्द्र के नन्दनवन में विहार करने लगते हैं।

स्मृतं सद्यः स्वान्तं विरचयति शान्तं सकृदपि
प्रगीतं यत्पापं झटिति भवताप च हरति।
इदं तद्गंगेति श्रवणरमणीयं खलु पदं
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्ते विलसतु॥ ८॥

मन ते सुमिरे जिहि एकहि बार मिलै सुविचार सुबुद्धि की खानी।
जिहि जाप करै भवताप औ पाप की नेकु रहै नहि एकु कहानी॥
यह सो मनभावनो शब्द अनूपम "गगा" कहै जिहि विश्व की बानी।
प्रिय प्रानन प्रान्त नितान्त समै मम आनन में विलसै महरानी॥

जिनके एक बार भी स्मरण करने से शीघ्र ही अन्तःकरण में शान्तता प्राप्त होती है और जिसके गान करने से समस्त पाप और सांसारिक (कायिक, मानसिक, वाचिक) दुःख नाश हो जाते हैं सो यह श्रवणसुहावना गंगा शब्द प्राणान्त समय मेरे मुख मे विलास करैं।

यदन्तः खेलन्तो बहुलतरसन्तोषभरिता।
न काका नाकाधीश्वरनगरसाकाक्षमनसः।
निवासाल्लोकाना जनिमरणशोकापहरणम्।
तदेतत्ते तीरं श्रमशमनधीरं भवतु नः॥९॥

जिन पै पद धारि निहारि जकै बनि काक महासुख भाक अपारा।
मघवापुर पावन पावन को मन में नहिं आवन देत विचारा॥
नर वास थली करिकै जिनपै मरणान्तक जन्म को शोक निवारा।
सुई तीर तिहारे हमारे शरीर की पीर पछारि करै श्रमछारा॥

जिनके ऊपर गमन मात्र करने से काक भी विपुल सन्तोष को प्राप्त हो कर अमरावती में जाने की तनिक भी नहीं आकांक्षा करते और जिन पै

निवास करने से जन्म-मरण आदि दुःखों से विमुक्त होकर मनुष्य आवागमन से रहित हो जाते हैं; सो ऐसे ये तेरे तीर हमारे श्रम के शमन करनेवाले होवें।

न यत्साक्षाद्वेदैरपि गलितभेदैरवसितं
न यस्मिन् जीवानाम् प्रसरति मनोवागवसरः।
निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमो
विशुद्धंय त्त्वं सुरतटिनि! तत्त्वं न विषयः॥१०॥

वरणैं जिहि वेद पुराण परन्तु निदान में अन्त न पावत गाई।
गुरु ज्ञानी मिले तऊ जीवन की जिहि में मन वानी सकै न समाई॥
नित है निराकार अपार प्रकाश की जैं निज शक्ति ते ज्योति जगाई।
सुइ शुद्ध सनातानतत्त्व तू गंग न इन्द्रियगोचर मो मते माई॥

• हे सुरतटिनि गंगे! जिसका प्रत्यक्ष भेदरहित वेद भी वर्णन करने में अन्त नही पाता, जिसकी महिमा के जानने में महात्मा जनों की भी वाणी कुंठित है, जो नित्य और निराकार है, जिसने अपनी शक्ति से मायामय अन्धकार का नाश कर दिया है ऐसा जो विशुद्ध तत्त्व है सो तू ही है; तू इन्द्रियगोचर नही।

महादानैर्ध्यानैर्बहुविधिवितानैरपि च यन्
न लभ्यं घोराभिः सुविमलतपोराशिभिरपि।
अचिन्त्यं तद्विष्णोः पदमखिलसाधारणतया
ददाना केनासि त्वमिह तुलनीया कथय नः॥११॥

न मिलै महादान औ ध्यान अनेकन यज्ञ विधान करै बहुबाता।
जग पावत जाहि न कै तप घोरहु जोर चलै न पचै नरगाता॥
सुई देहि अचित्य तू विष्णु को लोक लखै लघु, मध्यम, उच्च न नाता।
कहु ताते तिहारी बराबरी मैं किहि ते करौं विश्व उजागरी माता॥

जो, महादान, ध्यान और विविध प्रकार के मख यज्ञादि तथा घोर तपश्चर्या करने से भी नही प्राप्त होता, वही विष्णुलोक तू सब प्राणी मात्रों को न्यूनाधिक भाव न रख कर देती है; इससे तू ही कह कि हम इस लोक में तेरी और कौन देवता से तुलना करैं।

नृणामीक्षामात्रादपि परिहरन्त्या भवभयं
शिवायास्ते मूर्तेः क इह महिमानं निगदतु।

अमर्षम्लानायाः परममनुरोधं गिरिभुवो
विहाय श्रीकंठः शिरसि नियतं धारयति याम् ॥१२॥

अवलोकत जाहि किहू विधि लोक में लोगनि शोक समूल नसाहीं।
भवभीति समस्त जो अस्त करै प्रिय है जिहि नीति की रीति सदाही।
गिरिजा जउ कोपित होति तऊ गिरजापति जाहि उतारत नाही।
तिहि मंगलमूरति की महिमा वरणै असि शक्ति अहै किहि माही॥

जिसके दर्शनमात्र से मनुष्यों के समस्त भवसागरजनित भय नाश पाते हैं और पार्वती जी के निरन्तर क्रोधायमान होने से भी जिसे शंकर अपने शीश से नही उतारते हैं ऐसी इस तेरी जल-प्रवाहरूपी मूर्ति की महिमा वर्णन करने की किसमें सामर्थ्य है।

विनिद्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यैः सकुलकमपास्यानि पिशुनैः।
हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि कियतां।
कदाप्यश्रान्ता त्वं जगति पुनरेका विजयसे ॥१३॥

जिन पाप प्रमत्तनि त्यागि दयो जिनको उनमत्तहुँ निद्य बतावत।
जिनते रहे धर्मविहीनहूँ रुष्ट सु जे नर दुष्टनहू को न भावत॥
तिनहूँ कृत पातक भार महान् नसावति मातु कछार मँझावत।
श्रम लेश न होत इते कहु पै यश देशनि में अधिकाधिक छावत॥

जिनको उन्मत्त निन्द्य कहते हैं, जिनको पापी परित्याग योग्य बताते हैं, जिनका व्रात्य अर्थात् संस्कारहीन नाम तक नहीं लेते और जिन्हें दुष्ट भी निकट नहीं आने देते ऐसे ऐसे अनेक पातकी मनुष्यों के पातक, निरन्तर तू अकेले नाश करती है इतना करने े भी तुझे तनिक भी श्रम नहीं होता किन्तु इस जगतीतल में तू अधिकाधिक जय पाती है।

स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयताम्
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः ॥१४॥

जगतीजन शोकनिवारण को सुरलोक ते ार गिरी जब तेरी।
त्रिपुरारि पसारि जटा तिनमें तिहि धारि धरी न करी कछु देरी॥

यहि दोष को मूल है मातु तिहारे ही भूल गुरू गुण गौरव केरी।
समतागत जे, निरलोभिनहू ममता मन लोभ की देत घनेरी ॥

हे माता! पृथ्वीतल के निवासी मनुष्यों के शोकहरणार्थ तू जब स्वर्ग-लोक से चली तब महादेव जी ने बीच ही में तुझे अपने जटा-मंडल में रोक लिया। यह तेरे त्रैलोक्यव्यापक गुणों ही का दोष है। यदि तेरे गुण शंभुसदृश निर्लोभी के चित्त में लोभ न उत्पन्न करते तो ऐसी घटना ही क्यों होती।

जडानंधान्पङ्गून्प्रकृतिवधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीम् ।
निलिंपैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपतितो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ॥१५॥

श्रुति इन्द्रिय लोचनहीन महाजड़ मूकमलीन औ जे पगभंगा।
अनिवारक पाप हजारक बार करे जिन जे ग्रहपीड़ित अंगा ॥
जिनको नहिं जोवत देव सुने जिन रोवत रौ व सोचि प्रसंगा।
तिन तारन कों तूं सजीवनिमूरि सी पूरि रही जननी जग गंगा ॥

हे अम्ब! हे माता! इस संसार में, महामति मन्दों को, पंगुओं को, बहिरों को, मूकों को, ग्रहपीड़ितों को, जिनके पातकों का निवारण शास्त्र में भी नहीं कहा उनको, देवताओं के परित्याग किये हुओ को और भी नरकपतनोन्मुखों को, रक्षणार्थ केवल एक तू ही महौषध है।

स्वभावस्वच्छानां सहजशिशिराणामयमपा
मपारस्तेमातर्जयति महिमा कोपि जगति।
मुदायं गायंति द्युतलमनवद्यद्युतिभृतः
समासाद्याद्यापिस्फुटपुलकसान्द्राः सगरजाः ॥१६॥

अतिनिर्मल है जो स्वभावहि ते धरती तल शीतल जो सहजौंही।
धरि धूरि ते दिव्य शरीर महापुलकावलिपूरि प्रसन्न हसौंही ॥
गुणगावत सानुजवर्ग सबै सगरात्मज स्वर्ग में जासु अजौंही।
तिहि तोय की तीरे अपार किती महिमा जगती लगती जनसौंही ॥

हे माता! जो स्वभाव ही से स्वच्छ और सहज ही शीतल है और जिसके गुणानुवाद सगर राजा के पुत्र दिव्यदेह धारण कर अब तक स्वर्ग में परम

पुलकित तनु हो सानन्द गाते है, ऐसे इस तेरे उदक (जल) की कोई कोई अपार महिमा संसार मे जगमगाती है।

कृतक्षुद्रैनस्कानथ झटित सन्तप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः ॥
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरान् दूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे ॥१७॥

कै लघु पाप तुरन्त जे त्यागत जागत मानस में पछिताई।
तारन को तिन आज त्रिलोक में आहि हजारन तीरथराई॥
हे जननी पै करैं नित जे उठि पातक घोर कठोर अघाई।
तापनिवारन को तिनको जग तेरी समान तुही सुनि पाई॥

हे माता! जिन्होंने छोटे छोटे पाप करके पश्चात्ताप पाया उनके उद्धार करने को त्रिभुवन में अनेक तीर्थ है परन्तु जिनका प्रायश्चित्त भी नहीं होता ऐसे अधीर पातक करनेवालो को भवसागर के पार ले जाने को तेरी समान एक तू ही जाग्रत है।

निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियो
श्रियामाधानं नः परिहरतु ता ं तव वपुः ॥१८॥

अमलीन नवीन प्रमोद निधान विधान है धर्म को कर्म सुधारै।
परिधान त्रिलोक को जो जग जा कहँ तीरथमध्य प्रधान पुकारै॥
मतिमंदनि को तिरोधान सदा बुधि को समाधान सु जो मनधारै।
धनवान महान तिहारो स्वरूप सो ताप हमारि हँकारि उतारै॥

जो सर्व धर्मों का निधान (आश्रय), जो परम प्रसन्नता का विधान (कारण), जो तीर्थों में प्रधान, जो त्रिलोक का परिधान (वस्त्र आभूषण), जो बुद्धि का समाधान, जो मतिमन्द मनुष्यों का तिरोधान (आच्छादक), और जो लक्ष्मी का आधान (सम्पादक), ऐसा जो यह तेरा स्वरूप सो हे मातु हमारे तन की ताप का हरण करै।

पुरो धावं धावं द्रविणि मदिरा घूर्णित दृशा
महीपानां नानातरुणतरखेदस्य नियतम्।

ममैवायं मन्तुः स्वहितशतहन्तुर्जडधियो
वियोगस्ते मातर्यदिह करुणातः क्षणमपि ॥ १९ ॥

बलशालि महा अपनी प्रभुता मदिरा मदलोचन लालि भुवाला ।
उठि जाँचि वृथा तिन द्वारन नाचि कमायहु केवल क्लेश कराल। ॥
इतनो मतिहीन मैं कीन कबौ अबलों सुधि तोरि न कौनेहु काला ।
सब मोरहि मो अपराध अहो अब मातु क्षणार्ध लौं होहु दयाला ॥

तेरा अवलंबन न करने के कारण मेरे देहाभिमानी जड़ बुद्धिरूपी स्वहित शत्रु ने द्रव्यरूपी मदिरा के मद से जिन महीपालों के नेत्र आरक्त वर्ण हो गये हैं उनके द्वार ˆ जाय जाय बड़ा खेद पाया। यह सब मेरा ही अपराध है इससे हे माता ! इस अवसर पर यदि बहुत नहीं तो क्षणमात्र ही मेरे ऊपर करुणा कर।

मरुल्लीलालोलल्लहरिलुलितां भोजपटली
स्खलन्त्या सुव्रातच्छुरणविसरत्कौकुमरुचि ॥
सुरस्त्रीवक्षोजक्षरदगरुजंबालजटिलं
जलं ते जंबालं मम जननजालं जरयतु ॥ २० ॥

बहु वायु ते बीचि उतंग उठे सब रंग के लाल मृणाल हलाए ।
मकरंद खिले अरबिंदनि कै गिरि कुकुंम की सम जो छबिछाए ॥
सुर सुन्दरी पीन पयोधर लीन सुगंधित चन्दन पंक बहाए ।
स सिवार तवोदक सो मम दूसरो जन्मनिवार करे मसलाए ॥

पवनोद्गत तरंगों के हिलाये कमलजाल से गिरे मकरन्द के मिश्रण से कुंकुम के समान शोभायमान और देवांगनाओ के पयोधर भाग चर्चित कालागरु चन्दन के पंक से मिश्रित यह तेरा शैवालसंयुक्त उदक मेरे पुनर्जन्मों का नाश करे।

समुत्पत्तिः पद्मारमणपदपद्मामलनखा–
न्निवासः कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने ।
अथायं व्यासङ्गो हतपतितनिस्तारणविधौ
न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्तु जगति ॥ २१ ॥

प्रगटी कमलापति के कमलामल पाद ते लोकवि दविदारन ।
पुनि मार सँहारनहार के शीश बसी बनि सुन्दरता कर कारन ॥

बहुरो बहु पापिन तारन को नित छार करै तिन पाप पहारन।
तव कीरति मातु धरातल मे कस ना फिरि फैलहि कोस हजारन ॥

हे माता! कमलापति (विष्णु भगवान्) के कमलरूपी विमल चरण के नखों से तो तुम्हारी उत्पत्ति, कंद के दर्प दलनेवाले शंकर के जटाजूट में तुम्हारा वास औ निरन्तर अगणित हतभाग्य पापिष्ठो के उद्धार करने का तुम्हारा व्यवहार; भला फिर इस धरातल में तुम्हारी कीर्ति का प्रसार क्यों न होवै।

नगेभ्यो यांतीना कथय तटनीनां कतमया
पुराणां संहर्तुः सुरधुनि कपर्दीधिरुरुहे।
कया या श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालिसलिलैः
तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः ॥२२॥

नगनिर्गतनीर अनेक नदी निज शीश गिरीश न एकहु धारे।
करि खोज मिली किहि सौं सरिजै कमलापति पाद सरोज पखारे॥
किहि की फिर देहिं भला उपमा कवि लेश समा तव ढूँढ़त हारे।
जननी गुण जे जग आहि तिहारि तुही कहु है किहि माहिं निहारे॥

हे सुरसरि! पर्वतों से निकलनेवाली अनन्त सरिता हैं परन्तु तू ही कह कि किसी ने भी त्रिपुरारि के शिरोभाग में वास पाया? अथवा एक ने भी रमापति के पदपद्मप्रक्षालन किये? इन गुणों में से एक भी किसी नदी में मिलने का नहीं फिर उपमा तो दूर ही रही इस कारण हे माता! कवि तेरी तुलना लेशमात्र भी और नदियो से नहीं कर सकते।

विधत्ता निःशङ्कं निरवधि समाधिं विधि रहो
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति जननी ॥२३॥

साधि अखण्डित योग समाधि विरंचि बसैं तजि सृष्टि के जाला।
सोवहि शेष विष्णु सुखी अरु नृत्य महेश करै सब काला॥
कारज काह करे सिगरे तप पूजन दान विधान विशाला।
सर्व मनोरथ दायक जो जग जागत गंग तरंग की माला॥

हे माता ! सकल कामना सिद्ध करनेवाली जब साक्षात् तू त्रैलोक में जाग्रत है तब विरंचि चिरकालपर्यन्त निःशंक समाधिस्थ हो योग साधन करें, नारायण क्षीरसागर में जाय सुख से शेषशय्या पर निद्रा में निमग्न होवें, शंकर सर्वकाल नृत्य ही करते रहें और समस्त प्रायश्चित्त-विधान, तप-दान, देवार्चनादिक साधन उठ जावें, अर्थात् इन सबके कार्य तू अकेली कर सकती है।

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदां
पतन् विश्वोद्धर्त्रीं गदविगलितः सिद्धभिषजम्।
सुधासिंधुं तृष्णाकुलितहृदयोमातरमयं
शिशुः संप्राप्तस्त्वा महमिह विदध्याः समुचितम् ॥२४॥

बिगरी गति मोरि तू देहि भली गति मैं तो अनाथ तू नेह भरी है।
जगतारन तू अघभारनि मैं भरों हौं तो सरोग तू रोग हरी है॥
उदकारत मैं ए सुधाम्बुधि है शिशु मैं तोहि मातु कहै नगरी है।
लखि सन्मुख मोहि यथोचित आजु करौ तनी विनती हमरी है॥

मै अनाथ, तू परम दयाल; मैं विगलितगति, तू उत्तमगति देनेवाली; मैं पतित, तू विश्वोद्धारतत्पर; मैं रोगग्रस्त तू भिषग्वर; मैं तृषाकुल, तू सुधासिंधु; मैं शिशु, तू माता; ऐसे सम्बन्ध विचार मैं तेरे सम्मुख आज प्राप्त हुआ हूँ। अब जो तुझे उचित जान पड़े सो कर।

विलीनो वै वैवस्वतनगरकोलाहलभरो
गतादूतादूरं क्वचिदपि परेतान्मृगयितुम्।
विमानानां व्रातो विदलयति वीथीर्दिविषदां
कथा ते कल्याणी यदवधि महीमंडलमगात् ॥२५॥

अकथा-कथा पावन जा दिन ते तव मध्य में मध्यमलोक के आई।
यम ग्राम में ताही दिना ते कुलाहल एकहु याम परै न सुनाई॥
मृत खोजनि दूरि इकान्त के देशनि दूतनि दीन कृतान्त पठाई।
नभ पंथ दलै तरि प्राणनि को इतनी चलैं पंक्ति विमान उड़ाई॥

जिस दिवस से तेरी यह कल्याणकारिणी कथा इस भूमण्डल में फैली उसी दिवस से यमलोक मे पापियो के कुलाहल बन्द हो गये। उन देशों को जहाँ तेरी कीर्ति कर्णगोचर नही होती यमराज के दूत मृतकान्वेषणार्थ

दूर दूर चले गये और तेरे भक्तो से पूर्ण असंख्य विमानो ने स्वर्ग-लोक में देवताओं के आवागमन के मार्ग तक बन्द कर दिये।

स्फुरत्कामक्रोधप्रबलतरसञ्जातजटिल-
ज्वरज्वालाजालज्वलित वपुषा नः प्रतिदिवम्।
हरतां सन्तापं कमपि मरुदुल्लास लहरी-
छटा चंचत्पाथः कणसरणयो दिव्यसरितः ॥२६॥

कृत काम औ क्रोध विकार अपार उतार कहे न कबौ जिनके रे।
विषम ज्वर ज्वालनि ते तिनकी सब अंग जु लालि बने रहे मेरे॥
तिनकी हरैं ताप निरन्तर ते शुचि जह्नुसुता जल सीकर तेरे।
अति चंचल तुंग तरंगनि ने प्रसरैं उड़ि जे मरुदंचल प्रेरे॥

पवन वेगोत्पन्न भागीरथी के उर्ध्वगामी तरंगों के जल-कण, अधिकाधिक प्रवर्धनीय प्रबल काम-क्रोध-जनित विषम-ज्वर-ज्वाल से प्रज्वलित मेरे शरीर के समस्त सन्तापों को निरन्तर नाश करें।

इदं हि ब्रह्माडं सकलभुवनाभोगभवनम्
तरंगैर्यस्यांतर्लुठति परितस्तिंदुकमिव।
स एषः श्रीकंठप्रविततजटाजूटजटिलो
जलाना संघातस्तव जननि तापं हरतु नः॥२७॥

जननी जिहि पिण्ड में लोक चतुर्दश खंडविनास विकाश समाही।
बहि बूड़ि तरै फिरि तिंदुक तुल्य सो बीचन बीच परे जिहि माहीं॥
रहि विस्तृत शम्भुजटानि में जो जटिली जगभासतु है सब काही।
तव तोय समूह सो जीय हरै मम सर्व शरीर की पीर सदाहीं॥

चतुर्दश भुवनों का वासस्थान यह ब्रह्माण्ड तिन्दुक की भाँति तरंगों की हिलोरों से जिसमें गोता खाता है और जो सदाशिव के जटा-जूट में रहने से स्वयं जटाधारी-सा देख पड़ता है; सो यह तेरा जल-समूह हमारा सब ताप हरे।

त्रयं ते तीर्थानि त्वरितमिह यस्योद्धृतिविधौ
करं कर्णे कुर्वन्त्यपि किल कपालिप्रभृतयः।
इमं तं मामंब त्वमियमनुकंपार्द्रहृदये
पुनाना सर्वेषामघदलनदर्पं दलयसि॥२८॥

मम तारन अर्थ समर्थ न तीरथ हारेहु तीरथराजु जुहारी।
कर कान में कीन महान महेशहू नेकु सुनी विनती न हमारी।।
अस सो मैं महा कलुषालय मातु दया करि ताहि तुरंत उधारी।
अघनाशन गर्व गरू इन सर्वको डारहु आजु अवश्य उतारी।।

हे परम दयालु माता! जिनके उद्धार करने में तीर्थं लज्जित होते हैं और शंकरसमान महान् देव भी जिसका शब्द सुनते ही कान में तर्जनी रख लेते हैं ऐसे इस मुझ महापापी को तारने से इन सब देवताओं तथा तीर्थों के अघनाश करने के अहंकार का आज परिहार हो जावेगा।

श्वपाकानां व्रातैरमितविचिकित्साविचलितै–
र्विमुक्तानामेकं किल सदनमेनः परि दाम्
अहो मामुद्धर्तुं जननि घटयन्त्याः परिकरं
तव श्लाघा कर्तुं कथमिव समर्थो नरपशुः।।२९।।

श्वपचादिन सोचि विचारि तजे जिन पापनि आपनि बाँह उठाई।
तिनकी महाखानि मैं और कहौं कह कीन सदा उठि जो जिय भाई।।
अस मैं तिहि तारन को कटि साजि विराजति जो जननी मन लाई।
महिमा तिहिकी किमि गाइ सकौं पशु हौं नरदेह वृथा जग पाई।।

हे जननी! जिनका करना चाण्डालों ने भी नहीं अंगीकार किया ऐसे ऐसे पापसमूहों के निवासस्थान मुझ पातकी के उद्धारकरणार्थ तुझ कटिबद्ध होनेवाली की स्तुति करने में मैं नरदेहधारी पशु कैसे समर्थ हो सकता हूँ।

न कोप्येतावन्तं खलु समयमारभ्य मिलितो
यदुद्धारादाराद्भवति जगतो विस्मयभरः।
इतीमामीहां ते मनसि चिरकालं स्थितवती
मयं सम्प्राप्तोऽहं सफलयितुमम्ब प्रणय नः।।३०।।

विश्व सविस्मय अँगुरि दंत में दाबहिं जाहि तुरन्त उधारे।
ना अस एकहु आज लौं पातकी आयहु नीर के तीर हमारे।।
लालसा जो यह है मम मातु बसी चिरकाल ते चित्त तिहारे।
तारि हमैं मन की मनुहारि सो पूरण आजु करौ निज द्वारे।।

जिसके शीघ्र ही उद्धार करने से सर्व संसार विस्मित हो जावे ऐसा महापापी आज पर्यन्त हमें एक भी न मिला। इस प्रकार की जो आकांक्षा चिरकाल से तेरे चित्त में बसी हुई है उसे हे माता! आज हमें तू तार सुफल कर॥

श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्याप्रलपनं
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम्।
अपि श्रावं श्रावं मम तु पुनरेवं गुणगणान्
ऋतेत्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम्॥ ३१॥

भ्रमिबो उठि श्वान समान सप्रेम असत्यहि भाषण नेम निबेरो।
लखिबो परदोष सदा सुख सो करिबो हियमाँहि कुतर्क बसेरो॥
सुनिकै असि दुर्गुण मोरि करोरि अहै इतनो किहि केर उजेरो।
अब आजु दिना इक तेरे विना पलहू भर जो मुख देखहि मेरो॥

श्वानवृत्यनुकरण, असत्यभाषण, कुतर्काभ्यास, परदोषनिरीक्षणादिक मेरे अगणित अवगुणों को श्रवण कर तेरे अतिरिक्त इस संसार में दूसरा ऐसा कौन है जो मेरा मुख एक क्षण भर भी देखे।

विशालाभ्यामाभ्यां किमिहनयनाभ्यां खलु फलं
नयाभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः।
अयं हि न्यक्कारो जननि मनुजस्य श्रवणयो-
र्ययोर्नान्तिर्यातिस्तव लहरिलीलाकलकलः॥ ३२॥

सब भाँति अकारथ ते अनमोल अपूरब लोचन लोल विशाला।
जिन ना अवलोकन कीन कबौं जननी तव सुन्दर रूप रसाला॥
धिक् बार हजार है कानन को जिन ना तजि के सिगरे जग जाला।
तव तुंग तरंगनि के सुनि कोरनि मानि हिए धनि भे न निहाला॥

हे जननी! इस लोक में मनुष्यों के जिन नयनों ने तेरी परमरमणीय मूर्ति का दर्शन नहीं किया वे निष्फल हैं और उनका विशालत्व वृथा है और इसी प्रकार जिन श्रवणों ने तेरे तरंगों के कुलाहल को नहीं सुना उनको धिक्कार है, श्रवण शब्द उनको कदापि शोभास्पद नहीं है।

विमानैः स्वच्छन्दं सुरपुरमयन्ते सुकृतिनः
पतन्ति द्राकपापा जननि नरकान्तः परवशाः।

विभागोयं तस्मिन्नशुभमयमूर्तौ जनपदे
नयत्रत्वल्लीला दलितमनुजोः शेषकठुषा ॥ ३३ ॥

सुरलोक सिधारत शोकविहीन सुखी सुकृती जन बैठि विमाना।
नरकान्त गिराय कृतांत के दूत दुखावत पापिन के प्रिय प्राणा॥
यह भेद है केवल ही तिन देशनि कोटि कलेश कसे विधिनाना।
न जहाँ अपशूल समूलविनाशक तेरे विचित्रचरित्र विधाना॥

हे जननी ! सुकृती जन (पुण्यवान्) विमानस्थ हो स्वच्छन्द सुरलोक को जावें और पापी परवश नर्क-यातना भोगैं, इस प्रकार का न्याय केवल उन्हीं अशुभ देशों में है जहाँ मनुष्यों के समस्त पातक नाश करनेवाली तेरी लीला नहीं ! (अर्थात् जहाँ तू है वहाँ प्राणीमात्र स्वर्ग ही को जाते हैं)।

अपिघ्नंतो विप्रानविरतमुगंतोगुरुमतीः
पिबन्तोमैरेयं पुनरपि हरन्तश्च कनकम्।
विहाय त्वय्यन्ते तनुमतनुदानाध्वरजुषा
मुपर्यंबक्रीडंत्यखिलसुरसंभावितपदाः ॥३४॥

जे बिनु शंक बधै बहु विप्रनि जे गुरुनारि पर्यंक विहारी।
पान करै मदिरा मदनीय जे हेम हरैं नित नेम निकारी॥
अंत तवोदक में तनु त्यागत तेऊ तुरन्त विषाद बिसारी।
स्वर्ग में भोगत भोग महा सुरवर्ग बनाय स्वपाद पुजारी॥

हे अम्ब (माता) ! जो, विप्रघात, गुरु-स्त्रीसेज-शयन, मदिरापान और कनक चौर कर्मादिक अघोर पातक करते हैं वे भी यदि अन्त समय तेरे प्रवाह में देह त्यागते हैं तो देवताओं के पूज्यपाद हो श्रेष्ठ यज्ञकारों को जो भोग कठिनता से सुलभ होते हैं उन भोगो का उपभोग लेते हुए स्वर्गसुख से क्रीड़ा करते हैं।

अलभ्यं सौरभ्यं हरति सततं यः सुमनसा
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम्।
त्वदीयानां लीलाचलितलहरीणां व्यतिकरात्
पुनीते सोपिद्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम् ॥३५॥

उठि भोर अलभ्य प्रसूनन की शुचि सौरभ चोरत जो मनलाई।
विरहक्षतव्याकुल प्राणिन को क्षण माहिं निपातत जो न सकाई॥

तव नीर की बीचि विलोल छुए दुखदाय त सोई समीर सुहाई।
ततकाल त्रिलोक पवित्र करै यह केती विचित्र अहो प्रभुताई॥

जो अलभ्य पुष्पो की सौरभ (सुगन्ध) को सतत हरण करता है और जो विरहरूपी शस्त्रजनित हृद्वेदनाकुलितों के प्राण क्षण में शरीर से पृथक् कर देता है, ऐसा वह सोई पवन तेरी विलोल बीचिमाला के स्पर्श से त्रिभुवन को तत्काल पवित्र पदवी को पहुँचाता है; यह क्या ही आश्चर्य है !

कियन्तः सत्येके नियतमिह लोकार्थघटकाः
परे पूतात्मानः कति च परलोकप्रणयिनः।
सुखं शेते मातस्तव खलु कृपातः पुनरयं
जगन्नाथः शश्वत्त्वयि निहितलोकद्वयभरः॥३६॥

करि कोऊ महा उपकार इतै यहि लोक की कीरतिसारकभाही।
परलोक सुधारत कोऊ कहूँ करि दान दया सनमान सदाही॥
धरि तोहिं पै भार विलोकनि के तजि सर्व विचार जहाँ के तहाँही।
यह सेवक सोइ रह्यो सुख सो इक तेरी कृपा जननी जगमाहीं॥

कोई सत्पुरु नाना प्रकार के निरन्तर उपकार कर इस संसार में विमल कीर्ति सम्पादन करते हैं और कोई अनेक जप, तप, दान, सन्मान आदिक से अपने परलोक-सा न में सदैव तत्पर रहते हैं परन्तु, हे माता यह जगन्नाथ तो दोनों लोकों का भार तेरे ऊपर रख तेरी कृपा से सुखपूर्वक सतत शयन कर रहा है।

भवत्याहि व्रात्याधमपतितपाखण्डपरिषत्
परित्राणस्नेहः श्लथयितुमशक्यः खलु यथा।
ममाप्येवं प्रेमा दुरितनिवहेष्वंब जगति
स्वभावोऽयं सर्वैरपिखलु यतो दुष्परिहरः॥३७॥

पतिताधम धर्मविहीनन के अघतूल समूल नसावन काजा।
निज प्रीति की रीति न त्यागति तू जस मातु विचारति रंक न राजा॥
तस नेम ते मैं हूँ सप्रेम करौं उठि पाप सदा सजि आपनि साजा।
जग में न अभाव स्वभावप्रभाव को होहि चहै सर्वस्व अकाजा॥

हे अम्ब (माता)! जैसे संस्कारहीन अधम, पतित और पाखंडी प्राणियों के उद्धार करने में तेरे स्नेह का न्यून होना सर्वथा अशक्य है तैसे ही नित्य पातक-

समूह उपार्जित करने में मेरे नेम का भी कम होना सम्भव नहीं; क्योंकि इस संसार में सब जीवधारियों को स्वभाव का त्याग करना परम दुस्तर होता है।

प्रदोषान्तर्नृत्यत्पुरमथनलीलोद्धृतजटा
तटाभोगप्रेखल्लहरिभुजसन्तानविधुतिः।
बिलक्रोडक्रीडज्जलडमरुटंकारसुभग–
स्तिरोधत्तां तापं त्रिदशतटिनी ताण्डवविधिः ॥३८॥

नित्य प्रदोष की बेर गिरीश के नृत्यत शीशजटा तट लागी।
बीचि विलोल भुजा उठि जा महँ मानहु भाव कहै रसपागी॥
तीर के खोहनि में डमरू सम जामें करैं रव नीर विभागी।
सो तव तांडव की विधि मातु हरै मम ताप हिए अनुरागी॥

• प्रदोष समय शंकर के नृत्यलीलोद्धृत जटाओं का प्रहार तट पै लगाने से जिनमें चंचल तरंगरूपी भुजा हाव भाव-सा करते हैं और तीर के खोहों में प्रवेश पाकर नीररूपी डमरू के मनोहर शब्द जिसकी शोभा को बढ़ाते हैं सो वह भागीरथी की ऐसी ताण्डवविधि मेरा सकल ताप हरै।

सदैव त्वय्येवार्पितकुशलचिन्ताभरमिमं
यदि त्वमामंब त्यजसि समयेऽस्मिन्सुविषमे।
तदा विश्वासोऽय त्रिभुवनतलादस्तमयते
निराधारा चेयं भवति खलु निर्व्याजकरुणा ॥३९॥

धरि तोपै सबै कुशलात को भार अनिष्ट बिहार करे सनमानी।
यह दुस्तर बेरि विलोक कै जो तजिहै मोहि मातुनराधम जानी॥
तव पापिन तारन की उठि जाय है बानी त्रिलोक ते तौ महारानी।
निजि वासन तेरे हिए लखिकै करुणा करि ह्व करुणा बिलखानी॥

हे माता! अपनी भविष्य कुशल का सारा भार मैंने तेरे ऊपर रख इस दिन पर्यन्त मनमानी की; अब इस ऐसे महादुर्धर समय में यदि तू मेरा अंगीकार न करेगी तो, तूही, समझ देख तेरा पापोद्धारविषयक समस्त त्रैलोक का दृढ़ विश्वास आज अस्त-सा हो जावेगा और यह निर्व्याज करुणा तेरे हृदय में अपना वास न पाय निराधारत्व को प्राप्त होवेगी।

कपर्दादुल्लस्य प्रणयमिलदर्धांगयुवतेः
पुरारेः प्रेंखंत्यो मृदुलतरसीमंतसरणौ।

भवान्या सापत्न्यस्फुरितनयनं कोमलरुचा
करेणाक्षिप्तास्ते जननि विजयंतां लहरयः ।।४० ।।

कढ़ि कै जटली जटाजूटन ते अतिप्रेम प्रभाव नगेशजाधारी ।
त्रिपुरारि के कोमल भाल प्रदेश मे जे उतरी निज सौति निहारी ।।
जिनको करकंज ते टारन कीन सरोष पहारनराजकुमारी ।
जननी तब ते लहरी बिजयी जग ोहि यहै कहनूति हमारी ।।

हे माता ! अधिक प्रीति के कारण अर्धाङ्गिनी पार्वती को वाम अंग में स्थान देनेवाले त्रिपुरारी के जटामंडल से निकल जो उनके कोमल भाल में अपनी सपत्नी के अवलोकनार्थ उतरी और गिरिजा ने सापत्न्यभाव से लाल लोचन कर अपने करकमल से जिनका निवारण किया ऐसी तेरी लहरें जगत में जय पावैं ।

प्रपद्यन्ते लोकाः कति न भवतीमत्र भवती–
मुपाधिस्तत्रायं स्फुरति यदभीष्टं वितरसि ।
शपे तुभ्यं मातर्मम तु पुनरात्मा सुरधुनि
स्वभावादेवत्वय्यमितमनुरागं विधृतवान् ।। ४१ ।।

जननी जगपूजित तू तिहिको नहिं को दरबार जुहारत जाई ।
शरणागत स्वागत जागत जो तव सो मोहि कारण देत दिखाई ।।
सुरलोकनदी शपथप्रतिसत्य कहौ न करौं निज व्यर्थ बड़ाई ।
अनुराग तौ मो मन को अति लाग स्वभावहि ते तव माहिं सुहाई ।।

हे सुरसरिता ! तुझ जगत्पूज्या माता की शरण में कौन नहीं जाता है ? तू वाञ्छित फलदात्री है; यही तेरे अवलम्बन करने का एक मुख्य कारण है । मेरे मन ने तो तेरे अनुराग का सम्पादन स्वभाव से ही किया है (प्रशंसा सुन के नहीं) यह मैं तेरी शपथ खाकर कहता हूँ ।

ललाटे या लोकैरिह खलु सलीलं तिलकिता
तमो हंतुं धत्ते तरुणतरमार्तण्डतुलनाम ।
विलुम्पन्ती सद्यो विधिलिखितदुर्वर्णसरणिं
त्वदीया सा मृत्स्ना मम हरतु कृत्स्नामपि शुचम् ।।४२ ।।

तजि शोक सबै यहि लोक में आय लगावत लाय लिलार मझारा ।
तन धारि युवा सवितासमता नित नाशति जो बुधि के तम भारा ।।

पल माहि निशंकित मेटति जो विधि अंकित अक्षर बंक विकारा।
जननी तव तीर की सो शुचि रेणु हरै हमरे सब पीर प्रकारा ।।

जो स लोक में मनुष्यों के ललाट में प्रेमपूर्वक तिलकित होने से बुद्धि-विकार का, जैसे मध्याह्नकालस्थित अत्यन्त तीक्ष्ग किरणोंवाला सूर्य अंधकार को अस्त करता है वैसे नाश कर देती है और जो ब्रह्मलिखित अशुभ कर्माक्षरों को भी मिटाती है सो यह ऐसी तेरी मृत्तिका हमारे सब शोक हरै !

नरान् मूढान् तत्तज्जनपदसमासक्तमनसो
हसन्तः सोल्लासं विकचकुसुमव्रातमिषतः ।
पुनानाः सौरभ्यैः सततमलिनो नित्यमलिनान्
सखा यो नः सन्तु त्रिदशतटनी तीरतरवः ।।४३ ।।

निज देशनि जे मतिमंद बसैं मनमानि अनन्द तुम्हें बिसराई।
विकसी कुसुमावलि के मिस जे तिनकी करैं हेरि हँसी मुसकाई ।।
जिनकी सुचि सौरभ शुद्धि करै सब भाँति मलीन अलीन सुहाई।
तव तीरन के तरु सो जननी मम होहिं सदैव सदा सुखदाई ।।

स्वदेशवास ही से सन्तुष्ट होकर जो मूढ़ मनुष्य उन प्रदेशों की जहाँ होकर तू निकली है तेरे दर्शनार्थ नही जाते उनकी, अपने प्रफुल्लित फूलों के मिस से, जो हँसी सी करत है और जो आत्ममलिन भ्रमरों को भी अपनी सौरभ से पावन करते हैं सो ये ऐसे तेरे तीर के तरुवर मेरे निरन्तर मित्र होवें ।।

यजंत्येके देवान् कठिनतरसेवांस्तदपरे
वितानव्यासक्ता यमनियमरक्ताः कतिपये ।
अहं तु त्वन्नामस्मरणकृतकामस्त्रिपथगे
जगज्जालं जाने जननि तृणजालेन सदृशम् ।।४४ ।।

चित धारत देवन सेवन में सहिके कोउ नित्य नई कठिनाई।
मख ठानत कोउ सप्रेम कोऊ नर मानत हैं यमनेम निकाई ।।
जपि नाम तिहारो पथत्रयगामिनि मैं असि काम तमाम विहाई।
जगजालनि को सब कालनि में तृणजालनि तद्वत देखहुँ भाई ।।

हे त्रिपथगामिनी ! इस लोक मे कोई तो अत्युग्र सेवा करके अनेक देवाराधना करते है, कोई यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं और कोई यमनियमादिकों का साधन करते हैं। परन्तु, हे माता ! मैं तो इस प्रकार के जितने कर्म हैं

उनसे अपना हाथ खींच केवल तेरा नामस्मरण कर जगत् के सर्व जंजाल को तृणवत् देख रहा हूँ।

अविश्रान्तं जन्मावधिसुकृतजन्मार्जनकृतां
सतां श्रेयः कर्तुं कति न कृतिनः संति विबुधाः।
निरस्तालम्बानामकृतसुकृतानां तु भवतीं
विनामुष्मिल्लोके नपरमवलोके हितकरम् ॥४५॥

निज जन्म ते उत्तम जन्म निमित्त करी बहुपुण्य परिश्रम पाई।
तिन तारनहार करार ते केतिक जागत हैं जग में सुरराई॥
यहि लोक में पै अघ खानि निराश्रित लोगनि के हित हेत सहाई।
नहि दूसरो मोहिं दिखाय परै कहुँ जह्नुसुता इक तोहि विहाई॥

जो जन्म ही से उत्तम पदप्राप्त्यर्थ अनेक सुकृत (पुण्य) कृत्य करते हैं उन सत्पुरुषों को सुगति देने की किस देवता में सामर्थ्य नहीं? परन्तु निराधार महापापी प्राणियों को अंगीकार करने में तत्पर एक तेरे अतिरिक्त इस लोक में मुझे और कोई नहीं देख पड़ता।

पयः पीत्वा मातस्तव सपदि यातः सहचरैः
विमूढैः संरन्तुं क्वचिदपि न विश्रान्तिमगमम्।
इदानीमुत्सङ्गे मृदुपवनसंचारशिशिरे
चिरादुन्निद्रं मां सदय हृदये शायय चिरम् ॥४६॥

पयपान कै मातु तिहारो सखानि महाधम ज्ञानबिहीन बटोरी।
भ्रमि देश अनेकनि नित्य नवीन मलीन कुतूहल कीन करोरी॥
अब मन्द समीर ते शीतल तीर पै मातु दयालु बिनै सुनि मोरी।
चिर काल उनींदित मोहि सदैव को निद्रित आजु करौ बरजोरी॥

हे दयालु माता! तेरा जलपान करके महामूढ़ मित्रमंडली संयुक्त देश-विदेश जाय अनेक कुतूहल किये परन्तु विश्राम कहीं भी न मिला; इससे अब मृदुल समीर से शीतल किये हुए अपने इस तीर पै मुझ चिरकाल निद्राविगत को सदा के लिए निद्रित कर।

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः।

न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणतया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ॥४७ ॥

बांधियो वेगि महादृढ़ कै कटि साधियो आपनि सुन्दर गाता।
लीजियो पन्नगजालनि लाय मिलाय किरीट ते चन्द्र सुहाता ॥
कीजियो हेलना भूलि न दूसरे पापिन को मन में गुनि बाता।
है जगन्नाथ उधारन की यह दुस्तर बेर बड़ी सुन माता ॥

हे सुरसरि! शीघ्र ही अपने परिकर को दृढ़तर बाँध, भाल के बाल चन्द्रमा को सर्पजाल लगाय किरीट से साध, और साधारण पापियों का-सा मेरा हाल जान हेलना न कर। यह अधीर पातककार जगन्नाथ के उद्धार करने का समय है।

शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलश्वेतालमुकुटां
करैः कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीम्।
सुधा धाराकाराभरणवसनां शुभ्रमकर–
स्थितां त्वां ये ध्यायन्त्युदयति न तेषां परिभवः ॥ ४८ ॥

तनु श्वेत शरदृतु चन्द्रसमान किरीट मयंक कला छविछाये।
वर कुम्भ सरोज, महाभयभंजन, आयुध हस्त धरै मनभाये ॥
उजरे मकरस्थित, अमृतधार-से भूषण वस्त्र सिगार बनाये।
तव ध्यान धरैं नर जे तिनको अपमान न होहि कबौं जग आये ॥

जिसका अंग वर्ण शरद्चन्द्र समान श्वेत है, जिसके मुकुट की प्रभा शशिवत् उज्ज्वल है, जिसके कर-कमल, कमल, कुम्भ (घट) वर और अभय इन चारों आयुधों से आभूषित हैं, जिसके वस्त्राभरण सिंगार अमृतधाराकार शोभायमान है और जो शुभ्र मकर (मगर) पै विराजमान है; ऐसी इस तेरी मनोहर मूर्ति का जो कोई ध्यान करते हैं उनका स्वप्न में भी इस लोक में पराभव नहीं होता।

दरस्मितसमुल्लसद्वदनकान्तिपूरामृतै–
र्भवज्वलनभर्जितानिशमूर्जयन्ती नरान्।
चिदेकमयचन्द्रिकाचयचमत्कृतिं तन्वती
तनोतु मम शंतनोः सपदि शंतनोरङ्गना ॥४९॥

मृदु हास विकासित आनन की अति सुन्दर भाष ीयूष पियाई।
जगज्वाल विशाल जरै जन जो सब काल जिआवति ताप नसाई ।।
निज चेतनचन्द्रप्रकाशचमत्कृति जे जगती तल में प्रकटाई।
नृपशंतनुनारि पियारि सुई मम होहि सदा मुदमंगलदाई ।।

मनोहर मुसुकानि समय अपने प्रफुल्लित मूखारबिन्द के प्रकाशरूपी अमृत से जो विश्वाग्निजालज्वलित मनुष्यो को जीवनदान देती है और जो निज चेतनचन्द्रिका से सबको चकित करती है सो यह ऐसी शंतनु राजा की रानी हमारा सदैव कल्याण करे।

मन्त्रैर्मीलितमौ धैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणांगणैः
त्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विदलितं गारुत्मतैर्ग्रावभिः।
वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि
त्वं तापं निरयाधुना मम भवज्ज्वालावलीढात्मनः ।।५०।।

मन्त्र विलुप्त भये सिगरे बिगरे गुण सर्व महौषधि केरे।
त्रस्त भ े सुरत्रस्त सुधारस नष्ट भई मणि मो तन हेरे ।।
हे हरिपादपखारनहारिनि देवनदी अपने तट नेरे।
विश्व कृशानु दहै मम अंग के भंग करौ तुम ताप घनेरे।।

मुझे देखते ही मन्त्र लुप्त हो गये, महौषधियों ने अपने गुणों का गर्व त्याग दिया, देवतागण डरे, अमृतादिक रस गिर गये, और गारुत्मत के समान मणियाँ भी नष्ट हो गईं, अब और तो कोई रहा ही नहीं कि जिससे मैं कुछ कहूँ इससे हे हरिपादप्रक्षालनी सुरसरि! मुझ जगत्ज्वालादग्ध आत्मा-वाले की सर्व ताप तू वेग ही शान्त कर क्योंकि ऐसा करने को एकमात्र तू ही समर्थ है।

द्यूते नागेन्द्रकृत्तिप्रमथगणमणि श्रेणि नन्दीन्दुमुख्यं
सर्वस्वं हारयित्वा स्वमथ पुरभिदिद्राक् पणी कर्तुकामे।
साकूतं हैमवत्या मृदुलहसितया वीक्षितायास्तवाब
व्यालोलोल्लासिवल्गल्लहरिनट घटी ताण्डवं नः पुनातु ।।५१।।

एक बार गिरजा संग खेलत महेश द्यूत नदी नागेश चन्द्र प्रमथ कृत्य हारे।
दाँव माहिं आपहि तब लावनो विचार कीन्ह सर्ववित्त हीन खीनवृत्ति चित्त धारे।।
भाव भरी तब तो तव ओर शिवा दीठ करी मन्दी मुसकानयुक्त जीतित्रो विचारे।
ता लखि जो तेरी अति चंचल तरंग उठी गंगकरै पावन सब अग सो हमारे।।

हे अम्ब (माता)! पार्वती के संग द्यूत खेलने में फणीश, बाघम्बर, पारषद, मणिमाला, नन्दी और चन्द्रमादिक अपना सर्व धन हार जब शंकर ने अपने को दाँव पर रखना चाहा तो गिरजा ने मन्द मुसकान गूढ़ाभिप्राय (तेरे जीत लेने के विचार) से तेरी ओर अवलोकन किया; इस प्रकार का आक्षेप होता देख महाचंचल हो जो सदाशिव के जटामंडल में नृत्य-सा करने लगे ऐसे यह तेरे तरंग हम पावन करें।

विभूषितानङ्गरिपूत्तमाङ्गा सद्यः कृतानेकजनार्त्तिभङ्गा ।
मनोहरोत्तुङ्गचलत्तरङ्गा गंगाममाङ्गान्यमलीकरोतु ॥५२ ॥

आभूषित तनुविनाशक श्रेष्ठ अंगा । शीघ्र कृतामितमनुष्यकलेशभंगा ॥
सौन्दर्यमान अतितुंग चलत्तरंगा मो अंग सो करहि पावन मातु गंगा ॥

•जिसने अपने निवास से शंकर का शिरोभाग आभूषित किया है, जो संसार के अनेक मनुष्यों के अनेक दुखों का शीघ्र ही छेदन करती है और जिसके ऊँचे ऊँचे चंचल तरंग परम शोभायमान लगते हैं ऐसी यह श्री गंगा हमारे सर्वांग को पावन करै।



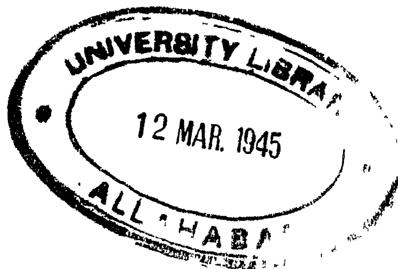
देवीस्तुतिशतक

भूमिका

संस्कृतभाषा में जिनका प्रयोग प्रायः सर्व छोटे-बड़े ग्रन्थों में किया गया है ऐसे गणात्मक छन्द देवनागरी की दो-चार ही पुस्तकों में उपयुक्त हैं यह सब सुज्ञ वाचकों को विदित है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत समय में हमारे विद्वज्जन इस ओर ध्यान नहीं देते यह खेद का विषय है। क्या वे यह समझते हैं कि इस प्रकार के छन्दो का प्रचार होने से हमारी भा ा को विशे शोभा न प्राप्त होगी? जो हो, मुझे तो भगवती का स्वतन करना ही था और संस्कृत में विशेषतः सर्वस्तुति विषयगणात्मक वृत्तों ही में वर्णन किये भी गये हैं अतएव मैंने ऐसे ही छन्दों का प्रयोग करना योग्य समझा।

झाँसी,
२२ जनवरी, १८९२

महावीरप्रसाद द्विवेदी


UNIVERSITY LIBRA
12 MAR. 1945
ALL HABA

श्रीः

देवीस्तुतिशतक

वसन्ततिलका छन्द

(१)

ब्योमाम्बु भूमि अनिलानल तत्त्व माँही,
जाकी कला कुशल व्यापक है सदाहीं।
विश्वेश्वरी जननि सो जग आदिमाया,
राखैं निरोग सब काल हमारि काया॥

(२)

धाता[1] स्वरूप धरि कै रचि सृष्टि सारी,
पालौ प्रजा अखिल अच्युत[2] भेषधारी।
नाशौ बहोरि सब शंकर अंक आई,
लीला अपार तव अम्ब न जाय गाई॥

(३)

नागेन्द्र[3] इन्द्र रवि चन्द्र उपेन्द्र[4] देवा,
जाकी सदा करत प्रेम समेत सेवा।
सो शक्ति जासु सबके उर में बसेरो,
होवै शरीर सुखसाधक हेतु मेरो॥

(४)

धूमावती[5] त्रिपुर सुन्दरि मातु तारा,
पद्मातिकारु भुवनेश्वरि सावतारा।
मातंगि छिन्नशिर भैरवि भव्यनामा,
काली कराल बगलामुखि को प्रणामा॥

(५)

तेरी प्रभा बिन प्रभाकर[6] तेज-हीना,
ताराधिनाथ[7] तव शीतलता अधीना।
दूजे अनेक ग्रह जे मप्रकाशकारी,
होवैं प्रदीप्त द्युति लै जननी तिहारी॥

१–ब्रह्मा, २–विष्णु, ३–शेष, ४–विष्णु, ५–दश महाविद्याओं के नाम इस श्लोक के अन्तर्गत, ६–सूर्य, ७–चन्द्र ।

(६)

ब्रह्मा महेन्द्र निधिनायक[१] नीरनाथा[२],
सानन्द जासु गुण गावत जोरि हाथा।
सत्कीर्ति तासु यह पामर ज्ञानहीना,
हा हा कहै किमि महामति मन्दहीना ॥

(७)

स्वेच्छानुसार वर माँगन मे भवानी,
सेवा कछू करब सेवक धर्म जानी।
देवौं त्वदर्थ कवितामय दीन दासी,
लै लेहु ताहि नतु होहि हमारि हाँसी ॥

(८)

रे रे दिवाकर बहोरि प्रकाशकारी,
दैहौं अवश्य अब दण्ड अतीव भारी।
यों उक्तवान महिषासुर को पछारी,
राजी शिवा जु हरु सोइ व्यथा हमारी ॥

(९)

आरक्त[३] नेत्र करि शस्त्र समस्त साधी,
दैत्याधिराज तनु मध्य कृपाण आधी।
वेगि प्रवेशि कृत जो रव घोर वानी,
देवै शरीरसुखसम्पति सो भवानी ॥

(१०)

इन्द्राणि अम्बुपति-पात्नि[४] कुबेरजाया[५],
होवौ सुखी बचन यों कहि योगमाया।
धाई मृगेन्द्र चढ़ि जो अमरारि आगे,
तासों डराय मम रोग भगैं अभागे ॥

(११)

हा हा हमैं महिषदानव दण्ड भारी,
हे देवि देतु हरु तासु शिर प्रचारी।
जावो तथास्तु इति वादिन[६] इन्द्रपाहीं,
चण्डी हमारि रुज[७] चूर्ण करैं सदाहीं ॥

१—कुबेर, २—वरुण, ३—लाल, ४—वरुण की स्त्री, ५—कुबेर की स्त्री, ६—कहनेवाली, ७—रोग।

(१२)

तीक्ष्ण त्रिशूल महिषासुरकूल माहीं,
पैठे विलोकि तकि तासु शरीर काँहीं।
सक्रोध पृष्ठि-तट ऊपर मारि लाता,
गर्जी जु घोर कह मोर निरोग गाता॥

(१३)

पादारविन्दतल[1] ते शिरमोक्ष[2] हेता,
व्यर्थ प्रयत्न रिपु के लखि मध्य खेता।
तारी बजाय विहँसी जगदम्ब जोई,
कल्याणकारिणि सदा मम होहु सोई॥

(१४)

अत्युग्र गर्जि निज विस्तृत वक्त्र[3] बाई,
वाहद्विषासुरहि[4] आवत देखि धाई।
नाराच जासु प्रविशे सुरशत्रु अंगा,
मत्ताप सो करहि श्री जगदम्ब भंगा॥

(१५)

युद्धप्रसंग महँ जासु अनन्त बाना,
चण्डांशु[5] छाय करि रैनि घनी समाना।
आनन्द दीन कुल कैरव को अपारा,
सन्ताप सो जगतमातु हरै हमारा॥

(१६)

शक्ति त्रिशूल असि पाश गदा कुठारा,
धन्वा धुरीण युत केहरि पै सवारा।
जासों समस्त महिषासुर सैन्य हारी,
ता अष्टबाहु जननीहि नमो हमारी॥

(१७)

संग्रामभूमिगत दैत्य अनेक मारी,
रक्तप्रवाह सब ओर बहाय भारी।
कल्लोलिनीश[6] जिहि लोहित[7] रंग कीन्हे,
मद्दुःख सो हरहि भैरवि खड्ग लीन्हे॥

१—चरण-कमल के नीचे से, २—छूटना ३—मुख, ४—महिषासुर, ५—सूर्य, ६—समुद्र, ७—लाल।

(१८)

स्वर्लोकदेवपतिशत्रु चमू मझारा,
जासु प्रचण्ड हरिनायक[१] दन्त द्वारा।
सोये अनन्त मृतदानव मत्तदन्ती[२],
सो रक्ष मोहि महिषासुरमर्दयन्ती॥

(१९)

पंचाननोपरि[३] दृढ़ासन सिद्ध पाई,
सव्यापसव्य[४] दिशि शक्ति चलच्चलाई।
रुंडावशेषकृत जे सुरशत्रु[५] सारे,
काटै जगज्जननि संकट सो हमारे॥

(२०)

आलोक जासु दृग रोष भरेऽरुणारे,
कम्पायमान अति भे सुर शत्रु सारे।
जाके भुजानि महिषासुर शृङ्ग पारे,
सो अम्ब सर्व मम अंग करै सुखारे॥

(२१)

घंटानिनाद सुन जासु अखण्ड एका,
व्योमोहव्याप्त रजनीचर भे अनेका।
सो देवि जाहि निज दास सदा सुहावै,
हस्तारविन्द मम मस्तक पै लगावै॥

(२२)

पद्मानुकारि पद ते अथवा हमारे,
मेटौ महेश्वरि अवश्य अरिष्ट सारे।
सोऊ बनै न यदि तौ रज तासु डारी,
भारी भयाब्धि[६] सन लेहु हमैं उबारी॥

(२३)

सेना समस्त सुरईश्वरशत्रुवारी,
अट्टाट्टहास जिहिकी मुनि भीतिकारी।
भागी अशस्त्र बनि बोलत दीन बानी,
राखै सुखी हमहिं सो नित रुद्ररानी॥

१–सिंहराज, २–मत्त हस्ती, ३–सिंह के ऊपर, ४–दाहिनी बाईं ओर, ५–दानव, ६–भारी भयरूपी समुद्र।

(२४)

रोमालि[1] जासु छुवतै हरिचक्रधारा,
भै वक्रता महिष के ऽखिलास्थिसारा।
चूर्णीकृताति वत पादतलप्रहारा,
काको अहै अस पराक्रमताधिकारा॥

(२५)

पद्मैव पादमृदुता क्व[2] महा घनेरी,
काठिन्यता क्व महिषासुरपृष्ठ केरी।
कीन्ह्यौ तथापि जिन[3] चूर्ण सुरारिगाता,
मेटै अरिष्ट मम सो सतत प्रभाता॥

(२६)

देवाधिनाथ अरिपृष्ठ कठोर कारी,
तापै स्वपाद अरुणाम्बुज तुल्य धारी।
शोभा ऽद्भुत प्रकट कत्रि त्रिलोकमाता,
मद्देह हेत नित देहि निरोग नाता॥

(२७)

अत्यन्त तीव्र नख रश्मिन ते तपाई,
पद्मांघ्रि[4] जासु महिषासुर को दबाई।
पकद्रवार्थं[5] जनु दीन पठै पताला,
नाशै सदा जननि सो मम रोग जाला॥

(२८)

खड्गप्रहार लगि रक्त नदी बहाई,
जौलौं मरै महिषदैत्य पछार खाई।
तौलौं सुरेश किय पूजन जासु आई,
मद्रोग[6] देहि जगदीश्वरि सो नसाई॥

(२९)

हुंकारशब्द करि कोपकृशानु लाई,
धूम्राक्षदेह द्रुत भस्ममयी बनाई।
देवेन्द्रकाज, हर हेत विभूति ढेरी,
साथै द्वऊ करनि जै जगदम्ब तेरी॥

१—रोमपंक्ति, २—कहाँ, ३—अर्थात् चरणद्वय, ४—कमलरूपी पद, ५—कीच में क्रीड़ा करने के लिए, ६—मेरा रोग।

(३०)

शैलाधिराजशिखरोपर शस्त्र साजी,
घोर स्वरूप निज बाहन पै विराजी।
है चण्डमुण्ड यह यौं मनमाहिं जानी,
मुस्मेरकर्त्रि[१] जयतु त्र्यलोकरानी॥

(३१)

चण्डीललाटतट ते कढ़ि क्रोध पाई,
कीनाशदेश[२] अमरारिअनी[३] पठाई।
सन्तोषवृत्ति चितधारिणि भद्रकाली,
देखै दयासहित मो तन तापघाली॥

(३२)

जाके प्रचण्डनखदन्तप्रहार खाई,
देवारिसैन्य[४] पल माहिं गई बिलाई।
सो सिंह हे जननि बेग तुम्हैं चढ़ाई,
होवै ममाङ्गसुखसाधन में सहाई॥

(३३)

नाहीं सहाय कर काज कछू दिखावै,
भाष्यौं प्रमादवश मैं यह चित्त आवै।
लक्षावधि प्रबल दैत्यन जे पछारा,
मद्दुःख नाश महँ ताहिं कितेक बारा॥

(३४)

ज्यौं शब्दमात्र करि शुम्भ अनीश[५] मारा,
संहार त्यों न सबको करिबे बिचारा।
काली क्षुधार्त उदरांतरभक्ष्यहेता,
शस्त्रप्रहार करि कौतुक कीन्ह एता॥

(३५)

पृथ्वी अकाश बिच जे न सके समाई,
ते रक्तबीज निज आनन माहिं नाई।
दंष्ट्रा[६] दबाय सब काहिं लयो चबाई,
काली किती अहह त्वद्विभुताधिकाई[७]॥

१—मन्द हास करनेवाली, २—यमलोक, ३—दैत्यसैन्य, ४—दैत्यों की सेना। ५—शुम्भ नामक दैत्य का सेनापति; ६—डाढ़, ७—तेरे प्रभुत्व का आधिक्य।

(३६)

शुंभप्रतापरुजपीड़ित स्वर्गस्वामी[1],
त्वत्कीर्ति गाय बहुबार कही नमामी।
मैं तौ मनुष्य ग्रह कष्ट कृशानुजारो,
हे देवि द्वार किहि भाँति तजौं तिहारो ॥

(३७)

पक्षीशपृष्ठ[2] पर बैठि सबेग आई,
सर्वास्त्र शस्त्र धरि पैठि रणाङ्गनाई।
काटे सुरारि सिर जो सब ओर धाई,
सो वैष्णवी हरहि मद्रुज दुःखदाई ॥

(३८)

हारे हजार विधि जासन लोकपाला,
जाके प्रतापभय भानु भयौ बिहाला।
ता शुम्भ दैत्यपति के पल माहिं प्राना,
लीन्ह्यौ अहो तव प्रभुत्व महामहाना ॥

(३९)

कोदण्ड[3] कर्ण लगि तानि मुरारि ताकी[4],
बेगि प्रचण्ड शर मारन माहिं जाकी।
टेढ़ी बिलोकि भृकुटी अरिसैन्य थाकी,
भागैं हमार दुख देखि कृपाण ताकी[5] ॥

(४०)

दैत्येन्द्रयुद्ध महँ लोहित नेत्र री,
पूर्णेन्दु वक्त्र बिच वारिकण प्रसारी।
वाणावली हनन हारि शिवा तिहारी,
संक्रुद्धमूर्ति मम दुःख दहै प्रचारी ॥

(४१)

वृत्रारिवज्र[6] यमदण्ड अति प्रचण्डा,
भे जासु अङ्ग महँ लागत खंड खंडा।
ता शुम्भ दैत्य कहँ काटन में प्रवीना,
कात्यायिनी करहि मोहि व्यथाविहीना ॥

१—इन्द्र, २—गरुड़ की पीठ, ३—धनुष, ४—तक के, ५—तिसकी, ६—इन्द्र का कुलिश।

(४२)

आकर्ण[१] चापगुण[२] औ पद वाम आगे,
द्वौ स्कन्ध नम्र दृग क्रोध कृशानु पागे।
संग्रामशालि अस उग्र स्वरूप तेरो,
सन्धानि तीव्र शर छेदहि रोग मेरो॥

(४३)

कै रक्तबीज सम उद्भट दुष्ट मारे,
काकी सहाय रण में निज शस्त्र धारे।
कीन्ही हरीन्द्र विधि शक्तिनहूँ भवानी,
तेरी समान इक तू यह सत्य बानी॥

(४४)

मैं प्रेमपूरि जगदम्ब त्वदीय गाथा,
गावौं जऊ विपुल बार नवाय माथा।
जावै तऊ न ज्वर जीवन दुःखदाता,
आश्चर्य याहि कहु को कहिहै न माता॥

(४५)

दुर्गे दशा जु असि होइहि देश माहीं,
राखी बताउ फिरि को तव भक्त काहीं।
कारुण्यनीरनिधिईश्वरि[३] नाम पाई,
काहे न अम्ब अवलम्बन देहि आई॥

(४६)

तोकों अयुक्त कहिबो जड़ता हमारी,
कीन्हें ऽपराध कछु मैंहि महान भारी।
जाते विलम्ब भइ भाषत कीर्ति तेरी,
देवि क्षमस्व[४] अब सो सब भूल मेरी॥

(४७)

सस्नेह पूजि जिनको नर नेमधारी,
पावैं कवीन्द्रपद पावन कीर्तिकारी।
नावैं नृदेव[५] जिन पायन पै स्वमाथा,
दण्डप्रणाम तिनको मम जोरि हाथा॥

१—कर्णपर्यन्त, २—धनुष की डोरी, (ज्याबन्ध) ३—करुणारूपी समुद्र की स्वामिनी, ४—क्षमा कीजिए, ५—नर और सुर।

(४८)

बालार्कबिम्बरुचिरारुणअंशुमाला[1],
उत्फुल्लकोकनदकोमलता[2] विशाला।
होवैं सलज्ज गुणि जासु गुणानुवादा,
त्वत्पादयुग्म सुइ मोर हरै विषादा ॥

(४९)

शोभाभरी त्रिपुरसुन्दरि देवि तोरी,
जंघा महानुपम स्वर्ण[3] समान गोरी।
रम्भाप्रकाण्ड[4] हित माँहि अनेक बाराऽ-,
हंभाव[5] त्यागु मि बोलि करैं दरारा॥

(५०)

लावण्यतासरित[6] त्वत्त्रिवली भवानी,
दाया अभीति वरदानवरिष्ठवानी।
ये तीनि अर्थ त्रयरेखनि ते पुकारी,
धैर्यावलम्ब जनु भक्तहिं देहि भारी॥

(५१)

त्रैलोक्यजीवजननीकुचकुम्भ दोऊ,
सामान्य नारि अनुमानि कहै न कोऊ।
काव्यप्रथोक्त तिहि कारण मैं न गावौं,
वात्सल्यभाव निज काढ़ि कहाँ दुरावौं॥

(५२)

नक्षत्र व्योम बिच रैनि भये दिखाहीं,
कल्याणि पै तव कुशेशयकण्ठ[7] माही।
कार्तस्वराभरण[8] मध्य सदा समाना,
तारास्वरूप सितरत्न प्रकाशमाना॥

१—बालसूर्य्य की मनोहर और अरुणरंगी किरणें, २—कुसुमित कमल की कोमलता, ३—सुवर्ण, ४—कदलीस्तम्भ, ५—मैंपन, ६—सौन्दर्यतारूपी सरिता, ७—कमल का कोमल दंड ८—सुवर्ण के अलंकार।

(५३)

आभोर नीर महँ ज्यौं रवि सिद्धि साधै,
त्यौं जो सरोज निशि में शशिहूँ अराधै।
तौ पाय भाग्यवश कोमलताधिकाई,
होवै त्वदीय कर को उपमान आई॥

(५४)

बिम्बाफलाल्प समयोत्तर शुष्क होवै,
आरक्तता नवलपल्लव नित्य खोवै।
तातें तवौष्ठ उपमा निज युक्ति द्वारा,
ढूँढ़ौं यदि श्रम वृथा मम होहि सारा॥

(५५)

चन्द्रप्रभा मलिन होहि बिलोकि जाही,
शुभ्रामृत स्वगतगर्व तजै सराही।
शर्वाणि सो तव महोज्ज्वल[1] मंदहासा,
नाशै मदीय विविध ज्वरज्वालत्रासा॥

(५६)

राकेन्दु धोय स्वकलंक भले प्रकारा,
शोभासमुद्र महँ स्नान सहस्रबारा।
कै कै कढ़े जिहि विलोकत शंक मानै,
देवि त्वदीय मुख सो कहु को बखानै॥

(५७)

फुल्लारविन्द विजयी दृग देवि केरे,
टेढ़े कटाक्ष तिनके विशिखेव[2] प्रेरे।
देखि व्यथाकुलित होत दुरैं दुखारे,
हैं जे हमारि रुज जेतिक होनहारे॥

(५८)

भ्रूबंकभाव तव देखि अनंगचापा,
लज्जावश त्वरित टूट सही न दापा।
मोरे मते मदन ता दिन ते सकाई,
कोदंड[3] पुष्पमय कीन गुणी बुलाई॥

१—महा उज्ज्वल, २—विशिख (वाण) के समान, ३—धनुष।

(५९)

ताटंकलोललहरी जननी तिहारी,
सौन्दर्यसारसुखमा उपमानवारी।
प्रातप्रभासमय मो तनतापटारी,
देवैं शुचिस्मरण आपन विघ्नहारी ।।

(६०)

पीबै शताब्द[१] दश धूम धुरीणधारा,
व्यापार और तजि जो नित अन्धकारा।
त्वत्केशपाश उपमा तिहिकी भवानी,
देवै सशंक तउ कोविदवर्गवानी ।।

(६१)

सेवा महान् चिरकाल करै सनेमा,
होवैं प्रसन्न सुर अन्य विलोकि प्रेमा।
जातै परन्तु तव सम्मुख सिद्धि सारी,
आवै तुरन्त यह रीति इहैं निहारी ।।

(६२)

दै दै यथेष्ट फल भक्तन को सदा हीं,
अत्यन्त शुभ्र यश पूरि अकाश माहीं।
कीन्ह्यो स्वयं तुमहि सूचित सर्वकाहीं,
गायें चरित्र मम दुःख विचित्र जाहीं ।।

(६३)

इच्छा नितान्त[२] जब तेरिहि या प्रकारा,
काहे न जाय जग धाय त्वदीय द्वारा।
मोंको भवानि येहिते अतिही दृढ़ाशा,
देहौं चहौं जु इमि बोलि कहौं प्रकाशा ।।

(६४)

होवैं महाजन निज स्तुति ते सरोषा,
जानौं न सो यह न लागत मोहि दोषा।
द्वारे परन्तु सुनि याचक दीन बानी,
देवै न देवि कहु को कछु ताहि आनी ।।

१—अब्द संवत्सर वर्ष, २—अत्यन्त।

(६५)

भक्तेप्सित[१] त्वरित दान विधान केरे,
दृष्टान्त जो न जग होति अजौं घनेरे ।
ताको त्वदीय विनती करि देवि तारा,
इच्छानुकूल वर माँगत बारबारा ।।

(६६)

सत्स्तोत्रकार विधि इन्द्र गिरीन्द्र[२] वासा,
अर्थीष्टदान[३] महँ दिव्यदया विकासा ।
त्रैलोक्य व्याप्त यश देवि कहौ विचारो,
होवै यथार्थ तुलना किहिते तिहारो ।।

(६७)

हस्तप्रसारि अरु बोलि विनम्रबानी,
दण्डप्रणाम शिरसा[४] करि इन्द्ररानी ।
सीमंतदेश[५] महँ त्वत्पदधूरि लाई,
अत्यन्त होति कृतकृत्य प्रमोद पाई ।।

(६८)

जै नम्रमाथसुरनारिन[६] अंग गोरे,
देवैं बनाय जनु कुंकुमरंग बोरे ।
बालार्कदीप्ति निज सन्मुख दीन सोई,
देवि त्वदंघ्रि[७] मम संकट देहि खोई ।।

(६९)

भोगी[८]चितारज पिशाच नृमुण्डहारा,
ऐसो अमांगलिक शंकर साज सारा ।
ईशान पाय सहवास अहो तिहारा,
मांगल्यमूलमय होहि महा अपारा ।।

१—ईप्सित अभीष्ट; २—हिमालय; ३—अर्थी याचक, इष्ट अभीष्ट; ४—सिर से, ५—सीमन्त-केश-वेश, ६—नवाये हैं माथ जिन्होंने ऐसी देवांगनाओं को, ७—चरण, ८—सर्प ।

(७०)

आधार लोक त्रय की सुविकारहीना,
मोहान्धकार कहँ नाशन में प्रवीना।
कालैव क्रुद्ध पँगुधारिनि पाय सौहीं[१],
सन्तापदाप अपहारिनि नौमि तोहीं॥

(७१)

चैतन्य तूहि चतुरा गुणज्ञानखानी,
सौन्दर्यसार इक तू सबमें समानी।
सत्या तुही सतत सौम्यतर स्वभावा,
लोकोत्तर प्रखर तेरहि है प्रभावा॥

(७२)

बाणी तुही बुधि तुही वरब्रह्मरूपा,
तूही विशिष्ट वरदायिनि है अनूपा।
तूही विशाल परमेश्वरि तूहि थोरी,
वृद्धा युवा शिशु तुही शुचि श्याम गोरी॥

(७३)

भावी व्यतीत अरु सम्प्रति[२] काल ज्ञाता,
तूही सतोरजतमोगुण पूर्णगाता।
आद्यंतहीन अखिलेश्वरि तूहि एका,
है तूहि जाहि जपते तपसी अनेका॥

(७४)

नित्या तुही निखिललोकनिवासदेहा,
स्वर्गापवर्गसुखदा सबसिद्धिगेहा।
सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणि तूहि माया,
तूही दिवारजनिकारण तूहि दाया॥

(७५)

विद्या तुही विधु[३] दिनेशहु तूहि सोहै,
ब्रह्मा हरीश कहँ तेरहि शक्ति मोहै।
दिव्यप्रकाशमय तूहि तपप्रसादा,
देवै तुही जननि तूहि हरै विषादा॥

१—सन्मुख। २—वर्तमान। ३—चन्द्रमा।

(७६)

पद्मा[1] तुही परमरम्य शिवा[2] विधात्री,
तूही जलस्थलथिरा जगमुक्तिदात्री।
तंत्रोक्तमंत्रमय तूहि श्रुति प्रमाना,
त्रैलोक्यगम्यगति तेरिहि सुप्रधाना ॥

(७७)

तूही धरा धन धुरन्धर धर्मधारा,
सत्कर्म सामयजुऋग्वरवेदसारा।
आकाश तूहि पय पावक तूहि बाता[3],
सर्वत्र विश्वबिच व्यापक तूहि माता ॥

(७८)

तेरी कृपा बिन तवस्तुतिवृत्त माहीं,
लागै न चित्त श्रमजात सबै बृथा हीं।
ताते शिवाजु कछु मो मुख ते कहावौ,
स्वीकार तासु करि देह व्यथा बहावौ ॥

(७९)

अत्यल्पअर्भक[4] समान बिना विचारे,
गाये सुने जु गुणग्राम शिवा तिहारे।
देहौ हमें अधिक जो अबहूँ सिखाई,
सूक्ति[5] प्रयोग करिहौं तव हेत माई ॥

(८०)

कीन्हें महत्वपरिपूरितकाज नाना,
दीन्हें अनन्त अबलौं अभयप्रदाना[6]।
मच्चित्तवृत्ति अनुलक्षितकृत्य माहीं,
संकोच तोहि भुवनेश्वरि योग्य नाहीं ॥

(८१)

नाना उपाधि जिन दैत्यन कीन्ह सोऊ,
दीन्ह्यौं पठाय सुरलोक बचे न कोऊ।
दाया तिहारि जब दुष्टनहू न त्यागै,
तौ भक्तभाग्य फिरि को कहि पार लागै ॥

१—लक्ष्मी, २—पार्वती, ३—पवन, ४—बालक, ५—सु उक्ति—अच्छी उक्ति, ६—अभयदान।

(८२)

कालानुरूप[1] अवलोकि न यत्न मेरो,
ह्वै है सहास्य मुख नास्तिकवर्ग केरो।
मोंको परन्तु तजि और उपाय माता,
भायौ तव स्तवन मङ्गलमूलदाता ॥

(८३)

त्वच्छक्तिहीन[2] भुवनेश्वरि कौन देवा,
को को न कीन करजोरि तिहारि सेवा।
चाहै वृथा बनहिं औरन केरि गाथा,
सोहै परन्तु विनती तव नाम साथा ॥

(८४)

स्वस्वेष्टदेव गुणवर्णन बात दूजी,
काकी परन्तु बिन त्वत्पद आश पूजी।
दैत्येन्द्र शम्भु महिषासुर बेर आये,
काहे न और सुर शस्त्र सुधारि धाये ॥

(८५)

त्वद्वंदना करि सगद्गदकण्ठबानी,
पैहौं अभीष्ट निज जो न गिरीशरानी।
जैहौं कहाँ शरण श्रेष्ठ विहाय तेरो,
देखौ विचारि करुणावति मातु मेरी ॥

(८६)

योगेश्वरी विपुल वैभवदा[3] सुकेशी[4],
दिग्वस्त्रयुक्त[5] अतिउच्च उरोजदेशी[6]।
हे भक्तकल्पलतिका जगमातु काली,
देरी दुराय हनियै मम व्याधिव्याली ॥

१—आजकल जैसा समय लगा है वैसा, २—त्वत्‌शक्ति व त्वच्छक्ति, ३—बहुत वैभव को देनेवाली, ४—अच्छे हों केश जिसके, ५—दिगम्बर, ६—अत्यन्त उच्च है कुचप्रदेश जिसका।

(८७)

शर्वाणि त्वच्चरण चारु सरोज माहीं,
भृंगायमान[1] जन जे तिनको सदाहीं।
विद्याविवेक बुधि वित्त विशिष्ट भोगा,
आवै प्रसन्नमन सर्वेडराहिं रोगा ॥

(८८)

विष्णु त्रिनेत्र विधि जासु न अन्त पावा,
ताकी कथा कथन में चित मैं लगावा।
हे हे भवानि यह मोर महा ढिठाई,
पै हौ करौं कहु न त्वत्पदप्रीति जाई ॥

(८९)

तेरी कृपा तनिक होतहि वागधारा[2],
काढै कवीन्द्र मुखमारग ते अपारा।
देवौ प्रसाद फिर जा कहँ चित्त लाई,
सौभाग्य तासु शतशेष सकैं न गाई ॥

(९०)

त्वत्पादपद्म युगचिन्तन चित्त लाई,
कीन्ह्यौं न आजु लगि मानुष देह पाई।
लीन्ह्यौं मुहूर्त[3] भरि मातु न नाम तेरो,
चंडि क्षमा करहु सो अपराध मेरो ॥

(९१)

लोकप्रशंसित महौषधि निर्विकारी,
खोये जऊ प्रथम रोग असाध्य भारी।
रोगी तऊ न तब लौ गुण तासु गावै,
जौ लौ शरीर रुज दुःख न मो नसावै ॥

(९२)

जौ लौं सुखी शिशु[4] सखागण संग पाई,
तौ लौ न मातु पहँ रोवत आय धाई।
लेवै परन्तु जननी तउ अंक ताही,
देवै न दोष हरती दुखद व्यथा ही ॥

१–भ्रमर के सामान आचरण करनेवाले, २–वाग (शुद्ध संस्कृत वाक्) वाणी, ३–पल, ४–बालक।

(९३)

सौन्दर्यमान वर बालक शुद्धदेहा,
चाहैं समस्त नर नारि सने सनेहा ।
जे रूपहीन नितरोगिहि लेन काहीं,
को है समर्थ बिन मातु त्रिलोक माहीं ।।

(९४)

पीयूषपूर्णदृग तू जननी हमारी,
सन्तापतप्त तन बालक मैं दुखारी ।
सम्बन्ध सत्य अस देवि हिये विचारी,
कीजै यथा उचित मातु हमैं निहारी ।।

(९५)

अन्यान्य देवप्रतिमा[१] यहि लोक माहीं,
पूजी क्वचित्क्वचित प्रीति समेत जाही ।
पै भक्तियुक्त तव मूरति ग्राम ग्रामा,
सेवैं न जे असि न एकहु नष्टनामा ।।

(९६)

स्नेहाम्बुयुक्त[२] मम हृत्पद अल्पताला,
तत्पद्मरूप शतपद्मप्रसूनमाला ।
अंगीकृत त्रिपुरसुन्दरि ताहि कीजै ;
मेरी विनीत विनती पर ध्यान दीजै ।।

(९७)

बीरा समस्त-जन-रक्षण को उठाई,
रक्षा हमारि करिये अब बेगि आई ।
स्वाती सरोष लखि चातक जीव जाई,
भूलै न याहि जगदम्ब विलम्ब लाई ।।

(९८)

अद्य[३] प्रयन्त जिन याचक कीन्ह जोई,
पायौ तुरन्त तिन देवि यथेष्ट सोई ।
जो मौन धारि तजिहौ अब आजु मोही,
हा हा मनुष्य कहिहैं कह मातु तोहीं ।।

१–प्रतिमा, २–स्नेहरूपी जल से पूरित, ३–आज तक ।

(९९)

देखी जिती जननि त्वत्स्तुति लोक माहीं,
मत्पद्य तुल्य तिनकी तिलमात्र नाहीं।
हे ईश्वरी तदपि स्वेच्छित काज जानी,
लीजै सुधारि यह युक्त अयुक्त बानी॥

(१००)

एती कही स्तुति शिवा सुनिकै हमारी,
आरोग्य देहु दलि दुःखद व्याधि सारी।
सप्रेम हे भगवती महि माथ धारी,
माँगौ हहा यहहि हस्तयुग प्रसारी॥

काव्य-मञ्जूषा

भूमिका

गत कई वर्षों से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्फुट कविता हिन्दी तथा संस्कृत के मुख्य मुख्य समाचार-पत्रों और मासिक पुस्तकों में, समय समय पर, बराबर प्रकाशित होती आई है। पण्डित जी की कविता में जो रस और जो अर्थ-गौरव रहता है, वह काव्य-रसिकों से छिपा नहीं है। उनकी सरस और मनोहारिणी कविता की प्रशंसा नागरी-प्रचारिणी सभा, संस्कृत-चन्द्रिका, हिन्दी-वंगवासी, राजपूत और हिन्दोस्थान आदि ने मुक्त-कण्ठ से की है।

ऐसी मनोहर कविता को एकत्र करना परमोपयोगी समझकर, आज तक, पण्डित जी के जितने कविता-रत्न प्रकाशित हो चुके हैं उन सबका संग्रह, हमने, इस पुस्तकरूपी मञ्जूषा मे रख दिया है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते, उनके लिए, पण्डित जी का ही लिखा हुआ संस्कृत-कविताओं का भावार्थ भी हमने, हिन्दी में, सन्निविष्ट कर दिया है। आशा है, कविता के प्रेमियों को, यह संग्रह रुचिकर होगा।

जयपुर,
१५ मार्च, १९०३

जैन वैद्य

काव्य-मञ्जूषा

१—शिवाष्टकम्

(संस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य सप्तमसंख्यायां प्रकाशितम्)

(१)

शीतांशुशुभ्रकलया कलितोत्तमाङ्गं
ध्यानस्थितं धरणिभृत्तनयार्चितं तम्।
कालानलोपमहलाहलकृष्णकण्ठं
विश्वेश्वरं कलिमलापहरं नमामि ॥

चन्द्रमा की शुभ्रकला से सुशोभित है शिरोभाग जिनका, योगध्यान में मग्न हैं जो, पार्वती ने पूजन किया है जिनका; कालानल के समान दुर्धर हलाहल से कृष्णवर्ण हो गया है कण्ठ जिनका, कलि के मल का नाश करनेवाले ऐसे विश्वेश्वर को हम नमस्कार करते हैं।

(२)

गायन्ति यस्य चरितानि महाद्भुतानि
पद्मोद्भवोद्भवमुखाः सततं मुनीन्द्राः।
ध्यायन्ति यं यमिनमिन्दुकलावतंसं
सन्तः समाधिनिरतास्तमहं नमामि ॥

जिनके अद्भुत चरित्रों को नारदादि मुनीश गान करते हैं, समाधिस्थ योगिजन जिनका ध्यान करते हैं, यमादि योग के अंगों में प्रवीण उन चन्द्रशेखर शंकर को नमस्कार है।

(३)

त्रैलोक्यमेतदखिलं ससुरासुरञ्च
भस्मीभवेद्यदि न यो दययार्द्रदेहः।
पीत्वाऽहरद् गरलमाशु भयं तदुत्थं
विश्वावनैकनिरताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

विश्व की रक्षा में निरत उस परम पुरु को हमारा नमस्कार है, जो, दयार्द्र होकर, गरलपानपूर्वक, तज्जनित भय यदि दूर न करता तो सुरासुरसहित यह सारा संसार भस्म हो जाता।

(४)

पापप्रसाधनरता दितिजा अपीन्द्रं
सद्यो विजित्य सुरधामधराधिपत्यम्।
यस्य प्रसादबललेशवशादवाप्ता-
स्तस्मै ममास्तु विनतिः परमेश्वराय ॥

परम पापिष्ठ राक्षस भी जिसके किंचिन्मात्र प्रसाद को पाकर, इन्द्र को परास्त कर, सुरलोक के अधीश्वर हो गये, उस परमेश्वर को हमारा प्रणाम।

(५)

नो शक्यमुग्रतपसाऽपि युगान्तरेण
प्राप्तुं यदन्यसुरपुङ्गवतस्तदेव।
भक्त्या सकृन्नतयैव सदा ददाति
यो नौमि नम्रशिरसा च तमाशुतोषम् ॥

युग के युग उग्र तपस्या करने पर भी, जो वस्तु बड़े बड़े अन्य देवताओं से नहीं मिलती, उसे भक्तिभावपूर्वक एक बार नमस्कृतिमात्र करने से जो देता है, उस आशुतोष शंकर को हम सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं।

(६)

भूतिप्रियोऽपि वितरत्यनिशं विभूतिं
भक्ताय यः फणिगणानपि धारयन् सन्।
हन्ति प्रचण्डभवभीमभुजङ्गभीतिं
तस्मै नमोऽस्तु सततं मम शङ्कराय ॥

भूति (भस्म) प्रिय* होकर भी जो अपने भक्तों को अहर्निश विभूति (ऐश्वर्य) वितरण करता है; सर्पों के समूह को धारण† करके भी जो भव-

* जो वस्तु जिसे प्रिय है वह औरों को नहीं देता, परन्तु यहाँ उसका विपर्यय देख पड़ता है, यह विलक्षणता है।

† अपने घर में भरे हुए सहस्रशः सर्पों के भय का प्रतीकार न करके तज्जनित दूसरों के भय को दूर करने के लिए दौड़ना विचित्रता है।

सागररूपी भीषण भुजंग के भय को नाश करता है, ऐसे परम कल्याणरूपी शंकर को हमारा सतत प्रणाम है।

(७)

येषां भयेन विबुधा रजनीचराणा
नो तत्यजुर्हिममहीध्रगुहागृहाणि ।
हत्वा ददौ समिति तानपि शैवधाम
त्वत्तः परोऽस्ति परमेश्वर ! को दयालुः ॥

जिन राक्षसों के भय से हिमालय के गुहागृहों को देवता लोग न छो सके, उन्हें भी समर में संहार करके आपने अपने धाम को पहुँचाया ! हे परमेश्वर ! आपसे अधिक दयालु और कौन है ?

(८)

अर्चा कृता न, तव नाम हर ! स्मृतन्न
नो भक्तवत्सल ! कृतं तव किञ्चिदन्यत् ।
वीक्ष्य स्वपादकमलोपनतं तथाऽपि
मां पाहि कारुणिकमौलिमणे ! महेश !

हमने न तो कभी आपका पूजन किया, न कभी आपके नाम का जप किया, न और ही कुछ हमसे हो सका; तथापि, हे कारुणिकश्रेष्ठ ! हे भक्तवत्सल शंकर ! अपने चरणकमलों मे नत देख आप हमारा रक्षण कीजिए।

(९)

महावीरप्रसादो यो द्विवेदिकुलसम्भवः ।
स भक्त्या परया युक्तश्चकारेदं शिवाष्टकम् ॥

द्विवेद्विकुल में उत्पन्न हुए महावीरप्रसाद ने, परमभक्ति-युक्त होकर, इस शिवाष्टक की रचना की।

२—प्रभात-वर्णनम्

(संस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य द्वादशसंख्यायां प्रकाशितम्)

(१)

ममाऽचिरात् सम्भविता समाप्तिः
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।
उषः प्रकाशप्रतिभामिषेण
विभावरी पाण्डुरतां बभार॥

'थोड़ी ही देर में मेरा अन्त हो जायगा' इस प्रकार हृदय में मानो चिन्तना करती हुई रात्रि ने प्रभात की अरुणाई के मिष, शोक से, पाण्डुरता को धारण किया।

(२)

मृगाधिपस्यागमनेन सर्वे
यथाल्पसत्वा विपिनं त्यजन्ति।
तथा भयेनेव विभाकरस्य
तारागणा लोपपरा बभूवुः॥

सिंह के आते ही जैसे और सब जंगली जीव, जंगल को छोड़, अन्यत्र चले जाते हैं, वैसे ही सूर्य के भय से भीत-से हुए तारागण धीरे धीरे लोप होने लगे।

(३)

श्यामां सिषेवे चतुरोऽपि यामान्
यां वीक्ष्य तस्याः पतनं शशाङ्कः।
मन्ये महाशोकसमाप्लुताङ्गः
स पश्चिमाम्भोधिजले पपात॥

जिस श्यामा (रात्रि तथा षोडशवार्षिकी नवला कामिनी) का बराबर चार पहर पर्यन्त सेवन किया उसी का नाश होता देख, अत्यन्त शोकाकुल होकर, हमारी समझ में, यह चन्द्रमा, पश्चिम समुद्र में डूब मरा।

(४)

अलंकृतोऽयं महसोदयाद्रि-
सिंहासनस्थो भविता क्षणेन।

ति प्रभाते विरुतिच्छलेन
द्विजा दिनेशस्य जगुर्यशांसि ॥

अपने तेज से अलंकृत होकर, सूर्य अब शीघ्र ही उदयाचलरूपी ऊँचे सिंहासन पर विराजमान होगा, यह जानकर, द्विज (पक्षी तथा ब्राह्मण) अपनी चहु-चहाहट के बहाने मानों उसका यश गान करने लगे।

(५)

क्व मामनादृत्य निशान्धकारः
पलाय्य पापः किल यास्यतीति ।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानु-
रङ्गाररूपः सहसाऽऽविरासीत् ॥

"'रात्रि-सम्बन्धी यह दुष्ट अन्धकार, हमारा अनादर करके, अब कहाँ भग कर जायगा ?' इस प्रकार भावना करता हुआ, क्रोध से अंगार के समान जलता-सा, लाल सूर्य अकस्मात् निकल आया ।

(६)

दृष्ट्वा पतन्तं रविबिम्बमारात्
दिवस्तमिस्रेण तिरोबभूवे ।
महात्मनां सम्मुखसंस्थितो हि
कियत्क्षणं स्थास्यति दुर्विनीतः ?॥

सूर्य के बिम्ब को वेग के साथ आकाश से निकलते देख अन्धकार लोप हो गया। ठीक है; महात्माओ के सम्मुख दुर्विनीत मनुष्य कितनी देर ठहर सकेगा ?

(७)

कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
वनेषु पुष्पैः सवितुः सपर्य्या
तत्पादसंस्पर्शनया कृताऽऽसीत् ॥

स्वच्छ जल जिनमें भरा हुआ है ऐसे जलाशयो में कमलों से, घरों में स्त्रियों के मुखरूपी अम्भोजदलों से, वन में नाना प्रकार के फूलों से, उसके पाद (किरण) स्पर्श-द्वारा सूर्य की पूजा-सी हो गई ।

(८)

प्राप्योदयं कजकोशलीनान्
सद्यो मुमोचालिगणान् दिनेशः।
यद्वैभवे सत्यपि दैन्यदग्धान्
दुःखार्णवात् के न समुद्धरन्ति ? ॥

रात को कमलों में जो भ्रमर बन्द हो गये थे, उदय होते ही सूर्य ने उनको मुक्त कर दिया। सच है; विभव प्राप्त होने पर, दीन जनों को आपत्ति-सागर से कौन नहीं उद्धरण करता ?

(९)

त्वया समस्तं तिमिरं निरस्तं
कृतो महानुग्रह एष देव ?
खगा इदं बोधयितुं रविन्नु
तदुन्मुखा नीडगृहेषु तस्थुः ॥

'तूने सारे अन्धकार का नाश कर हमारे ऊपर महान् अनुग्रह किया।' क्या इस प्रकार सूर्य्य को कहने के लिए अपने-अपने घोसलों में उसकी ओर मुख करके ये सब पक्षी बैठे हैं ?

(१०)

गावो वनं फुल्ललतां द्विरेफा
द्विजाश्च सन्ध्यासमुपासनार्थम्।
कृषीवलाः स्वेष्टकृतिं प्रकर्तुं
जग्मुर्दिनेशाय नतिं विधाय॥

सूर्य को नमस्कार करके, गायें इत्यादि पशु जंगल को, भ्रमर फूली हुई लताओं को, ब्राह्मण सन्ध्या करने को, और कृषिकार अपना-अपना कृषि-कार्य देखने को गये।

(११)

इति तिमिरमुदस्य व्योममार्गेण पश्यन्
निखिलजनसमूहान् स्वस्ववृत्तौ विलग्नान्।
मुदित इव विवस्वान् शुक्लवर्णं बिभर्ति
तमहमपि च नत्वैतस्य पूर्तिं तनोमि॥

इस प्रकार अन्धकार का उच्छेद करके, आकाशमार्ग से सब लोगों को अपने अपने कार्य में लगे हुए देख, मुदित-सा हुआ सूर्य्य, शुक्लवर्ण धारण करता है; अतः हम भी उसको प्रणाम करके अब इसे समाप्त करते हैं।

३—अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः

(संस्कृतचन्द्रिकायाश्चतुर्थखण्डस्य अष्टमसंख्यायां प्रकाशिता)

(१)

श्रीमत्प्रतापमहिपाल ! विशालभाल !
काव्यार्थचिन्तककवीश्वरकण्ठमाल !
नित्यं प्रजाजनविपत्तिविनाशकाल !
भूयाः सदा सुखसमृद्धिसुतान्वितस्त्वम् ॥

काव्यार्थ का चिन्तन करनेवाले कवीश्वरों के कंठमाल; नित्यप्रति प्रजा की विपत्ति नाश करने मे कालरूप; हे विशालभाल! श्रीप्रतापनरेश! आप सदैव सुख से, ऋद्धि-सिद्धि से तथा पुत्रादि मे युक्त रहें!

(२)

विद्वल्ललाम ! भुवि विश्रुत ! पूर्णकाम !
विश्वोपकाररत ! सर्वगुणैकधाम !
स्वप्रान्त 'कौंसिल' सभासदसत्प्रदीप ।
कीर्तिर्दिवं व्रजतु ते सततं महीप !

आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं; आप सारे संसार में विख्यात है; आपकी सकल कामनायें पूरी हुई हैं; आप विश्वोपकार में सदा रत रहते हैं; आपमे सारे गुण वास करते हैं; आप अपने प्रान्त के "कौंसिल" के सभासदों मे दीपक के तुल्य प्रकाशित हैं। हे राजन्! आपकी कीर्ति देवलोकपर्यन्त विचरण करे—यही हमारा आशीर्वाद है।

(३)

वाल्मीकिजा, कविकुलस्तुतकालिदास-
पत्नी, सुबन्धुधनिकादिकपूज्यमाता ।

जीर्णाखिलाङ्गकवितावनिता चिरेण
त्वा प्राप्य वैद्यमिव नीरुजतां दधाति ॥

वाल्मीकि मुनि की कन्या, कवियों ने जिसकी स्तुति की है ऐसे कालिदास की पत्नी, तथा सुबन्धु धनिकादिपंडितों की माता, जीर्ण अंगो को धारण करनेवाली यह कवितारूपी कान्ता, सद्वैद्य के समान आपको पाकर, फिर हरी-भरी हो गई है।

(४)

या 'के-सि-आइ-इय' इत्यतिमानमूला
दत्ता प्रशस्तपदवी भवते च राज्ञ्या।
कार्तस्वरेण सह रत्नमिवाविभाति
सा कोसलेश ! तव नामसमागमेन ॥

हे कोसलेश ! आपको जो के० सी० आई० ई० की अति माननीया उत्तम पदवी रानी ने प्रदान की है वह, सुवर्ण के साथ रत्न के समान, आपके नाम के संयोग से शोभा पाती है।

(५)

त्वां वीक्ष्य दाननिरतं सततं नरेश !
लज्जाविनम्रवदनः सुरपादपः सः।
शंके सुमेरुगिरिगह्वरमाविवेश
नो चेत्, कथं न भुवि लोचनलक्ष्यमेति ?

हे नरेश ! आपको सतत दाननिरत देखकर, लज्जा से अपना सिर नीचा करके, वह जगत्प्रसिद्ध कल्पवृक्ष, हमारे जान, मेरुपर्वत की कन्दरा में छिप गया है। यदि ऐसा न होता तो वह भूमंडल में दिखाई क्यों न देता ?

(६)

दानं, दयाधन ! दया, नयनैपुणञ्च
शास्त्रे गतिं जनहिताचरणे रतिं ते।
दृष्ट्वा दिलीपरघुरामकुशाजमुख्यान्
भूपांश्च न स्मरति पूर्वभवानयोध्या ॥

हे दयाधन ! आपकी दया, आपका नीतिनैपुण्य, शास्त्र में आपकी गति तथा लोकहित में आपकी प्रीति को देखकर आपकी राजधानी, यह अयोध्या, दिलीप, रघु, रामचन्द्र, कुश, अज आदि पहले के राजाओं को भूल गई !

(७)

स्वप्नेऽपि न द्विजपतिं त्वमधः करोषि
मायां तनोषि च महीप ! न शत्रवेऽपि।
न त्वं समाक्षिपसि देव ! वृषे कदापि !
तेनोपमा भवतु ते कथमच्युतेन ?

हे महीप ! आप स्वप्न में भी द्विजपति (ब्राह्मण) का तिरस्कार नहीं करते; आप अपने शत्रुओं के साथ भी माया नहीं रचते; आप वृष (धर्म) का कभी व्याघात नहीं करते; अतः विष्णु से हम आपकी किस प्रकार उपमा दें ? क्योंकि, विष्णु द्विजपति (गरुण) को अधः (नीचे) करते हैं अर्थात् उस पर सवार होते हैं; सदैव माया रचा करते हैं; तथा वृष (वृषभासुर नाम के दैत्य) का घात भी उन्होंने किया है।

(८)

दीपांकुरैर्दिनकरस्य कराभिपूर्ती
रत्नाकरस्य भरणञ्च तुषारतोयैः।
वैचित्र्यमावहति नाथ ! यथा जनानां
कीर्तिस्तथैव कविभिस्तव गीयमाना ।।

एक छोटे से दीपक को जलाकर सूर्य्य के समान प्रचण्ड प्रकाश उत्पन्न करने का यत्न करना अथवा ओस के कणों से समुद्र को भरने जाना जिस प्रकार लोगों को उपहासास्पद जान पड़ता है—कवियों के द्वारा आपकी कीर्ति का गान किया जाना भी वैसे ही है।

(९)

अत्यन्तविस्तृतपवित्रयशस्त्वदीयं
सर्वासु दिक्षु परितः स्वतनुं तनोतु।
येनाखिलप्रवरपण्डितदत्तमान !
तुष्टिं प्रहृष्टहृदयः परमां व्रजामि ।।

अच्छे अच्छे पण्डितों को मान देनेवाले हे राजन् ! आपका अत्यन्त विस्तृत यश सब दिशाओं में चारों ओर फैले; जिससे, अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक, हमारा हृदय सन्तोष को प्राप्त होवे।

४—भारतदुर्भिक्ष

(११ मार्च, १८९७ के हिन्दोस्थान में प्रकाशित)

(१)

हे रघुराज ! लाज भारत की आज रहै किहि भाँती;
अति विकराल काल की भीषण भेरी सुनी न जाती।
नाती पूत मीत ममता तजि भये सुजाति कुजाती;
हा हा कार सुनत लोगन के काकी फटै न छाती ?

(२)

गली गली कंगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धावै।
अन्न अन्न पानी पानी कहि शोर प्रचण्ड मचावै।
बालक, युवा, जरठ, नारी, नर, भूख भूखि कहि गावैं;
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बारबार बहावै ॥

(३)

अस्थिमात्र जिनके शरीर है ऐसे बालक नाना,
गोद माहिं माता की लिपटे रोवत कण्ठ सुखाना।
माँगे मिलै न भीख माय कहँ किहि विधि राखहि प्राना,
विह्वल विकल विपन्न पुकारति हा ! हा ! ! हा भगवाना ! ! !

(४)

पति से पृथक भई नव पतनी मातु सुता सँग त्यागी,
पिता पुत्र तजि हाय ! बाय मुख माँगत टूक अभागी।
जननी प्रान तुल्य शिशु बेंचत इक दिन भोजन लागी,
त्राहि कहत टोड़ीदल त त फिरै प्रजा सब भागी ॥

(५)

पति मुख देखि देखि पतनी अति बोलत आरत बानी,
"नाथ देहु मोहिं लाय आज कछु नातर वयस सिरानी"।
सन्ध्या समय रिक्तकर पति कहँ लखि बहु रोदन ठानी,
सिर धुनि, विलपि, मीचु के मुख में कुलकामिनी समानी ॥

(६)

"मरे मरे अब अवशि आजु" इमि बोलत लाखन प्रानी,
वस्त्रविहीन दीन दुख रोवत जानत सूम न दानी।

सुतहि फेंकि माता जठरानल-जरी भगै अकुलानी,
मा! मा!! मा!!! पुकार शिशु केरी नेकु न मन में आनी।।

(७)

लोचन चले गये भीतर कहँ कंटक सम कच छाये,
कर में खप्पर लिये, अनेकन जीरण पट लपटाये।
मास विहीन हाड़ की ढेरी भीषण भे बनाये,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाये।।

(८)

शक्ति नही जिनके बोलन की तकि तकि मुख फैलावैं,
सीक समान पैर लीन्हें बहु रोवत गोबर खावैं।
गुठुली खान हेत बेरन की ढूँढ़त सोउ न पावैं,
पग पग चलैं गिरै पग पग पर आरत नाद सुनावै।।

(९)

"अरे जाहु कंगाल भवन" यह सुनत अधिक दुख पावै।
कहँ वहाँ पगु धरतहि हम कहँ कर धरि दंड भगावैं।
रहन देहिं दिन द्वैक कदाचित आ हि पाव खिलावैं।
महाराज! कहिए किहि विधि हम अपने प्राण बचावैं।।

(१०)

मन्द दृष्टि यदि ईश! भये, जन-दशा न परै दिखाई,
तो लारेन्स मेव ते चश्मा कस नहि लेहु मँगाई?
श्रवण-शक्ति यदि विकृत, लोककृत विनय न परै सुनाई,
केम्प कम्पनी ते इक नलिका-यन्त्र देहिं पठवाई।।

(११)

तुम सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु यह हमार लरिकाई,
अनुचित कहहिं बार बहु तुम कहँ जो यहि विधि दुख पाई।
करै कहा फिरि हे करुणानिधि! विपति सही नहिं जाई।
मृतक ढेर के ढेर होत नित सुत पितु भगिनी भाई।।

(१२)

मातु पिता सुत सुता सकल मिलि जहँ बहु कीन्ह कलोलैं,
प्रीति समेत परस्पर प्रति दिन मृदुल वचन जहँ बोलैं।

प्रात काल उठि नवल कामिनी द्वार जासु जगि खोलैं,
रुद्ध भवन तहँ घूक कूक करि प्रमुदित इत-उत डोलैं ॥

(१३)

अतिहि कराल काल के मुख ते किहि किहि कौन बचैहैं,
मृतक देखि पति पुत्र प्राण सम नारी गरल अचैहैं।
बैठि उलूक मन्दिरन ऊपर बाँधी ध्वजा लचैहैं,
वायस श्वान शृगाल पैठि घर हाहाकार मचैहैं ॥

(१४)

अबै कहा है भयो कछुक दिन बीते नगर अनेका।
मानुष शून्य मरुस्थल ह्वैहैं, जैहैं सब इक एका।
शिवा शोर करिहैं गलियन महँ मोर मारिहैं केका,
बैठि निशंक वापिका तट पै शब्द करैंगे भेका ॥

(१५)

इक दुर्भिक्ष भयंकर तापै मरी मरी चढ़ि आई,
क्षण महँ शत शत जनसमूह कहँ यमपुर देत पठाई।
आज रहैं जिन संग काल्हि तिन मरे सुनत घर जाई,
देखैं तहाँ गृद्धगण केरी प्रमुदित बजै बधाई ॥

(१६)

होत कष्ट कितनो यदि एकहु दिन नहिं खाहु अघाई,
सो नहिं छिपो अहै तुमते हे भारतवासी भाई!
फिरि निरन्न नर-नारि हजारन हाय हाय जो ाई,
माँगत प्राणदान तिनकी तुम कस नहिं करहु सहाई?

(१७)

दौरि दौरि जिन गोद उठावहु लेवहु हिये लगाई,
वारहु कोटि कोटि जिन ऊपर कोहनूर समुदाई।
ऐसे पुत्र रत्न अपने लखि कहहु कबहुँ सुधि आई,
कैसे बचै बाल उनके जिन भीख न तुमते पाई ॥

(१८)

भरतखण्ड के धनिक धुरन्धर तुम्हैं न कोउ जगावै;
देखत दारुण दशा देश की निशि निद्रा किमि आवै?

लखि परिवार पुष्ट अपनो कह हरी हरीहि दिखावै ?
शोकानल स्वजाति को सपनेहु हाय न हृदय जरावै !

(१९)

प्रिये ! प्रिये ! कहि कण्ठ लगावहु जिनको अति सनमानी,
उन समान लाखौं अनाथिनी तिया नैन भरि पानी।
तजि घर-द्वार अहार हेत बहु बोलत गद्गद बानी,
तिनकी ओर तनिक तो चितवहु करुणा कहाँ ुलानी ?

(२०)

बृ‍िश सिंह हुंकार यदपि जन-दुःख दूर लौं खोवै,
यदपि दुष्ट दुर्भिक्ष कहूँ कहुँ सुख की नींद न सोवै।
तदपि सकल की मिलि सहाय जो कछु कछु विपति विगोवै,
तो न हाय आरत यह भारत अब की गारत होवै॥

५—त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!

(२९ नवम्बर, १८९७ के हिन्दी-बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

हे जगदीश ! शीश मैं अपनो बीस बार महि धारी,
पुनि पुनि पुनि तृग तोरि जोरि कर विनती करो तिहारी।
कोप शान्त करि कान्त रूप धरि हरे ! हरहु दुख भारी,
न तु पाताल प्रवेश करैगो अब यह देश दुखारी॥

(२)

एक नहीं, द्वै नहीं, तीनि नहिं, चारिहु नहिं, बरु नाना,
विपति एक ते एक भयंकर देहु, धन्य भगवाना !
वीर्यहीन अति दीन देश यह तापर शर सन्धाना,
मृतकप्राय काहिं मारन हित धरहिं न धनु बलवाना॥

(३)

नाना रत्न पूरि जिहि माहीं शोभा जासु बढ़ाई,
पुण्य भूमि प्रख्यात नाम करि सकल कला उपजाई।
प्रभुता जासु सर्व देशन पै प्रथमहिं ते प्रकटाई,
ताही कहँ अरण्य करिबे को प्रभु अब भुजा उठाई!

(४)

स्वकृत मृत्तिकागेह, नेह तजि, बालकहू न नसावैं,
करि रक्षा ताकी उपाय भरि, स्वस्थ देखि सुख पावैं।
तुम सर्वज्ञ शक्ति-संयुत हौ, मि महर्षि गण गावैं,
भाँति भाँति के विशद विशेषण नाम संग तव लावैं।।

(५)

हरे! सोइ तुम पुरुष पुरातन, न्यायी, जगदाधारा,
रम्य बनाय देश भारत कहँ चाहहु ताहि उजारा।
लखि अनर्थ अस जो पै करुणा नहिं तव हृदय विदारा,
ईश! तुमहिं तजि लाज लेशहू कह कहुँ अन्त सिधारा?

(६)

मर्दन करि मर्याद आपनी मघवा दीन न पानी,
भिक्षा बिनु यमराजभक्ष्य भे सहसा लाखन प्रानी।
रहे कछूक धनी मानी जे तिनहुँ की मिटी निशानी,
करुणा-सागर तऊ नेक तुम करुणा हिये न आनी!

(७)

पानी पानी पानी माँगत थकी विश्व की वानी,
ज्वार, बाजरा, मोठ, मूँग सब जहँ की तहाँ सुखानी।
लेन जाय यदि ऋण कोऊ कहुँ कौड़िहु मिलै न कानी,
अस दुर्भिक्ष देखि लोगन की सुधि-बुधि सबै भुलानी।।

(८)

अन्न अन्न अवसन्न पुकारत भगै प्रजा अकुलाई,
खाल, बाल अरु अस्थिजालमय भये शरीर सुखाई।
पुत्र प्राण प्रिय सेर चून लगि गये अनेक बिकाई,
दयानिधे! सोउ सकल दीख तुम पै हिय दया न आई।।

(९)

मिलै घास-भूसा नहिं ढूँढ़े मूसा घर तजि भागे,
रुपिया अश्व, अठन्नी महिषी, बैल चवन्नी लागे।
भये सुजाति कुजाति धर्म बिनु कुलमर्यादा त्यागे,
सुख से सोवत रहे शेष पै तौहू तुम नहिं जागे ।।

(१०)

बहुरि भयौ भूकम्प भयंकर प्रलय प्रचण्ड समाना,
वङ्ग देश कर अंग-भंग सुनि काको हिय न सकाना ?
बड़े बड़े प्रासाद ध्वस्त भे अस्त भये घर नाना,
दण्ड एक लौं खण्ड खण्ड ह्वै गिरि, गिरिकुल घहराना ।।

(११)

नगर भव्य भारी शिलांग सम नारी नर सह सारा,
भयो पलक महँ भूतलशायी जानत सब संसारा।
घरविहीन अति दीन मनुज जे भगे हजार हजारा,
रेत-वृष्टि आदिक उतपातन तिन सब कहँ संहारा ।।

(१२)

जहाँ नदी तहँ मरु प्रदेश भो; जहँ मरु तहँ जल-धारा,
फटी भूमि महँ गये अनेकन जन, करि हाहाकारा।
तप्त-धातु के चले फुहारे जिन बहु जीवन जारा,
तबहूँ तुम न धाय गरुड़ध्वज ! भुजा उठाय उबारा ।।

(१३)

तदनन्तर सीमा-प्रदेश महँ रण अति भीषण गाजा,
सेना साजि साजि जहँ अपनी गये अनेकन राजा।
गुरखा, सिक्ख, पठान, पुरबिया, राजपूत सिरताजा,
सजे फिरंगिन संग जंग हित बजे वीररस बाजा ।।

(१४)

होत घोर संग्राम दिवानिशि बहैं रुधिर के नारे,
"यह रण अपर महाभारत है इमि भाषहि नर सारे।"
शीशहीन, करहीन, हीनपद, भे बहु वीर बिचारे,
अगणित भट, अगणित खर, घोटक, कटि यमपुरी पधारे ।।

(१५)

भईं भर्तृहीना जे नारी तिनकी क्लेश-कहानी,
सुनि पत्थरहू फटै, और की गति को कहै बखानी ?
होवैं बलि समराग्निकुण्ड महँ झुण्ड झुण्ड नित प्रानी,
तऊ शीघ्र नहिं शान्त कीन रण, ईश ! काह मन ठानी ?

(१६)

इतनेहुँ पर न तोष उर आना आँधी प्रबल चलाई,
भूमिकम्प में शेष रहे जे, ते घर-द्वार गिराई।
अर्द्ध लक्ष लौं मनुज मीचु के दीन्हचा अतिथि बनाई,
जानि परै अब हरे ! हमहिं यह रसा रसातल जाई ॥

(१७)

यह जो भयो, भयो सो सब, अब मरी मरी है आई,
धारि त्रिविक्रम रूप आदि महँ प्रति दिन बाढ़त जाई।
मुम्बापुरी, कराची, पूना, सूरत सारी खाई,
तौहू तृप्ति भई याकी नहिं, अधिक अधिक अधिकाई ॥

(१८)

ग्राम अनेकन नाम शेष भे याम माहिं कहि 'रामा',
प्राण देहिं शत शत प्राणी नित शून्य होहिं बहु धामा।
रोवै को ? मनुष्य बिन इत-उत मृतक परे सब ठामा,
सुनत विदीर्ण होय हिय, इतने हृषीकेश ! तुम वामा ! !

(१९)

हरिद्वार, कनखल, जालन्धर पहुँचि यक्षिणी मारी,
भक्षण लगी मनुष्यन हा ! हा ! लक्षण अति भयकारी।
बचब कौन विधि हे जगदीश्वर ! अब ध्रुव मृत्यु हमारी,
अस विचारि व्याकुल सब कोई आये शरण तिहारी ॥

(२०)

स्वकृत सकल अपराधजन्य जन दण्ड विविध विधि पाई,
हाहाकार पुकारि, जोरि कर, सहस बार सिर नाई।
चाहत नाथ ! नाश मारी कर, ताहि भगावहु धाई,
कीजै लोप कोप अपनो यह, अब दुख सहो न जाई ॥

(२१)

किये बिलम्ब, प्रलय पूरी इत ह्वै है, तब पछितैहौ,
स्वकर बनाये को बिगारि कै, अन्त ताप हिय पैहौ।
नहिं, नहिं, अस कदापि करिहौ नहि, दया-दृष्टि तुम दैहौ,
प्रणतपाल ! यहि काल उबारन, ऐहौ, ऐहौ, ऐहौ ॥

६—कान्यकुब्जलीलामृतम्

(संस्कृतचन्द्रिकायाः षष्ठखण्डस्य षष्ठसंख्यायां प्रकाशितम्।)

(१)

सदैव शुक्लारुणपीतवर्ण-
पाटीरपंकावृतसर्वभाल !
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् !
हे कान्यकुब्ज-द्विज ! ते नमोऽस्तु ॥

सफ़ेद, लाल, और पीले रंग के चन्दन का खौर जिसके सारे मस्तक पर चढ़ा हुआ है; धोती जिसकी इतनी लम्बी है कि ज़मीन तक की खबर लेती है; ऐसे हे कान्यकुब्ज देवता जी ! आपको हमारा नमस्कार है।

(२)

बहूनि गायन्ति यशस्त्वदीयं
पत्राणि* ते वंशधरैः कृतानि ।
एकस्य तन्मे मितभाषिणस्त्व-
मिदं क्षमस्व स्तवचञ्चलत्वम् ॥

आपके वंशवाले अनेक कन्नौजिये ब्राह्मण अपने अपने समाचार-पत्रों में आपका यश गाया करते हैं। हम तो अकेले ही हैं; और अकेले होकर भी हज़ार-दो हज़ार की कौन कहे, केवल तीस-चालीस ही श्लोक कहने

---

* समाचारपत्राणि ।

की शक्ति रखते हैं, अतएव इस स्तोत्र के लिखने मे, हमारी चपलता, आप क्षमा कीजिए।

(३)

भवन्ति ते धन्यतमा द्विजा, ये
त्वदीयसम्बन्धमवाप्नुवन्ति।
व्रजन्ति ते ब्रह्मपदं तथान्ते
त एव वंशं निजमुन्नयन्ति॥

जिन पुण्यवान् ब्राह्मणो से आप सम्बन्ध करते है, वे धन्य हैं; ब्रह्म-पद उन्हीं को अन्त में मिलता है; और वही अपना वंश उच्च पदवी को पहुँचाते हैं।

(४)

अहो दयालुत्वमतः परं कि?
यथेप्सितं यद् द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलीकरोषि
तदीयकन्याकरपीडनेन॥

आप बड़े दयालु हैं! इससे अधिक, कहिए, और क्या दयालुता हो सकती है कि, मनमाना रुपया ऐंठ कर आप निंद्य से निंद्यों को भी, उनकी कन्या का पाणिग्रहण करके, (चन्द्रमा के समान) उज्ज्वल कर देते हैं?

(५)

स्वगोत्रजानेव यदा सदा त्वं
"कि धाकरैः* स्तै"? रिति धिक्करोषि।
तदाऽन्यजातीयजनास्त्वदीयाः
के नाम नाम वन्द्यैरपि वन्दनीयाः?॥

"अरे उन धाकरों से क्या मतलब?" इस प्रकार भला जब आप अपने सगोत्रजों ही को धिक्कारा करते है, तब दूसरी जातिवाले, फिर चाहे महात्मा भी उनका आदर क्यो न करते हों, आपके सामने क्या चीज़ हैं?

---

* धाकरैः प्राकृतसंज्ञाविशेषैः।

(६)

शास्त्रीयवार्तासु भवत्यहो ते
मुखे रसज्ञा किल कीलितेव।
स्थिते तु वैवाहिकभाषणे त्व-
माविष्करोष्यद्भुतवाक्पटुत्वम् ॥

शास्त्रीय वार्ता होने पर आपकी जीभ आपके मुखारविन्द में कीलों से जड़-सी दी जाती है; परन्तु विवाह-काज की बात निकलते ही, अह! आपकी ज़बान एक मिनट में सौ मील के हिसाब से चलने लगती है!!

(७)

शेषस्तदा किं रसनासहस्र
स्वीयं महीदेव! ददाति तुभ्यम्?
येन त्वदुक्तिप्रखरप्रवाहै-
स्तिरस्क्रियन्ते बहु वाग्मिनोऽपि ॥

उस समय, शेष महाराज, क्या आपको अपनी हज़ार जिह्वाऍं दे देते हैं जो आपकी बातो के वेगगामी प्रवाह के सामने बड़े बड़े वक्ताओं को भी हार माननी पड़ती है?

(८)

मन्ये तदैव त्वयि वासवोऽपि
न्यासीकरोत्यक्षिचयं स्वकीयम्।
न चेन्निमेषेण कथं परेषां
दोषानसंख्यांश्च समीक्षसे त्वम् ॥

हमारी समझ में, उस समय, इन्द्र महाराज अपनी हज़ार आँखें आपके पास गिरवी रख देते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न होता तो, दूसरों के असंख्य दोष आप, आँख की पुतली बदलते बदलते, किस प्रकार गिन जाते?

(०)

कन्याविवाहे समुपस्थिते त्व-
मृणं गृहाभूषणविक्रयं च।
कृत्वा, कृतार्थं मनुषे नृजन्म
विलक्षणौदार्यमिदं त्वदीयम ॥

कन्या का विवाह उपस्थित होने पर, ऋण लेकर, घर बेचकर, जेवर बेचकर, हर तरह से आप (विवाह से निश्चिन्त होकर) अपना जन्म कृतार्थ समझते हैं। ओह! हो! आपकी उदारता का कुछ ठिकाना है? विलक्षण है!

(१०)

पुनः पुनः पुत्रवधूपितुश्च
धनानि हृत्वाऽपि धरासुरेन्द्र!
निरन्तरं तस्य कदर्थनाया
न शोभते ते रसनोपयोगः ॥

ब्राह्मण-राज! अनेक बहाने से पुनः पुनः अपने समधी देवता से रुपये वसूल करके भी निरन्तर उसकी कदर्थना करने में आपकी जिह्वा शोभा नहीं पाती।

(११)

गुणान्वितं, द्रव्ययुतं, विहाय
हा! भूसुर! त्वं कुलपक्षपातिन्!
मूर्खाय, निःस्वाय, वराय कन्यां
प्रदाय तज्जन्म वृथाकरोषि ॥

हे कुलपक्षपाती ब्राह्मण देवता! आप गुणी और धनी लड़के की ओर दृग्पात न करके, मूर्ख और दरिद्री लड़के को, कन्या देकर, हाय! हाय! उस बिचारी के जन्म का सत्यानाश करते हैं!

(१२)

किं विद्यया? किं तव कर्षणेन?
व्यापारवृत्त्या किमु? चापि भृत्या?
जयत्यहो स श्वशुरालयस्ते
त्वं कल्पवृक्षीयसि यं सदैव ॥

आपको विद्या से क्या? किसानी से क्या? व्यापार से क्या? और नौकरी-चाकरी से भी क्या? आप क्यों इनका आश्रय लेने लगे? जीती रहै आपकी ससुराल, जिसे आप कल्पवृक्ष समझते हैं, और जहाँ से कुछ न कुछ सदैव जटते ही रहते हैं।

(१३)

निःशेषनिन्द्यव्यसनेषु नित्यं
शनैः शनैर्नाशितवित्तजातः ।
चिरेण जागर्षि चमत्कृतः सन्
विद्राव्य दीर्घालसघोरनिद्राम् ॥

नाना प्रकार के निंद्य व्यसनों में लिप्त होकर धीरे धीरे जब आप अपना सर्वस्व खो बैठते हैं, तब दीर्घ आलस्यरूपी आपकी घोर निद्रा भंग होती है, और आपकी आँख खुलती है। उस समय आपको आटा-दाल का भाव मालूम होता है।

(१४)

यत्नेन केनापि तदा कथंचित्
करोषि कष्टेन वयोऽतिपातम् ।
तथापि हा! हा! न जहासि शुष्कं
गभीरगर्वं वरवंशजातम् ॥

पूर्वोक्त अवस्था को प्राप्त होने पर आप किसी प्रकार जैसे-तैसे बड़े कष्ट से अपने दिन काटते हैं। परन्तु उस दशा में भी हाय! हाय! आप अपनी कुलीनता का शुष्क गर्व नहीं छोड़ते!

(१५)

अलं विवाहादिविधिस्तवेन
हे कान्यकुब्जावनिदेव! देव!
अतः परं पश्य निजान्यलीलां
श्रुतिस्मृतिस्थापितधर्मशीलाम् ॥

हे कान्यकुब्ज महाराज! विवाहादि विषयक आपका स्तोत्र हम अधिक नही बढ़ाना चाहते! उसे हम यही तक रहने देते हैं। अब, आप श्रुति और स्मृति के द्वारा स्थापन किये गये धर्म का ठीक अनुसरण करनेवाली, अपनी अन्य लीलाओं को देखिए।

(१६)

ते वाजपेयादिसवाः कृतास्तै-
रेकद्विवारं तव पूर्वजैस्तु ।

पारावतच्छागलमत्स्यमेधा
मखा गृहे ते प्रभवन्त्यनेकाः ।।

पूर्वकाल में आपके पूर्वजो ने वे वाजपेय आदि यज्ञ एक ही दो बार किये हैं; परन्तु आपके घर में, अश्वमेध के साथी कबूतरमेध, छागमेध, मछलीमे इत्यादि अनेक यज्ञ हुआ ही करते हैं।

(१७)

स्वभ्रातृगेहेऽपि यदाऽप्रसन्नः
पानीयपानेऽपि शिरो धुनोषि ।
वेश्याजनस्याप्य रामृतेन
कृतार्थतां यासि यदाऽसि तुष्टः ।।

आप जब कुपित होते हैं तब अपने सगे भाई के भी घर में, और वस्तु की बात नहीं करते, पानी भी पीने में सिर हिलाते हैं; परन्तु जब आप प्रसन्न होते हैं तब वेश्याजनों के भी अधरामृत से अपने को कृतार्थ समझते हैं।

(१८)

समाजमुख्यास्तव ये सभासु
तेषां चरित्रं भुवनातिशायि ।
विहाय कांश्चिद्गणयन्ति नान्यां-
स्ते कान्यकुब्जद्विजनामयोग्यान् ।।

आपकी सभा में समाज के जो मुखिया हैं उनका चरित्र बहुत ही बढ़ा-चढ़ा है। वे दो-चार को छोड़, शेष सबको कान्यकुब्ज कहलाये जाने के योग्य ही नहीं समझते।

(१९)

विशिष्टविद्यापरिशीलनेन
बुद्धेर्विकाशो भवतीति नीतिः ।
एषामहो त्वद्विदुषामुदार-
भावः परं सङ्कुचतीव भाति ।।

विद्याध्ययन से बुद्धि का विकाश होता है और मनुष्य में उदारता आती है, यही सुनते आये हैं; परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि आपके न सामाजिक विद्वानों का उदार-भाव उलटा संकुचित-सा होता जाता है।

(२०)

नैवं करिष्यामि वृथान्ननाशं
नैवं ग्रहीष्यामि नं विवाहे।
उच्चैरिति त्वं परिषत्सु नित्यं
करोषि भूदेव! दृढां प्रतिज्ञाम्॥

"हम बढ़ार में अब कभी इतनी पूरी नष्ट नहीं करेंगे; कच्ची के दिन कभी इतना भात व्यर्थ न परोसेंगे; विवाह में मोल-तोल करके कभी अधिक द्रव्योपार्जन की च्छा न करेंगे" इस प्रकार, हे ब्राह्मण देवता! आप अपनी सभाओं में सदैव लम्बी-चौड़ी प्रतिज्ञा, जोश में आकर, किया करते हैं।

(२१)

परन्तु तत्तन्नियमावलीनां
निवेश्य पत्रं गृहपेटिकायाम्।
उपस्थिते विप्र! विवाहकाले
सर्वं क्षणाद्विस्मरसीति चित्रम्॥

परन्तु, विवाह के समय उन सारे नियमों के काग़ज़ का बंडल घर के भीतर किसी मज़बूत-सी सन्दूक़ में बन्दकर (और ऊपर से उसमें ताला भर) हे विप्र जी! आप उन सब बातों को एक क्षण में भूल जाते हैं। आपका अजब हाल है।

(२२)

अध्यक्षतां, किंबहुना, त्वदीयां
गृह्णन्ति ये तेऽपि तदा पलाय्य।
स्वलम्बिलाङ्गूलमितस्ततश्च
गूहन्ति भीता इव भो द्विजेन्द्र!

हे ब्राह्मणों के इन्द्र! अब अधिक और क्या आपसे कहें? आपकी अध्यक्षता को जो ग्रहण करते हैं वे भी, विवाह-काज उपस्थित होने पर, अपनी लम्बी दुम को, भयभीत की भाँति, इधर-उधर, छिपाते फिरते हैं।

(२३)

अंपव्ययस्ते भवति द्विजेश!
किं नातिनिन्द्यव्यसनेषु नित्यम्?

परं स्थिते सर्वसमाजकार्ये
पुरस्त्वमंगुष्टशिरः करोषि ॥

हे विप्रराज! अनेक निन्द्य व्यसनों में प्रतिदिन क्या आपका वृथा व्यय नहीं हुआ करता? कुछ न कुछ हुआ ही करता है। परन्तु समाज का काम पड़ने पर आप अँगूठे ही को आगे करते हैं!

(२४)

त्वयि प्रसन्ने च तथाऽप्रसन्ने
हानिः समाना भवति द्विजानाम्।
तुष्टः समाकर्षसि वित्तराशिं
रुष्टो व्यथां त्वं हृदये ददासि॥

आप जब अप्रसन्न होते हैं तब आपके वर्गवाले ब्राह्मणों की हानि होती ही है (कन्या के लिए वर मिलना मुश्किल हो जाता है) परन्तु विचित्रता यह है कि, आपके प्रसन्न होने से भी उनकी हानि होती है। देखिए—सन्तुष्ट होकर आप अपने सम्बन्धियों के यहाँ से रुपये की खींच करते हैं और रुष्ट होकर, हृदय को, अपने कुटिलाचरण से दुःख देते हैं।

(२५)

मृगेन्द्रतां यल्लभते बलेन
सिंहो वने, तत्तु यथार्थमेव।
कुतस्तदा विप्र! वद त्वमेव
महीसुरेन्द्रत्वमिदं त्वयाप्तम्?

जंगल में, जंगली जीवों के बीच, सिंह, अपने पराक्रम से मृगेन्द्र कहलाता है—सो तो यथार्थ है; परन्तु विप्रजी! आप यह तो बतलाइए कि, "कान्यकुब्जाद्विजाः श्रेष्ठाः" यह जो आप अपने ब्राह्मणेन्द्रत्व का विधायक मंत्र जपा करते हैं, वह कहाँ से आया; आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ किस प्रकार हुए?

(२६)

का नाम सन्ध्या? प्रणवोऽपि सम्यङ्
नोच्चार्यते ते स्वजनैरनेकैः।
महीसुरश्रेष्ठ! बलात्तथापि
स्वश्रेष्ठतां त्वं विजहासि नैव॥

संध्या की कौन कहे आपके अनेक वंशज प्रणव भी ठीक ठीक नहीं उच्चारण कर सकते, परन्तु, तिस पर भी, हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! आप ज़बरदस्ती अपनी श्रेष्ठता को नहीं छोड़ते !

(२७)

तदस्ति किं त्वं कथय द्विजेन्द्र !
मूर्खोऽपि सन्स्थापयसीह येन।
निजोच्चतामन्यमहीसुरेभ्यः
स्वगोत्रजेभ्योपि विवाहकाले ॥

द्विजेन्द्र जी ! आप यह तो बतला इए कि, वह कौन-सी चीज़ आपके पास है, जिसके कारण, विवाह-काल मे, मूर्ख होकर भी आप अपने ही गोत्र-वाले और ब्राह्मणों से, अपने को उच्च स्थिर करते हैं ?

(२८)

यशः पवित्रं निजपूर्वजानाम्
विभाव्यते किं भवता सगर्वम् ?
निवेदय त्वं शपथेन तेषां
के के गुणा आत्मनि संगृहीताः ॥

क्या आप अपने पूर्वजों के पवित्र यश का विचार करके गर्व से फूल उठते है ? अच्छा, क़सम पर कहिए तो सही, उन लोगों के कौन-कौन से गुण आपने ग्रहण किये हैं।

(२९)

त्वं नाममात्रग्रहणेन तेषां
श्रीहर्षमिश्रादिमहाजनानाम्।
समीहसे पूज्यपदं ग्रहीतु-
महो विमोहस्य विजृम्भणं ते !

हम अमुक घराने के हैं--इस प्रकार केवल नाममात्र का उच्चारण करके, आप, श्रीहर्षमिश्र आदि महात्माओं की पूज्य पदवी को पाने की इच्छा करते हैं ! शाबाश !! आपका मोह कितना उद्दंड !!!

(३०)

आस्ते यथोक्तैव दशा त्वदीया
तथापि केचिद्भुवि कान्यकुब्जाः।

सन्त्येव शुद्धाचरणाश्च येषां
सन्दर्शनं पुण्यकरं नराणाम् ॥

आपकी दशा तो वैसी ही है जैसी ऊपर वर्णन हो चुकी है; तथापि ऐसे भी कोई कोई शुद्धाचरणवाले कान्यकुब्ज महात्मा पड़े हैं जिनके दर्शन-मात्र से पुण्य होता है।

(३१)

आस्तामिदं तत्तव लीलयाऽलं
पारं व्रजेत्कः कथनेन तस्याः ?
अतोऽमुना साञ्जलिबन्धमेत-
द्यदुच्यते तच्छृणु भूसुरेन्द्र !

अच्छा अब इसे जाने दीजिए। आपकी लीला का वर्णन हम यहीं समाप्त करना चाहते हैं। भला कौन ऐसा पराक्रमी है जो उसका सविस्तर वर्णन करके उसके पार तक पहुँचने में समर्थ हो? हे भूमिदेव! हमारी अब आपसे हाथ जोड़ कर यह प्रार्थना है कि, जो कुछ हम आगे कहते हैं, उसे कृपा-पूर्वक आप सुन लीजिए।

(३२)

दिनानि ते तानि गतानि, नातः
शुष्काभिमानेन सुवंशजेन।
भविष्यति त्वत्कुशलं कदापि
विचिन्तयान्तःकरणे त्वमेव ॥

कहना यही है कि, आपके वे पहले दिन गये। उच्चकुल में पैदा होने के शुष्क अभिमान को आप अब जाने दीजिए। ऐसा न करने से आप कदापि अपनी कुशल न समझें। आप अपने अन्तःकरण में विचार करके देखिए, इसी में आपकी भलाई है।

(३३)

त्यजालसं, शीलय विप्र! विद्यां
विधेहि दुष्टव्यवहारनाशम्।
उदारतां बन्धुषु दर्शय त्वं
कुरुष्व कार्यं सुजनादृतां च ॥

विप्र जी ! आप आलस्य छोड़िए, विद्या पढ़िए, बुरे बुरे व्यवहारों की 'इति श्री' कीजिए, अपनी जातिवालों के ऊपर अधिक उदार हूजिए, और भले आदमी जिस काम को अच्छा कहते हैं उसे करना सीखिए।

(३४)

महत्त्वमायाति हि मानवेषु
सुविद्ययैवात्र मनुः प्रमाणम् ।
मन्दादरस्तद्वचने यदि त्वं
तदा न किं हन्त हतः स्वधर्मः ?

भली भाँति विद्याभ्यास करने ही से मनुष्यों को महत्त्व प्राप्त होता है। समें प्रत्यक्ष मनु जी प्रमाण हैं। यदि आप उनके भी वचन का निरादर करेंगे तो हाय ! हाय ! हम समझेंगे, हमारा र्म आज ही रसातल को चला गया !

(३५)

मत्संमुखेऽसौ किल कः पदार्थो
विभावनेयं भवतश्च माऽभूत् ।
यदस्ति किञ्चिद्वचने मदीये
ग्राह्यं, गृहाण, त्यज सर्वमन्यत् ॥

"छोटे मुँह बड़ी बात करनेवाला हमारे सम्मुख यह क्या वस्तु है ?" स प्रकार आपको कभी न कहना चाहिए। जो कुछ हमने आपसे विनय किया उसमें, यदि कुछ भी आपके ग्रहण करने के योग्य है तो, उसे ले लीजिए और शेष सब जाने दीजिए।

(३६)

त्वत्कीर्तिगाने, चरितामृतस्य
पाने, रता विप्र ! पुराविदोऽपि ।
जानन्ति के नो तव सप्रमाणं
यशः पुराणादिषु वर्ण्यमानम ?

हे विप्रदेवता! आपकी कीर्त्ति के गाने और आपके चरितरूपी अमृत के पान करने में पुरातन ऋषि भी निमग्न रहे हैं। पुराणादिकों में प्रमाणपूर्वक वर्णन किये गये आपके यश को कौन नहीं जानता ? सभी जानते हैं।

(३७)

न विस्मरातश्चरितं पवित्रं
शाण्डिल्यकात्यायनकाश्यपानाम् ।
अद्यापि विद्याविभवेन येषां
विभूष्यते भारतभूमिखण्डः ॥

अतएव शांडिल्य, कात्यायन, काश्यप आदि अपने पूर्वजों के पवित्र चरित को आप न भूल जाइए। देखिए; इन महात्माओं की अप्रतिम विद्या इस भारतवर्ष देश को अब तक आभूषित कर रही है।

(३८)

किं विस्तरेण बहुनेति हृदि प्रधार्य
हे कान्यकुब्जमहिदेव ! नमस्करोमि ।
स्वस्यैव मामपि कुलस्य करीररूपं*
जानीहि सादरमयं विनयो मदीयः ॥

"बहुत विस्तार करने से क्या लाभ है ?" इस प्रकार मन में विचार कर, हे कान्यकुब्ज महराज ! हम अब आपको नमस्कार करते हैं। आदरपूर्वक आपसे यही एक हमारा विनय है कि, आप हमें भी अपने ही वंश का एक अति छोटा अंकुर समझिए। बिलकुल ही निकाल बाहर न कीजिए।

७—समाचारपत्रसम्पादकस्तवः

(संस्कृतचन्द्रिकायाः षष्ठखण्डस्य द्वितीयसंख्यायां प्रकाशितः)

(१)

देशोपकारव्रतधारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय ।
निःशेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममाऽस्तु ॥

---

* वंशांकुररूपमित्यर्थः ।

देशोपकाररूपी व्रत जिसने धारण किया है; नाना प्रकार के कला-कौशल में जो कुशल है; समस्त शास्त्रों में जिसने दीक्षा ग्रहण की है—ऐसे सम्पादक को हमारा नमस्कार है।

(२)

पत्रे स्वकीये जगदेकनेत्रे
शिशुं त्रिपादं त्रिशिरस्करञ्च।
सृजस्यजस्रं कुतुकेन तेन
सम्पादक! त्वं चतुराननोऽसि॥

सारे संसार के नेत्ररूपी अपने पत्र में तीन पैर, तीन सिर, तीन हाथ के लड़के (इत्यादि) की अपूर्व सृष्टि आप कुतूहल से रचते हैं। अतः हे सम्पादक जी! आप ब्रह्मदेव हैं।

(३)

आकृष्टुपुच्चैर्निजपत्रमूल्यं
नवोपहारादिविधेर्विधाने।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात्
त्वमेव सम्पादक! माधवोऽसि॥

अपने पत्र का मूल्य वसूल करने के लिए नाना प्रकार के उपहारों का विधि-विधान करने में समस्त मायावी जनों को आप मात करते हैं; इसलिए, हम आपही को (मायामय) विष्णु भगवान् जानते हैं।

(४)

स्वदोषराशिञ्च तृणं विधाय
त्रुटिं समालम्ब्य लघुं परेषाम्।
अलेख्यलेखैः कृतकालनाशात्
त्वमीश्वरो भीमभयकरोऽसि॥

अपने दोषों के ढेर को तृणवत् देखकर, दूसरों की अत्यल्प त्रुटि के ऊपर, जिन्हें लिखते लज्जा आती है, ऐसे लेख लिखकर, आप कालनाश करते हैं; अतएव आप (काल के नाश करनेवाले) भयंकर महादेव हैं।

(५)

सम्पादक! त्वत्कृपयैव लेखा
निंद्या अपि स्थानमवाप्नुवन्ति।

बुधाऽऽदृतास्तेऽपि भवन्ति हेयाः
सकोपदृक्कोणकटाक्षपातात् ॥

सम्पादक जी ! आपकी कृपा ही से निन्द्य भी लेख (आपके पत्र में) स्थान पाते है, और आपही की कुपित दृष्टि-कटाक्ष से, विद्वानों से आदर किये गये भी लेख निन्द्य हो जाते है।

(६)

त्वं लेखनीं पाणितले निधाय
विराजसे वीर! यदाऽऽसने स्वे।
सुरेन्द्रसिंहासनमप्यचिन्त्यं
तदाऽतिगर्वेण तिरस्करोषि !

हे वीर ! जिस समय, आप अपने हाथ में लेखनी को लेकर अपने आसन पर आसीन होते हैं, उस समय इन्द्र के अचिन्त्य सिंहासन को भी गर्वातिशय से आप तुच्छ समझते है।

(७)

गृह्णासि सम्पादकतां यदैव
तदैव शास्त्राणि सविस्तराणि।
भाषाः समस्ताः सकला कलाश्च
त्वां त्वद्भयेनेव समाश्रयन्ति ॥

आप ज्योंही सम्पादकता को ग्रहण करते हैं त्योंही सारे शास्त्र, सारी भाषा और सारी कला मानो आपके डर से आपका आश्रय लेती हैं।

(८)

अहो ! विचित्रं तदतीव भाति
सम्पादकत्वेन सहैव यत्ते।
आयाति शक्तिर्मनसि क्षणेन,
नानानवीनौषधिकल्पनायाः॥

एक बात यह अति विचित्र जान पड़ती है कि सम्पादकत्व के साथ ही, क्षणमात्र मे, आपके हृदय में नाना प्रकार की नवीन ओषधियो की कल्पना करने की शक्ति आ जाती है।

(९)

पत्रेषु सम्प्रेषितपुस्तकाना
नामैव गृह्णन् विदधासि मौनम् ।
आलोचनामन्यकृतां तथाऽपि
रम्यामपि त्वं किल धिक्करोषि !

भेजी हुई पुस्तकों का अपने पत्र में नाम मात्र देकर आप मौन धारण करते हैं, तथापि और की की हुई अच्छी भी समालोचना आपके मन नही आती ।

(१०)

विज्ञप्तिमेता शृणु मामकीनां
वदामि सम्पादक ! ते हिताय ।
परस्य सत्पुस्तकपत्रकेभ्यो
मा, मैव गुप्तं विषयान् हर त्वम् ॥

हमारी एक विज्ञप्ति आप अवश्य सुन लीजिए; हम आपके अच्छे के लिए कहते हैं । सम्पादक जी ! आप छिपे छिपे औरों की पुस्तक और पत्रों से विषय कभी न चुराया कीजिए ।

(११)

टाइम्समुख्यानि जयन्तु तानि
पत्राणि येभ्यः परिगृह्य वार्ताः ।
त्वमन्यदानोदरपूरकस्य
प्राणान् स्वपत्रस्य सदैव पासि ॥

दूसरो के दान से उदर पूर्ण करनेवाले अपने पत्र के प्राण, जिनसे समाचार चुन चुन कर, आप पालते है, वे टाइम्स इत्यादि पत्र जीते रहें ।

(१२)

नम्रोऽस्मि मूल्यग्रहणे, च मौनी
पत्रोत्तरे, दोषनिदर्शने स्वे ।
रुष्टः कुतो नीतिविदो वद त्वं
विलक्षणा नीतिरियं गृहीता ?

आप मूल्य लेने में नम्रता दिखाते हैं; पत्र का उत्तर देने में मौनावलबन करते हैं; और अपने दोष दिखलाये जाने पर रुष्ट होते हैं । अच्छा कहिए तो सही किस नीतिविशारद से आपने यह विलक्षण नीति सीखी है ?

(१३)

अभद्रभद्रौषधिपुस्तकानां
विक्रेतृवर्गः समवाप्य सम्यक ।
विज्ञापनद्वारमलभ्यलाभं
प्राप्नोति सम्पादक ! ते प्रसादात् ।।

हे सम्पादक जी ! आप ही के प्रसाद से भली-बुरी ओषधियों और पुस्तकों के बेचनेवाले (आपके पत्र में) विज्ञापन-रूपी द्वार को पाकर अलभ्य लाभ उठाते हैं।

(१४)

इहास्ति साधुत्वमतः परं किम् ?
प्रकाश्य लोकस्य विमाननां यत् ।
स्थिते भये पाणियुग प्रसार्य
'क्षमस्व, हा हेति' च भाषसे त्वम् ।।

इससे अधिक और क्या साधुता हो सकती है कि, आप पहले तो अपमान-जनक लेख छाप कर लोगों का अपमान करते हैं (और पश्चात्) भय उपस्थित होने पर, हाथ जोड, "क्षमा कीजिए, हम हा-हा खाते हैं" इस प्रकार आप कहते फिरते हैं।

(१५)

गायन्ति सम्पादकतागुणानां
लीलां यथाशक्ति महाजनास्ताम् ।
स्वातन्त्र्यविद्याबलवर्धनानि
सर्वाणि यच्छक्तिविजृम्भणानि ।।

स्वतन्त्रता, विद्या, बल आदि सभी जिसकी शक्ति का प्रताप है, ऐसी सम्पादकता के गुणों की लीला को बडे बड़े महात्मा भी यथाशक्ति गान करते हैं।

(१६)

अतोऽन्वहं भक्तिभरान्वितोऽहं
कीर्ति त्वदीयां किल कीर्तयामि ।
ममोपरीदं स्तवनं निशम्य
प्रसीद सम्पादक ! सर्ववंद्य ।।

अतएव, प्रतिदिन, हम भी भक्ति-भावपूर्वक आपकी कीर्ति का कीर्तन करते हैं; इस स्तोत्र को सुनकर हे सर्ववन्द्य सम्पादक जी ! आप हम पर प्रसन्न हूजिए।

------ ---

८—नागरी ! तेरी यह दशा !!

(जून १८९८ की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित)

(१)

श्रीयुक्त नागरि ! निहारि दशा तिहारी,
होवै विषाद मन माँहि अतीव भारी।
हा ! हन्त लोग कत मातु तुम्हैं बिसारी,
सेवैं अजान उर्दू उर माहिं धारी ॥

(२)

माता त्वदीय शुचि संस्कृत देववानी,
वर्णावली तव मनोहर रूपखानी ।
अत्यन्त शुद्ध लिपि होति सदैव तेरी,
प्रयास महँ सिद्धि सधै घनेरी ॥

(३)

अत्यल्प बालकहु मास गये छ, माता,
होवैं प्रवीण सिखि तोहिं छिपी न बाता ।
मूढ़ातिमूढ़ जिन दीख न पाठशाला,
तेऊ पढ़ैं तुहिं बिना श्रम सर्वकाला ॥

(४)

एतादृशी सरल, सुन्दर, शुद्ध, सोई,
तू नागरी जननि ! जानत सर्व कोई ।
तौहू तुम्हैं चहहिं जे न जड़त्वपागे,
ते कामधेनु तजि आक दुहैं अभागे ॥

(५)

तेरी समान रुचिरा, सरला, रसाला,
शोभायुता, सुमधुरा, सगुणा, विशाला ।
भाषा न अन्य यहि काल अहो दिखाई,
बोलैं निशंक हम यों स्वभुजा उठाई ॥

(६)

श्रीसूरदास, तुलसी अरु खानखाना,
क्षेमेन्द्र, केशव, कवीन्द्र, कवीश नाना।
छायो दिगन्त यश जो इनको अपारा,
सो है प्रसाद तव नागरि! देवि! सारा॥

(७)

पद्मावती जिन रची ललिता, ललामा,
विख्यात जे अपर क़ादिर आदि नामा।
इस्लाम जाति; तउ कै तिन मातु तोरी,
आराधना, सुयशराशि घनी बटोरी॥

(८)

सन्मान्य ग्राउज़ कलेक्टर सु-प्र ाना,
श्रीमद्ग्रियर्सन समाऽन्य महा महाना।
सेवा त्वदीय करि मातु लही बड़ाई,
कीर्तिध्वजा धरणि पै अपनी उड़ाई॥

(९)

अन्यान्य जातिजनहू बनि भक्त तेरे,
गावैं त्वदीय गुण नित्य नये घनेरे।
तौ जो तिहारि हम सर्व करैं न पूजा,
हा हा! अनर्थ नहिं या सम अन्य दूजा॥

(१०)

भ्राता, पिता, सुत, सुता, दयिता सुशीला,
त्यागैं मनुष्य कहुँ देखि विपत्तिलीला।
पै प्राणनाश यदि होहि तऊ न माता,
होवै वियुक्त सुत ते बिलगाय गाता॥

(११)

माताममत्व जस वेदपुराण भाखा,
तत्तुल्य है अपर केवल मातृ-भाषा।
आजन्म जो विमुख, ताहु विपत्ति माहीं,
आवै सदैव मुख में सुइ, अन्य नाहीं॥

(१२)

हिन्दी ! दयालु इतनी तुम हाय ! ताही,
हिन्दू तजै यदि अकारण, दोष काही ?
दुर्भाग्य—दंड—हत—बुद्धि—विवेक जाई,
होवै परन्तु दुख देखि कृतघ्नताई ॥

(१३)

न्यायालयादि महँ लेखकवृन्द बाढ़ी,
हस्त—प्रलम्ब—परिमाण हिलाय डाढ़ी ।
देखो, अहो ! कुलिशकर्कश शब्द भाखैं,
मानापमान तव ते मन में न राखैं ॥

(१४)

"देशोपकार करिबे" मि बोलि वीरा,
लै, लाङ्ग लेक्चर उड़ावत जे प्रवीरा ।
त्वन्नाम ते सुनत कोसन दूरि भागैं,
पत्रादि हू लिखन में तुहि नाऽनुरागैं ॥

(१५)

शाण्डिल्य आदि-मुनि नायक-वंश-धारी,
हृत्कम्प होहि सुनि नागरि ! तोहि टारी ।
हा ! हन्त ! पुत्र कर माहिं धरै करीमाँ,
लज्जा न आव तनिकौ तिनके हिये माँ ॥

(१६)

जाके प्रचार बिनु लाखन लोग धाई,
लै लै समस्त बहु ढूँढ़त गाँव जाई ।
पावैं तऊ न तिन वाचन-हार, भाई !
ताते, भये विमुख तासन, का भलाई ?

(१७)

जाके बिना कचहरीघर लोग घेरे,
ताकैं परारि मुख जाय बड़े सबेरे ।
न प्रेम तासु जिनके मन माहिं जागै,
हा ! हा ! विलोकि तिन पातकपुंज लागै ॥

(१८)

जाको लिखैं सहज बालक, वृद्ध, नारी,
जामें न भूल इक विन्दु—विसर्ग—वारी।
सद्धर्म जासु परिशीलन में सदाहीं,
ताकी करै स्तुति कहाँ लगि ? शक्ति नाहीं॥

(१९)

देखो ! स्वदेश-नर-रत्न ! करौ विचारा,
सत्कार नागरिहु केर करे उबारा।
हे ! हेलना न करि तासु, सुनौ पुकारा,
कीन्हें विलम्ब बिगरै निज काज सारा॥

(२०)

कल्याणि ! नागरि ! ती विनती सुनीजै,
माता ! दयावति ! दया न कमी करीजै।
ह्वै जै अधीर जनि, यद्यपि होति देरो,
सेवा अवश्य करिहैं अब सर्व तेरी॥

(२१)

सप्रेम, जोरि कर, तोहिं मम प्रणामा,
त्वद्भक्त जे कहुँ कहूँ चमकैं सुनामा।
मेरो नमोऽस्तु तिनहूँ कहँ बार बारा,
ते धन्य, धन्य कुलदीप कृतोपकारा॥

६—सूर्य्यग्रहणम्

(संस्कृतचन्द्रिकायाः षष्ठखण्डस्य तृतीयसंख्यायां प्रकाशितम्)

(१)

अत्यन्तभीषणरणो दिशि पश्चिमायाम्;
हृत्कम्पकारि महिकम्पनमेव पूर्वे।
याम्ये तथा मनुजमारकरोगपीडा,
प्रादुर्बभूव नितरां युगपद्यदैव॥

पश्चिम की ओर अत्यन्त भीषण युद्ध; पूर्व की ओर हृदय को कम्प उत्पन्न करनेवाला भूकम्प; तथा दक्षिण की ओर मनुष्यसंहारकारिणी महामारी की पीड़ा—यह सब एक ही साथ जिस वर्ष हुआ।

(२)

वेदेषुखंडशशिसूचित वैक्रमीय,
संवत्सरे, जनपदेऽत्र तदैव येयम्।
दृष्टा जनैर्नभसि संघटनाद्भुता, ताम्,
मित्रानुरोधवशतो ननु वर्णयामि।

विक्रमादित्य के उसी वर्ष अर्थात् १९५४ संवत् में, यह जो अतीव अद्भुत घटना, आकाश में, यहाँ, लोगों को देख पड़ी, उसे हम अपने एक मित्र के अनुरोध से वर्णन करते हैं।

(३)

* शीतर्तुमध्यगतमंजुलमाघमासे,
मध्येदिनं दिनकरस्यतनूममायाम्।
अच्छादयिष्यति शशी नियतं निजेन,
बिम्बेन तूर्णमिति पूर्णतया निरूप्य॥

शीतकाल मे, माघ महीने की अमावस्या के दिन, मध्याह्न समय, चन्द्रमा अपने बिम्ब मे, अवश्यमेव, झटपट, सूर्य को आच्छादित कर लेगा—इस बात का भली भाँति निरूपण करके—

(४)

तद्दर्शनाय विदुषामवलिः समन्ताद्,
द्वीपान्तरादपि चचाल विलंघ्य सिन्धून्।
नानाविधानि परिगृह्य बुधस्तुतानि,
यंत्राणि सूर्यविधुबिम्बपरीक्षकाणि॥

सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब की परीक्षा करने में उपयुक्त होनेवाले, विद्वज्जनों के द्वारा प्रशंसा किये गये, नाना प्रकार के यन्त्रों को लेकर, अनेक विद्वान्, समुद्रों का उल्लंघन करके, द्वीपान्तरों से भी, उस दृश्य के देखने के लिए चले।

---

* २२ जनवरी १८९८।

(५)

विज्ञानशास्त्रकुशला विबुधा अनेका,
उच्चोच्चराजपुरुषा अपि गौरकायाः ।
सिद्धिं विधाय रविवीक्षणसाधनानाम्,
तस्थुर्यदा वसनवेश्मनि बक्सरादौ ॥

विज्ञान-शास्त्र के पारदर्शी अनेक विद्वान् तथा उच्च पदाधिकारी अँगरेज़ लोग, सूर्य को अवलोकन करने के साधनों को सिद्ध करके, जिस समय, बक्सर आदि स्थानों में, अपने अपने ख़ीमें के नीचे, ठहरे--

(६)

पूर्णोपरागमथ पंकजबान्धवस्य,
ज्ञात्वा तदा भुवि चिरेण भविष्यमाणम् ।
लोकेरकारि कृतभारतवर्षवासै-
र्यद्यद्वदामि तदहं नियतैर्वचोभिः ॥

उस समय, बहुत काल के अनन्तर होनेवाले, खग्रास सूर्यग्रहण का समाचार पाकर, हमारे भारतवर्षवासी लोगों ने जो कुछ कहा अथवा किया उसे हम संक्षेप से वर्णन करते हैं।

(७)

युद्धं भविष्यति नृपेषु परस्परेषु,
लोकं गमिष्यति यमस्य रुजा प्रजा च ।
धान्यं धनं बहु हरिष्यति चौरवर्ग,
इत्यादि कैश्चिदिह सूरिभिरन्वभाषि ॥

राजा लोगों में परस्पर युद्ध होगा; रोग से मनुष्य यमपुरी को पधारेंगे; चोर, धन और धान्य दोनों की अतिशय चोरी करेंगे; इस प्रकार किसी किसी प्रसिद्ध पंडित ने भविष्यवाणी कही ।

(८)

तत्तन्निशम्य सहसा मनुजाः सशंक-
मुच्चाङ्कवाचकजनानभिवन्द्य केचित् ।
दैवज्ञराज ! वद राशिफलं मदीय--
मेवं विरक्तमनसाऽञ्जलिबन्धमूचुः ॥

जिसे सुन सुन, सशंक होकर, बहुतेरे मनुष्य, पचांगपाठी पंडितो को प्रणाम करके, हाथ जोड़, विरक्त चित्त होकर इस प्रकार बोले—"ज्योतिषी जी! ज़रा हमारा राशिफल तो कहिए; हमारे लिए ग्रहण कैसे हैं?

(९)

अन्नांशुकद्रविणदानवि नमाशु,
दोषक्षयाय परिपृच्छ्य धाँश्च केचित् ।
उद्योगिनः समभवन् खलु तत्तदाप्तौ,
नास्त्यालये, तदपि देयमवश्यमेव ॥

ग्रहणजात दोष का परिहार करने के लिए, धन, धान्य और वस्त्रादि के दान की विधि को पंडितों से पूछ करके, उन उन वस्तुओ को प्राप्त करने के उद्योग में बहुतेरे लग गये! घर में तो है नहीं, परन्तु देना अवश्य है!

(१०)

दैवज्ञमेव शरणं शिरसा नतेन,
केचित् फलानि भयदानि निशम्य जग्मु ।
केनाऽपि पंडितपते ! परिपाहि नस्त्वम्,
यत्नेन, वाक्यमिति दीनतमं न्यवेदि ॥

"पडित जी! अब तो आपही किसी प्रकार हमारी रक्षा कीजिए" इस प्रकार दीनता दिखलाते हुए बहुतेरे मनुष्य, भयंकर फलों को श्रवण करके, सिर झुकाय, ज्योतिषी जी की ही शरण में गये।

(११)

भानूपरागकृतभाविमहर्घतायाः,
संचिन्तनेन विवशाः कतिचिद्बभूवु ।
अन्नंविनाऽसदसवः कथमीश ! हा हा,
स्थास्यन्ति दुर्विलसिता इति संविलप्य ॥

"हे ईश्वर! यह हमारे पापी प्राण बिना अन्न के हा! हा! कैसे रहेंगे? इस प्रकार विलाप करके, सूर्यग्रहण के कारण होनेवाली महँगी का विचार कर, बहुतेरे, अतिशय विवश दशा को प्राप्त हुए।

(१२)

तत्तत्स्थलस्थितमहीसुरवल्लभानाम्,
गेहेषु दत्त नमाशु निवेशनाय ।

काशीप्रयागमथुराकुरुपुष्करादि-
तीर्थानि चेरुरतिभक्तिभरेण केचित् ॥

उन उन स्थानों के ब्राह्मणों की प्रियतमाओं के घर में अपने दिये हुए धन को झटपट, पहुँचा देने के लिए, बहुतेरे मनुष्य, बड़ी भक्ति के साथ, काशी, प्रयाग, मथुरा, कुरुक्षेत्र, पुष्कर इत्यादि तीर्थों को चले।

(१३)

काश्चित्तथा सुनयनाः सुरनिम्नगादि-
स्नानच्छलेन युवकैः सह संगमाय।
ईयुर्मनोरथशतं हृदि धारयन्त्यः,
संकेतितस्थलमनङ्गनिपीडितांग्यः ॥

अनेक कामपीड़ित, सुलोचनी कामिनी, नाना प्रकार के मनोरथों को धारण करती हुई, गंगास्नानादि के बहाने, युवकों से मिलने के लिए, संकेत किये गये स्थलों पर पहुँचीं।

(१४)

केचिद्वधूवदनचन्द्रविलोकनाय,
केचिद्धनस्य हरणाय परस्य, केचित्—
कूले ययुर्ग्रहणदुष्परिणामदुःख-
नाशाय सन्निकटवर्तिजलाशयस्य ॥

बहुतेरे वधू जनों के मुखचन्द्र को देखने के लिए, बहुतेरे दूसरों के माल मारने के लिए और बहुतेरे ग्रहण के दुष्परिणाम को मिटाने के लिए, समीपवर्ती जलाशय के किनारे उपस्थित हुए।

(१५)

येऽस्मद्विधा विधिवशान्न नु किंचिदन्यत्,
शक्ता न कर्तुमथ ते स्वकरे गृहीत्वा।
काचस्य कज्जलितपृष्ठतलस्य खंड-
मुच्चस्थले बहुभिरात्मजनैर्विरेजुः ॥

हमारे समान जो लोग और कुछ नहीं कर सके, वे एक ओर काजल से काले किये गये काँच के टुकड़े को हाथ में लेकर, किसी ऊँची जगह पर, अपने आत्मीय जनों के साथ, पहुँचे।

(१६)

यस्मिन् क्षणे चपलतातिशयेन चन्द्र,
उत्प्लुत्य मेघवदधः स्थलतश्चकार।
स्पर्श प्रमाणितदिने दिवसेशबिम्ब-
स्तस्मिन् बभूव जनलोचनलक्षलक्ष्यः ।।

उस दिन, जिस समय, मेघ के समान, नीचे की ओर से, अति चपलता के साथ, एकदम, चन्द्रमा ने सूर्य के विम्ब को स्पर्श किया, उस समय उसकी ओर मनुष्यों की लाखों आँखें आकर्षित हो गईं।

(१७)

दृश्यं विलोक्य तदिदं किल कोपि नादः
संश्रूयते स्म भुवि लोककृतः समन्तात्।
स्नाने, जपे, हरिहरस्मरणे, च दाने
सर्वेऽभवन् रुचिविचित्रतया निमग्नाः ।।

इस सूर्यग्रहण के दृश्य को देख कर-चारों ओर से लोगों ने अतिशय कोलाहल करना प्रारम्भ किया और अपनी अपनी रुचि के अनुसार स्नान, जप, हरिहर-स्मरण, दान इत्यादि में सब लोग निमग्न हो गये।

(१८)

हंहो ग्रसत्यरुणमण्डलमे राहुः,
पौराणिकैः खलु पुनः पुनरित्यभाणि।
वैज्ञानिकैरपरबुद्धिविचक्षणैस्तु,
सर्वैरमानि शशिचण्डकराऽभियोगः ।।

"देखो, राहु सूर्य-मंडल का ग्रास कर रहा है" इस प्रकार पौराणिकों ने बारम्बार प्रलाप किया; परन्तु विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता तथा अपर बुद्धिमान् जनों ने चन्द्रमा और सूर्य का योगमात्र निश्चित किया।

(१९)

धर्म प्रभो ! कुरु कुरु ग्रहणं प्रसक्तम्,
त्वं देहि देहि वसनञ्च, धनञ्च, धान्यम्।
इत्यादि दीनवचनानि च याचकानाम्,
केषां न कर्णकुहरे पतितानि तानि ?

"महाराज ! ग्रहण लगा है; धर्म कीजिए; न, धान्य, वस्त्रादि जो जिससे हो सके दीजिए, दीजिए", इस प्रकार याचकों के दीन वचन, उस समय, किसके कान में नहीं पड़े ?

(२०)

छायां करोति वियति स्म यदा यदेन्दुः,
श्यामप्रभां वितनुते स्म तदा तदार्कः ।
आपत्सु दैवविनियोगकृतागमासु,
धीरोऽपि याति वदने किल कालिमानम् ॥

आकाश में चन्द्रमा ने ज्यों ज्यों अपनी छाया बढ़ाई त्यों त्यों सूर्य ने श्यामता धारण की । दैवयोग से आई हुई आपत्ति के समय धैर्यवान् पुरुषों के भी मुख पर कालिमा छा जाती है !

(२१)

कालक्रमेण शशिना निजनीलमूर्त्या,
संच्छादनं कृतमिदं रविमंडलस्य ॥
येनेह रत्नगिरिबक्सरशाहडोल-
ग्रामेषु तस्य समलोकि समस्तलोपः ॥

कुछ काल के अनन्तर चन्द्रमा ने, अपनी नील मूर्ति से, रविमंडल को यहाँ तक आच्छादित कर लिया कि रत्नागिरी, बक्सर और शाहडोल आदिक स्थानों में उसका (अर्थात् सूर्यमंडल का) पूरा पूरा लोप दृष्टिगोचर हुआ ।

(२२)

शुभ्रप्रकाशरहिते जगतीतलेऽस्मिन्,
यल्लोहितातपरुचिर्ददृशे मनुष्यैः ।
तत्किं पुराणलिखितारुणराहुयुद्धे,
जाते विधुन्तुदशिरोऽस्रनिपातजन्मा ?

शुभ्र प्रकाश रहित इस भूतल में, कुछ कुछ लाल रंग की जो धूप, उस समय, देख पड़ी वह क्या, पुराण-प्रसिद्ध राहु और सूर्य के युद्ध होने से, राहु के सिर से निकले हुए रुधिर के गिरने से तो लाल नहीं हो गई थी ?

(२३)

ग्रासं गते नभसि पूर्णतयाऽर्कबिम्बे,
स्पष्टीबभूव भुवि कोपि तमिस्रपुञ्जः ।

आलोक्य कष्टमभितो महतां मलीनाः,
स्वान्ते सदा समधिकां मुदमुद्वहन्ति ॥

आकाश में सूर्य का पूरा पूरा लोप हो जाने पर, भूतल में, अन्धकार ने खूब ही अपना जोर जमाया। ठीक ही है; महात्माओं को विपत्तिग्रस्त देखकर मलीनान्तःकरणवाले दुर्जन अधिक प्रसन्न होते हैं।

(२४)

संध्याऽऽजगाम सहसा किमु त्यकाण्डे,
वासेच्छुकं खगकुलं विततिं ततान।
गावोऽपि गेहगमनोत्सुकतां दधानाः,
पुच्छं प्रसार्य परितश्चलिता सशब्दम् ॥

"क्या अभी सायंकाल हो गया ?" इस प्रकार सशंकचित्त होकर अकाल ही में, अपने अपने घोंसलों में जाकर वास करने की इच्छा रखनेवाले पक्षी बोलने लगे; और पशु भी घर जाने के लिए उत्सुक होकर, पूँछ उठा, चारों ओर से शब्द करते हुए चल पड़े।

(२५)

खग्रासतामभजतार्क इति प्रदातुम्,
साक्ष्यं किमेषु भगवानुशना मनुष्यान्।
तस्मिन् क्षणे समुदियाय नभोऽन्तराले,
यन्त्रं विनैव यदयं सकलैर्व्यलोकि ?

सूर्य का खग्रास ग्रहण हो गया—इस बात की मनुष्यों को साक्षी देने के लिए वह क्या शुक्र महाराज उस समय नभमंडल में उदय हुए, जो सब लोगों ने उन्हें यन्त्रों की सहायता के बिना ही दिन में देख लिया ?

(२६)

एवं गते मयि महाविषमामवस्थाम्,
कुर्वन्ति किं जगति सर्वजना तीव।
द्रष्टुं रविः पिहितबिम्बतटाऽभिजात-
ज्योतिश्छटाक्षिनिकरं बिभराम्बभूव ॥

इस प्रकार की विषम अवस्था को हमारे प्राप्त होने पर संसार में सब लोग क्या कर रहे हैं— सब बात को देखने ही के लिए मानो सूर्य ने छिपे

हुए अपने बिम्ब के किनारे से निकली हुई ज्योतियों की छटारूपी आँखों को धारण किया।

(२७)

देदीप्यमानदहनव्रजभास्करस्य,
साहाय्यमापदि विधातुमहो किमेषः।
वेगेन पश्चिमहरिद्वदनावलम्बी,
वायुः क्षणं प्रवहतिस्म तदा रुषेव॥

प्रचंड अग्नि के समूह सूर्य की, आपत्ति के समय, क्या सहायता करने के लिए (अग्नि का मित्र) यह वायु, पश्चिम दिशा की ओर, उस समय, बड़े वेग से, मानो क्रोध में आकर, बहने लगा।

(२८)

पूर्णग्रहस्य समये कतिचित्पलानि,
विश्वो विशे कपिशीकृत ईक्ष्यते स्म।
औदास्य भावमभजन् जनतामुखानि,
स्तब्धा बभूवुरिह सर्वदिशो नितान्तम्॥

पूर्ण ग्रहण के समय, कुछ क्षण तक, सारा संसार पिंगल वर्ण दिखाई दिया और स्तब्धतापूरित सब दिशाओं में, मनुष्यों के मुख उदासीनता को प्राप्त हुए।

(२९)

चन्द्रस्ततो लघुतया निजया दिनेशात्,
कक्षान्तरेषु गमनेन तदीयरोधम्।
कालक्रमेण विजहौ, तदनंतरं स,
सूर्यो जगाम भुवि नेत्रपथं जनानाम्॥

इसके अनन्तर, सूर्य से छोटा होने और कक्षान्तर में गमन करने के कारण, चन्द्रमा ने क्रम क्रम से सूर्य का रोध छोड़ा। तब वह भूतल में लोगों को दिखलाई दिया।

(३०)

खग्रासमाप खलु यः स दिवाकरोऽयम्,
स्वच्छे नभस्यतितरां महसा चकासे।

सम्पद्विपद्युगमिदं हि नितान्तलोलम्,
कुत्राऽपि नैव भजते स्थिरतां चिराय ॥

जिस सूर्य का अभी खग्रास हो गया था वही स्वच्छ आकाश में अब बड़े तेज से प्रकाशित हुआ। संपत्ति और विपत्ति का नितान्त चंचल जोड़ा कहीं भी चिरकाल स्थिर नहीं रहता।

(३१)

लोकद्वये भवति यावदिदं समस्तम्,
विज्ञानशास्त्रपटुभिः समुपादितानि ।
तावत्क्रमागतरविग्रहणस्य यन्त्रै-
श्चित्राणि चित्रफलकानि मनोहराणि ॥

आकाश और भूतल में जब तक यह सब होता है तब तक विज्ञान-शास्त्र के पारंगत विद्वानों ने, क्रम क्रम से होनेवाले सूर्यग्रहण के, यन्त्रद्वारा, अनेक मनोहर छायाचित्र सम्पादन किये।

(३२)

आदित्यमोक्षमनुलक्ष्य ततो मनुष्याः,
स्नानं वि ाय विधिवद्गृहमागताः स्मः ॥
एतस्य च ग्रहणवर्णनगुंफितस्य,
काव्यस्य पूर्तिरधुना क्रियते मयाऽपि ॥

सूर्य के मोक्ष को अनुलक्ष्य करके, तदनंतर विधिवत् स्नानपूर्वक, सब लोग घर आये। अतः ग्रहण वर्णनात्माक इस काव्य की हम भी अब पूर्ति करते हैं।

(३३)

एतानि पद्यकुसुमानि मयार्पितानि,
सन्त्येव यद्यपि गुणैरहितानि मित्र* !
भक्तिं विलोक्य मम तावदिमां तथापि
त्वं स्वीकुरुष्व बुधपूजितपाद ! तानि ॥

हे बुधजन पूजित मित्र ! हमारे द्वारा अर्पित किये गये ये पद्यरूपी पुष्प, यद्यपि सब गुणों से रहित हैं; तथापि हमारी भक्ति को देखकर आप इन्हें स्वीकार कीजिए।

---

* "मित्र" इति सम्बोधनेन श्रीमन्माधवराव व्येंकटेश लेले—यस्य सूचनेन दं काव्यं कृतं स तथा च सूर्यस्याप्यर्थो ज्ञेयः।

१०—बालविधवा-विलाप

(७ अक्टूबर, १८९८ के भारतमित्र में काशित)

(१)

आकाशमध्य रवि अंशु अनन्त धारी,
देखो प्रदीप्त दिन में तमपुञ्जहारी।
तारांधिनाथ जनमानसमोदकारी,
नक्षत्रयुक्त विलसै रजनीविहारी॥

(२)

विद्युत्प्रकाश अनलोद्भवभास भारी,
नाना नई विमलदीपशिखा सुखारी।
तेजोमयी शुचि महामणिमूर्ति सारी,
रत्नादिराशि महि माहि घनी निहारी॥

(३)

काहे तऊ अहह! मोहि महाऽन्धकारा,
सर्वत्र सम्प्रति दिखाय अहो! अपारा!
मत्प्रश्न हाय! यह, जीवन के अधारा!
पापिष्ट हृत्पटल फारि करै दरारा!!

(४)

मेरे दिनेश तुमहीं, तुमही निशेशा,
तारादिहू तुमहिं नाथ! रहे अशेषा।
प्राणेश! अस्त तव होतहि, लोक माहीं,
सारे प्रकाश मम अस्त भये लखाही॥

(५)

गर्भप्रपात कत हा! विधना न कीन्हा?
काहे न जन्मतहि मो कहँ मृत्यु चीन्हा?
रोगादिहू न अबलौं मम जीव लीन्हा?
रे दैव निष्करुण! दुःसह दुःख दीन्हा!!

(६)

वै व्यजातदुखसम्मुख तीव्र आगी,
है कः पदार्थ ? जरु देह ! अरे अभागी ।
हे प्राणनाथ ! नहिं सम्भव सोउ हा हा !
जानौं भले विधिविरुद्ध शरीरदाहा ।।

(७)

जो प्राण देहुँ जल मध्य करि प्रवेशा,
पाशादि लाय अथवा करहुँ स्वशेषा ।
तौ आत्मघातकृतपातकपुञ्ज जोरी,
हे नाथ ! होहि कुदशा अति और मोरी ।।

(८)

सूझै कछू यहि घरी अब नाहिं मोहीं,
बूझै न अन्य हतचित्त विहाय तोहीं ।
जावौं कहाँ ? कह करौं ? किहि धौं पुकारौं ?
हे जीवितेश ! किमि धीरज चित्त धारौं ?

(९)

हे प्राण दुर्ललित ! खोजहु अन्य गेहा,
दुःखाग्निदग्ध रहिहै न मदीय देहा ।
अद्यापि न त्यजहु मूढ़ ! मृषासुखाऽऽशा,
देख्यौ न काह तुम हा ! मम सर्वनाशा ।।

(१०)

को हौ, कहौ न कत, जीवित पाप पूरे ?
पाषाण पूर्ण तुम हौ अथवा अधूरे ?
देवेन्द्रवज्र अति कर्कश वा ? बताऔ,
जावौ न जो दुख—दवारि दहे, सतावौ ।।

(११)

देखी कहूँ न विटपाश्रयहीन बेली,
प्राचीन होहु अथवा अतिही नवेली ।
मैं मन्दभाग्य तिनतेऽधिक भूमि आई,
आधारहीन जउ जीव तऊ न जाई ।।

(१२)

आलाप दूरि, परिरम्भण दूरि, अंग-
स्पर्शादि दूरि, अरु दूरि निशि-प्रसंग।
देख्यो न हाय! मुखहू तव नेत्र लाई,
त्वन्नाम साथ तउ नाथ! गई बिकाई॥

(१३)

एतादृशी लखि दशा मम दुःखदाई,
हा हा करैं निपट नीचहु धाय धाई।
पै दैव! तोहि मम नेकु दया न आई,
रे दुष्ट! रे कुटिल! रे शठ! रे कसाई!

(१४)

तद्ग्रन्थिचिह्न पट में अजहूँ दिखाई,
जाके मि प्रणयबन्धन कीन आई।
त्यागा, सु भूलि सब, हाय! मदीय साथा;
विश्वासघात अस तोहि न योग्य नाथा॥

(१५)

मद्दुःख देखि विधि! जो करुणा न आवै,
नैष्ठुर्यनीरनिधि! मीचु न तू पठावै।
तौ काह दुष्ट! मम मातु बिलाप भारी,
छाती न फारि दुई टूक करैं तिहारी॥

(१६)

बीतै निमेष इक कल्प समान मेरो,
छूटै न जीव जिहि छूटतही निबेरो।
सन्धा कटै यदि किहू, न कटै सबेरो,
जावै वियोग अब नाथ! सहो न तेरो॥

(१७)

प्राणाधिक! त्वदनुराग हिए जगाई,
राखौं शरीर यदि दारुण दुःख पाई।
सारी समाज हठि निर्दयता दिखावै,
हाहा! मनौ क्षत भये पर लोन लावै॥

(१८)

सौभाग्य जासु मम पूर्व सबै सराहा,
सोई भई अब अमंगलमूल हा हा !
यामेऽपराध नहिं मोर कछू दिखाई,
मस्तिष्क मे न यह नारिन के समाई ॥

(१९)

नारी करैं, करहिं सो, नरहू अनेका,
देवैं अनाथ अबलान न सौख्य एका।
देखैं विपत्ति जउ नित्य नई हमारी,
होवैं दयार्द्र तउ ते न जड़त्वधारी ॥

(२०)

लै साठिवर्षतन स्यन्दन* में पधारी,
ब्याहे स्वयं सुभग बारहवर्षवारी।
पै ज्ञानगीत हम काहिं अहो सिखावैं,
कै पक्षपात अस ते न हिए लजावैं ॥

(२१)

भावी दशा सुमिरि आपनि जीवितेश !
काँपै हियो अहह ! होहि न धैर्यलेश ।
देवै जिते नरक पापिन धर्मराजा,
मों को इतैहि मिलि है तिनके समाजा ॥]

(२२)

अत्यन्धकारमय दुर्गृहगर्भ माहीं,
होई निवास मम रैनि दिना सदाही ।
तत्रस्थ मूस, छिपकी अरु [घूस केरी,
ढेरी अभद्र बनिहै सखिरूप मेरी ॥

(२३)

उच्छिष्ट, रूक्ष, अरु नीरस अन्न खैहौं,
चाण्डालिनीव मुख बाहर मूँदि जैहौं।

* पालकी ।

गालि-प्रदान निशि-वासर नित्य पैहौं,
हा हन्त ! दु:खमय जीवन यों बितैहौं ॥

(२४)

"रंडे ! तुही अवशि मत्सुत लीन खाई",
त्वन्मातु नाथ ! जब तर्जिहि यों रिसाई ।
ह्वैहै इहै तब मदीय मताऽधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित जाहुँ तहाँ समाई ॥

(२५)

हे प्राणनाथ ! बिनु तोहि हमारि हानी,
जेती भई सकहिं नारि समस्त जानी ।
तौहू दुरुक्ति कहि या बिधि नीचताई,
देहैं प्रकाश करि हाय ! हया विहाई ॥

(२६)

जो जाहि इष्ट तिहि नाश करै न कोऊ,
अत्यन्त उच्च अथवा अति नीच होऊ ।
होवै प्रविष्ट इनके हतचित्त माही,
सद्भाव हाय ! कत या विधि नाथ ! नाहीं ?

(२७)

ज्योंहीं कियो तुम हहा ! इतते पयाना,
त्योंही हमैं सबहि पातकमूर्ति माना ।
लोग प्रचण्ड-शनि-दृष्टि समान सौंहीं,
त्यागैं सदैव शुभ कारज माँहि मोंहीं ॥

(२८)

ऐसो भयोहु कहहु मो सन कौन पापा ?
जो देहिं मोंहि सिगरे मिलि तीव्र तापा ।
आपै मरो जु तिहि मारन में उछाहा,
अन्याय हाय ! इहि ते बढ़ि और काहा ?

(२९)

वाणी सुहात नहिं मोरि, न दीठि मोरी,
ताने कहैं तिय, तथा शिशु, वृद्ध, छोरी ।

सासु प्रदत्त चरखा तजि और कोई,
रैहै न पास दिन जैहहिं रोय रोई ॥

(३०)

धोती मलीन तन, कज्जल हीन नैन,
सिन्दूरबिन्द बिन मस्तक, दीन बैन ।
एरंड दंड सम हस्त, जटालु केश,
मद्देशवासि अस कौन मदीय वेश ॥

(३१)

एतेहु पै कतहुँ शिष्टसमाजरत्न,
पावैं न मोद, कछु और करैं प्रयत्न ।
प्राणातिरिक्त जिनकी किय नित्य सेवा,
काटैं कदर्य तिन केशनि हाय देवा ॥

(३२)

धिक्कार तोहिं हत भारतवर्षदेश !
धिक्कार सभ्यसमुदायहु निर्विशेष !
धिक्कार बुद्धि बल वैभव को हमेश ?
पावैं जहाँ निर्बल नारि इतो कलेश ॥

(३३)

ऐसे कछू प्रकट, गुप्त कछू, उचारी,
भारी विलाप करि मस्तक भूमि मारी ।
शोकार्त्त बालविधवा तनताप जारी,
हा ! हन्त ! ! हाय ! ! ! कहि मूर्छि परी बिचारी ॥

(३४)

एहो समाजकुलदीप ! इती हमारी,
विज्ञप्ति लेहु सुनि, दीनदशा निहारी ।
जो पै करौ न सधवा विधवान भाई !
दीजौ तदीय दुख अन्य अहो ! नसाई ॥

———

११—गर्दभ-काव्य

(२९ अगस्त, १८९८ के हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

शिशिर, वसन्त, हिमन्त, एक नहिं, ग्रीषमं हमको प्यारा है,
तपती भूमि, गाँव के बाहर, बरफिस्तान हमारा है ।
सन् सन् सन् सन् चलै लूह जब, आँवाँ अस जग जारा है,
तबहिं करें हम मौज मजे में, सारा मुल्क जारा है ॥

(२)

हरी घास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना, भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है ।
लच्छेदार चीथड़े, कूड़ा, जिन्हैं बुहारि निकारा है,
सोई, सुनौ सुजान शिरोमणि !, मोहनभोग हमारा है ॥

(३)

विप्रवर्ग से छठि आठैं है, क्षत्री महा जुझारा है,
वैश्य जाति के यहाँ हमारो घंटा भरि न गुज़ारा है ।
योग्य जानि यजमान आपनो हम धोबी स्वीकारा है,
सच्ची कहना ऐसो उज्ज्वल कोई और निहारा है ?

(४)

परम प्रसिद्ध राम को वैरी खर सो ससुर हमारा है,
कान कान्ह के खड़े कोन जिन धेनुक, सोई सारा है ।
नाम धरैं जे तऊ हमारो तिन मानहुँ झख मारा है,
जाके असि ऊँचे सम्बन्धी ताको कहैं नकारा है ?

(५)

बड़े बड़े, कवि, पण्डित, ज्ञानी, जग जिनते उजियारा है,
तेऊ लहैं उपाधि हमारी जब तब; अस सत्कारा है ।
मलिन, मन्द, अपवित्र, इते पर जिन हम काहिं विचारा है,
हियो कपार दुऊ में तिनके उपज्यो चक्षुविकारा है ॥

(६)

हल नहिं छुवैं, छुवैं नहिं छकड़ा; जानत सब संसारा है,
जुते देखि घोड़े, तन हमरो होवै फूलि नगारा है।
घरतें घाट; घाट ते घर को, जावैं हम दुइ बारा है,
सो तो कियो वायुसेवन को मानहुँ अपर प्रकारा है ॥

(७)

कोट, कमीज़, आदि को जबलों मिलै कड़ी फटकारा है,
तब लौ नदीतीर कुञ्जन में होहि विहार हमारा है।
पैठि गर्दभीमंडल भीतर कोककला विस्तारा है,
वह रसपान करन कहँ केवल एक हमैं अधिकारा है ॥

(८)

शीतकाल में शीत न व्यापै धरैं पोठि पट-भारा है,
गरमी में गिरि जाय सहजही तासों तन की छारा है।
करि बहुवार कमेटी, उत्तम लददूवृत्ति निकारा है,
सुधि आये गिट्टीवालेन की पै हिय होति दरारा है ॥

(९)

चपत हमैं चम्पा सम लागै; घूँसा फूल हजारा है,
लात खात मुख बात न बोलै, अटल मौन विस्तारा है।
धम् धम् धम् दस पाँच करैं जब गरुई गदा प्रहारा है,
चलैं पैग भरि तब कहुँ; ऐसो सहनशील हम धारा है ॥

(१०)

पीर उठै यदि सुनैं पियानो; कर्कश लगै सितारा है,
कोकिल कूक हूक उपजावै; अस स्वरज्ञान हमारा है।
दिलबहलाव हेत हम अपने मुख तें दुःख अपारा है,
मृदुल बोल बोलैं पंचम मे कबहुँ कबहुँ बहु बारा है ॥

(११)

खच्चर औ खचरी बहुतेरी आफरोदियन मारा है,
भाई बन्द हमारे यद्यपि, हम नहिं आह निकारा है।
गुलछर्रे नित उड़ैं हमारे; सुरपुर रजक दुआरा है,
कोई मरै न सोच होहि कछु—हमैं सुलभ यदि चारा है ॥

(१२)

मिलै पेट भरि भूलि न कबहूँ यद्यपि हमैं अहारा है;
मग ते पग भरि हम नहिं खिसकैं पचिपचि सब जगहारा है।
शेर आय यदि सिर पर गरजै, होहि न भय संचारा है;
जहँ के तहाँ डटे हम रहहीं, अद्भुत शौर्य हमारा है ॥

(१३)

रण हित लेन काज जब हम कहँ बाबू एक सिधारा है,
अंगद सम पद रोपि दीन हम तिल भरि टरो न टारा है।
लाठी, लात, हजारन हंटर, तब उठि वाने झारा है,
सिर हिलाय इक बार फुर्र करि, सो हम सकल बिसारा है ॥

(१४)

सीधी राह जाहिं, देखैं नहिं, कहाँ कूप कहँ नारा है,
निश्चल चित, नीचे सिर राखैं, मन संतोष अपारा है।
लादैं बोझ बराबरि अपनी, मुख ते चूँ न चकारा है;
अस स्वभाव, अस शील हमारो, को जग जाहि न प्यारा है?

(१५)

जब ते रेल देश यहि माही चरण आपने धारा है,
तब ते दुःख अनन्त हमैं अति होवै विविध प्रकारा है।
गिटकी, कंकर, ढोय नाक लौं पीड़ित प्राण पधारा है,
है कोउ हमै बचावै? इतना, बस, इक विनय हमारा है ॥

१२—आशा

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका के तृतीय भाग की तृतीय संख्या में प्रकाशित)

(१)

अहो देवि आशे! प्रशंसा तिहारी,
सकै कै यथावत् न जिह्वा हमारी।
महीमंडल, व्योम, पाताल माहीं,
कहाँ शक्ति न व्याप्त तेरी सदाहीं?

(२)

कलानाथ तेरी कृपादृष्टि पाई,
कलाहीनहू नित्य देवै दिखाई ।
ग्रहग्रस्त तेजोनिधी सूर्य, सोई,
प्रकाशै प्रभा को तवाधीत होई ।।

(३)

उतारै न एकौ घरी जो अहीशा,
धरा धारि राखी किये नम्र शीशा ।
कहौं सत्य सो सर्व तेरो प्रभावा,
यही सों तव स्तोत्र है मोहिं भावा ।।

(४)

जिती कल्पना, औ मनोवृत्ति जेती,
तिहारीहि दासी सदा सर्व तेती ।
न मानौं जु पूछौ स्वयं चित्त काही,
विना आश जावै कहूँहू, कि नाहीं ।।

(५)

धनी, निर्धनी हूँ, जराजीर्ण गाता,
वटी, चूर्ण, लेहादि पुष्टि-प्रदाता ।
तव प्रेरणा पाय सेवैं सबेरे,
बहावैं वृथा द्रव्य कंदर्प-चेरे ।।

(६)

ज्वरी, जन्मरोगी, क्षयी, क्षीण देहा,
वशीभूत तेरे भये, बैठि गेहा ।
नई नित्य विज्ञापना देखि देखी,
ठगावैं; न पै हानि मानैं विशेषी ।।

(७)

प्रियाहीनहू लोक में लोग नाना,
लहैं कामिनी कामपत्नी समाना ।
गहैं पाणि केरुह प्रेमबोरे,
सबै सो अहो ! एक तेरे निहोरे ।।

(८)

प्रजावर्ग को कै वशीभूत आशे !
दिखावै घने आपने तू तमाशे।
महाखर्वहू त्वद्दयादृष्टि पाई,
छुवै चन्द्रमा हाथ ऊँचो उठाई ॥

(९)

बिना पैर के पंगु पार्थाधिपारा,
क्षणैकार्द्ध मे लाँघि ऊँचे पहारा।
जहाँ जी चहै जाय, नाना प्रकारा,
विलोकै छटा, पाय तेरो सहारा ॥

(१०)

गये गर्भही म द्वऊ नैन जाके,
सुनौ, हौ सुनाऊँ, समाचार ताके।
अहो, सोउ, आशाकृपा पाय ! तारा,
गिनै सर्व आकाश के बीस बारा ॥

(११)

महामूकहू जे हिए तोहिं धारै,
प्रियापास ते प्रेम-गाथा उचारै।
विना कर्णशक्ति त्वदाकृष्ट नाना,
सुनै बात सौ कोस की सावधाना ॥

(१२)

अहै लोग मत्तुल्य जे पादगामी;
तवालम्ब लै जोति जोड़ी सुनामी।
फिरै नित्य सानन्द संध्या सबेरे,
न गाड़ी, न घोड़ा, न साईस नेरे ॥

(१३)

महादुःख में, शोक में, रोग माही,
विपत्काल में, कालहू में सदाहीं।
लखै लोग आशे ! सुसत्ता तिहारी,
गत प्राणवत् त्वद्विना प्राणधारी ॥

(१४)

युवा आश के पाश ते बद्धनाना,
करै काम बेदाम जानै जहाना,
बिना तोहिं कैसे करै धैर्यधारी,
कई वर्ष लौं कोउ उम्मेदवारी ।।

(१५)

गृहस्थाश्रमी, संयमी, भूमिपाला,
युवा-बाल-वृद्धादि जो जीवजाला ।
कहूँ कोटि में एक है वीतपापा,
न तेरो जहाँ जागरूक प्रतापा ।।

(१६)

अपुत्री जियै पाय तेरो प्रसादा,
तिया भर्तृहीना तजै दुर्वि ादा ।
पितागेह में कन्यका कामजारी,
रहै वर्ष बाईस लौंहू कुमारी ।।

(१७)

तुही मोहिनी, तूहि मायाविनी है,
तिहूँ लोक की तूहि संजीवनी है ।
रहै तू न जो, विश्व-जात-प्रसारा,
बनै दण्ड में दण्डकारण्य सारा ।।

(१८)

उड़ावै शरन्मेघ को वायु जैसे,
इतै ते उतै को चहूँ ओर तैसे ।
मनोवृत्ति को तू सदैव भ्रमावै,
न विश्राम एक क्षणौं लेन पावै ।।

(१९)

न पृथ्वी, न पाताल न स्वर्गधामा,
बचै एकहू; तू फिरै अष्टयामा ।
असी रेल, सौ तार, विद्युत् हजारा,
भगैं साथ तेरे जू, पावैं न पारा ।।

(२०)

कछू प्रार्थना है हमारी सुनीजै,
जगद्धात्रि आशे ! कृपाकोर कीजै ।
सबै देन की देवि ! सामर्थ्य तेरी,
यही धारणा है सविस्वास मेरी ॥

(२१)

गुण-ग्राम की आगरी नागरी है,
प्रजा की जु सम्मानसोजागरी है ।
मिलै ताहि राजाश्रय क्षेमकारी,
यही पूरियौ एक आशा हमारी ॥

१३—प्रार्थना

(७ एप्रिल, १८९९ के श्री वेंकटेश्वर-समाचार में प्रकाशित)

(१)

काशी, अयोध्या सम राजराजा,
मानै जिन्हैं राजन को समाजा ।
पन्ना तथा क्षत्रपुर प्रधाना,
ओर्छा धराधीश महामहाना ॥

(२)

औरौ जिन्हैं देखि दगै सलामी,
स्वामी मही के महिपाल नामी ।
तथैव अल्पाल्प-धराधिकारी,
अतीव उर्दू जिनको पियारी ॥

(३)

कर द्वऊ जोरि तिन्हैं दुखारी ,
    हौं प्रार्थना एक करौं पुकारी ।
महीप ! मोसों सुनि ताहि लीजै,
    कृपा इती आप अवश्य कीजै ॥

(४)

न भूमि विश्वा भरि भूमिपाल !
    नाहीं रसाल-द्रुमहूँ विशाल ।
न वस्त्र माँगौं नयनाभिराम,
    न धाम, न ग्राम, न छदाम ॥

(५)

मत्प्रार्थना-जात तव प्रसादा,
    विदारि सारो जनदुर्विषादा ।
तिहारिही पुण्यकथा बढ़ैं हैं,
    यशःपताका चहुँधा उड़ैहैं ॥

(६)

त्वदीय वंशीय महीप नाना,
    जे जे भये हर्ष सम प्रधाना ।
ते ते जबै मत्स्मृतिपन्थ पावै,
    धारा प्रमोदाश्रुन की बहावैं ॥

(७)

श्रीविक्रमक्ष्मापति, भोज भूपा,
    श्रीमानसिंहादि महेन्द्ररूपा ।
स्वदेश-भाषा-हित-सिद्धि जेती,
    कीन्ही, छिपी आजहुँ नाहि तेती ॥

(८)

न जो इतो संस्कृत-सुप्रकर्षा ,
    सदैव ही ते करते सहर्षा ।
विपन्न होती निज देखि अन्त,
    पधारि पातालपुरी तुरन्त ॥

(९)

कहाँ किरातार्ज्जुन की कहानी,
कहाँ नई नैषधकार बानी।
होते कहाँ काव्यकलाप सारे,
शकुन्तला आदि कहाँ हमारे॥

(१०)

तथैव जे ज्योतिष, नीति केरे,
साहित्य के, व्याकृति के घनेरे।
लखे परैं ग्रन्थ अहो अनेका,
कदापि होते कहुँ नाहिं एका।

(११)

बिना स्वराजाश्रय देवबानी,
न भूलि होती गुणराशि खानी।
जाने सबै सो तिहुँलोक माही,
है सत्य, है सत्य, असत्य नाहीं॥

(१२)

हा! हन्त! हिन्दी सुइ तासु कन्या,
सर्वं प्रकार व्यवहार न्या।
गली गली आजु मलीन दीना,
मारी फिरै है अवलम्ब-हीना॥

(१३)

त्वत्पूर्व-पृथ्वी-पति-पक्ष पाई,
भई सुसम्मानित जासु माई।
तदात्मजा दुर्दिन देखि हा हा!
कोहै हियो जासु दहै न दाहा?

(१४)

दयाधन! क्ष्मापतिवंशदीप!
प्रजाजन-प्राण! अहो महीप!
दया तिहारी कित है सिधाई,
स्वमातृ-भाषा सुधि जो भुलाई॥

(१५)

यदि स्वपूर्वार्य-पदानुरागा,
न देवभाषा सन जो विरागा।
तौ को तदीय प्रियकन्यकाही,
देवै बहिष्कार बिसारि ताही॥

(१६)

यदि स्वकन्या प्रतिपाल धर्म्म,
यदि स्वसा* त्यागन में अधर्म्म।
अहै बहिष्कार अनीत-जात,
तो नागरी को, यह सत्य बात॥

(१७)

सिंहासनारूढ़ जहाँहि माता,
रही, तहाँ धूलि भरो स्वगाता।
विलोकि, आत्मा अपघात नारी,
करैं ऽपमानार्दित जीव-जारी॥

(१८)

कुलीन कन्या सम धर्म्मधीरा,
न नागरी, किन्तु, तज्यौ शरीरा।
तथापि जीर्णाऽखिल-गात बाला,
मनावती आपन मृत्युकाला!

(१९)

भुजावलम्ब क्षितिपालरत्न,
अवश्य दै ताहि करो प्रयत्न।
न होहि जासो अपमृत्यु ताकी,
सहायता माँगहुँ और काकी?

(२०)

न जो कदाचित् विनती हमारी,
प्रवेश पैहै बुधि मे तिहारी।

---

* स्वसा—भगिनी।

जनापवाद-व्यथमान ह्वै हौ,
अन्त स्वयं सर्वं यथेष्ट देहौ ॥

(२१)

सदोष उर्दू, पुनि अन्य देशी,
हिन्दी गुणग्राम-भरी, स्वदेशी।
तुम्हैं तथापि प्रथमा पियारी,
हा! हा! द्वितीया घर ते निकारी ॥

(२२)

निकारि नारी निज, तोष मानै,
बीबी विदेशी यदि कोउ आनै।
विलोकि ताको, सिर भूमि मारै,
"अन्याय अन्याय" न को पुकारै?

(२३)

लखे परैं केतिक ते नरेश,
हस्ताक्षरौ उर्दुहि में हमेश।
करैं, अहो! जे सुखसों विशेष,
आनैं हिए में न विचारलेश ॥

(२४)

ऐसी दशा देशहि में निहारी,
सहस्रधारा दृगअश्रु ढारी।
अधोगतिप्राप्त महादुखारी,
हिन्दी हहा! जाय कहाँ विचारी?

(२५)

कियो परित्याग यदि क्षितीश!
न और हिन्दी कर कोउ ईश।
विचारियो भूपति! चित्त माँहीं,
तुम्हैं बिना तद्गति अन्य नाहीं ॥

(२६)

सुहेलना भूलि सबै स्वकीया,
महीप! माँगै शरण त्वदीया।

अवश्य ताको अपनाय लीजै,
हिन्दी हियो शीतल आजु कीजै ॥

(७२)

अज्ञात, वा ज्ञात, जुपैऽपराधा,
हिन्दीकृत क्षमापति ! एक आधा।
भयो, तऊ ताहि बिसारि देहू,
क्षमा क्षमा बोलत धाय लेहू ॥

(२८)

मत्प्रार्थना एक इती भुवाल,
सुपूर्ति ताकी करियो कृपाल !
राज्य प्रजा आयु बढ़ै तिहारी,
अखण्ड आशीष है हमारी ॥

१४—मेघमालां प्रति चन्द्रिकोक्तिः ।

(हिन्दीप्रदीप की २३वीं जिल्द की चतुर्थ, पंचम और षष्ठ संख्या में प्रकाशित)

(१)

स्वदोषराशिञ्च तृणाय मत्वा
ममोपरि त्वं यदकारणञ्च ।
करोषि कृष्णे ! करकानिपात-
माश्चर्यमेतन्ननु मेघमाले !

हे कृष्णे ! (काले रंगवाली) मेघमाले ! अपनी दोषराशि को तृणवत् समझकर, मेरे ऊपर, अकारण ही तू जो ओले बरसा रही है, वह बड़े आश्चर्य की बात है।

(२)

रत्नाकरो यस्य पिता, च लक्ष्मीः
स्वसा स्वयं सा जगतोऽस्य माता ।

नारायणो यद्भगिनीपतिश्च
स विश्रुतः किं तव नो सुधांशुः ?

जिसका पिता रत्नाकर (रत्नों की खान—समुद्र); जिसकी बहन स सारे संसार की माता, साक्षात् लक्ष्मी; जिसका भगिनी-पति (बहनोई) स्वयं नारायण—उस सुधांशु (चन्द्रमा) का क्या तूने नाम भी कभी नही सुना ?

(३)

इन्दुः सदा यः शशिशेखरस्य
महात्मनः सर्वसुखाकरस्य ।
विराजते विस्तृतभालदेशे
तस्यांगजामेव हि मामवेहि ॥

सब सुखों के आकर (खानि) महात्मा महादेवजी के विशाल भाल-प्रदेश में सदैव जो शोभायमान है, उसी चन्द्रमा के अंग से मैं उत्पन्न हुई हूँ; समझो।

(४)

तामेव मां व्योम्नि वृथावृणोषि
पुनः पुनः कृष्णमुखि ! त्वमेवम् ।
कुबुद्धिशीले ! त्रपसे कथं न
विशालवर्षोपलवर्षणेन ?

हे कृष्णमुखि ! (काले मुखवाली) उसी मुझको, इस प्रकार आकाश मे तू बारबार वृथा घेरती है। हे कुबुद्धिशीले ! यह बड़े बड़े पत्थर बरसाते तुझे लज्जा भी नहीं आती !

(५)

नूनं विजानासि न मेघमाले
दितदन्याय्यमिह प्रदर्श्य ।
श्रीश्रीपतिं त्र्यम्बकमिन्दुमब्धिं
सर्वांश्च कोपाकुलितान् करोषि ॥

हे मेघमाले ! जान पड़ता है तुझे इस बात की खबर नहीं है, कि इस अन्याय के कारण, तू, मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले श्री-श्रीपति-त्र्यम्बक-इन्दु-अब्धि-इत्यादि इन सब देवताओं के क्रोध को बढ़ा रही है।

(६)

सुश्लाघते यामनिशं त्रिलोकी
तां निन्दयन्ती प्रतिभासि मे त्वम् ।
उन्मादयुक्ता, किमु सन्निपात-
ग्रस्ता, पिशाचस्य करे गता वा ?

जिस मुझे तीनों लोक अहर्निश साधुवाद से प्रसन्न करते हैं, उसी की तू निन्दा करती है ! मुझको जान पड़ता है, तुझे उन्माद हुआ है; अथवा उन्माद नहीं तो सन्निपात हुआ है; अथवा सन्निपात नहीं तो तेरे ऊपर कोई पिशाच सवार है ।

(७)

"अहं जगज्जीवनहेतुभूता"
यदेवमेवं बहुशो विकत्थ्य ।
इतस्ततस्ताण्डवमातनोषि
जानामि तत्सर्वमहं यथार्थम् ।।

"मैं ही सब जीवों के जीवन का कारण हूँ", इस प्रकार पुनः पुनः प्रलाप करके चारों ओर, जो तू अपना नाच-कूद दिखला रही है, उसका मर्म मैं भली भाँति जानती हूँ ।

(८)

स्वस्यैव दोषञ्च गुणञ्च सम्यक
नेत्रं यं पश्यति न स्वकीयम् ।
तत्त्वं मुखान्मे शृणु तत्त्वमद्य
यद्यस्ति वाञ्छा श्रवणे त्वदीया ।।

अपने ही दोष अथवा अपने ही गुण को, अपने ही नेत्र, अच्छे प्रकार से नहीं देख सकते। अतः यदि तेरी इच्छा सुनने की हो, तो तू आज मेरे मुख से अपनी यथार्थ लीला सुन ।

(९)

विभाव्यते चण्डि ! मयेति नूनं
समस्तदेशार्दनतत्परस्य ।
अवर्षणस्याद्य न तस्य कोऽपि
स्मृतिं विसस्मार विकम्पदात्री ।।

हे चण्डि! (लड़की) मैं समझती हूँ, समस्त देश को पीड़ित करनेवाले, उस अकाल की, कम्पोत्पादक सुधि, अभी तक किसी को नहीं भूली।

(१०)

भिक्षारतासंख्यमनुष्यजाति-
र्हो सादेन तवैव पश्य।
विना जलं वृष्टिभवं विनान्नं
कीनाशदेशातिथितामवाप॥

देख, उस समय, तेरे ही प्रसाद से, बिना पानी और बिना अन्न के असंख्य मनुष्य, क्षुधार्त्त हो होकर, यमपुरी को चले गये।

(११)

वध्वश्च बाला विधवात्वमापु-
र्नराः पितृभ्रातृवियुक्ततांश्च।
विचिन्त्य तत्तत् हृदयं जनानां
हा! हन्त!! हा हा!!! शतधा प्रयाति॥

नवीन विवाहिता स्त्रियाँ विधवा हो गईं, मनुष्य बिना भाई और बिना बाप के हो गये। हाय! हाय! उन बातों का स्मरण होते ही कलेजे के सौ टुकड़े हो जाते हैं!

(१२)

त्वं* सैव पापे! खल वत्सरेऽस्मि-
न्देशानहो मालवगुर्जरादीन्।
पुनश्च निर्मानुषतां विनेतु-
मवर्षणेनैव समुद्यतासि॥

हे पापिनी! वही तू, फिर भी, इस साल, पानी न बरसा कर, गुजरात, मालवा इत्यादि देशों को मनुष्यहीन करने पर उद्यत हुई है!

(१३)

विकत्थसे दुर्मुखि! जीवदान-
कथां मुहुस्त्वं कथयन तथापि।

* यह पद्य फरवरी, १९०० में लिखा गया है।

विधाय कर्म्मेदृशमप्यनर्हं,
न लज्जसे ? धिक् तव साहसिक्यम् ॥

हे दुर्मुखि ! (बुरे मुखवाली) तिस पर भी तू, पानी बरसा कर लोगों को जीवदान देने की कथा, बारबार इधर उधर कहती फिरती है। स प्रकार का अनार्य कर्म करके भी तुझे लज्जा नहीं आती! तेरे साहस को धिक् !!

(१४)

विहारदेशः सहसा बभूव
प्रायो विनष्टः सलिलाप्लवेन।
दिनानि जातानि बहूनि नैव
न विश्रुतं तत्किमु मेघमाले ?

हे मेघमाले ! अभी बहुत दिन नहीं हुए; बूड़ा आने से प्रायः सारा बिहार-प्रान्त सहसा जल-मग्न हो गया। क्या यह भी तूने नहीं सुना ?

(१५)

मृता मनुष्याः पशवो हताश्च
गता जले ग्रामगणा अनेके।
पिनाकपाणिर्मम विद्यतेऽस्मिन्
साक्षी, त्वदीयोऽपि च वज्रपाणिः॥

अनेक मनुष्य मर गये; अनेक पशु मर गये; अनेक ग्राम रसातल चले गये। मैं क्या झूठ कहती हूँ। कदापि नहीं। इस विषय में मेरे शंकर साक्षी हैं; तेरे भी साक्षी इन्द्र हैं। उनसे पूछ।

(१६)

अयं प्रसादोऽपि तवेति लोके
विलक्षणं वेत्ति मनुष्यवर्गः।
दत्ते च तुभ्यं बहु धन्यवादं
त्वया गृहीतः स न वा, न जाने॥

यह भी सब तेरा ही प्रसाद है। इस बात को सब लोग विलक्षण प्रकार से जानते हैं। जानते ही नहीं किन्तु तुझे धन्यवाद भी देते हैं! मैं नहीं जानती, उनका धन्यवाद तूने ग्रहण किया अथवा नहीं!!

(१७)

नृशंसताभ्यासपरामिमां स्वां
कृतिञ्च विस्मृत्य तथापि कृष्णे !
चराचरप्राणधनप्रदान-
भेरीं भृशं वादयसीति चित्रम् ॥

हे कृष्णे ! तिस पर भी, तू, अपनी एतादृशी मनुष्यसंहारकारिणी कृति को भूलकर, चराचर को प्राण-दान देने की दुन्दुभी बजाती फिरती है। यह महा आश्चर्य की बात है !

(१८)

धन्या त्वदीया किल सत्यतायां
प्रीतिश्च, धन्यस्तव, युक्तिवादः।
धन्यञ्च धाष्ट्र्यं ननु मेघमाले !
त्वञ्चापि धन्या स्वयमेव बाले !

मेघमाले ! धन्य तेरी सत्य प्रीति ! धन्य तेरी बातचीत करने की युक्ति ! धन्य तेरी धृष्टता ! धन्य तू स्वयं भी !

(१९)

गृह्णासि पाथोऽधिपतेश्च यस्मात्
पाथः सदा पाणियुगं प्रसार्य।
करोषि तस्मिन्नपि वज्रपातं;
हा हा विवेकस्तव कीदृशोऽयम् ॥

जिस समुद्र से सदैव हाथ जोड़ जोड़ तू पानी लेती है, उस पर भी तू वज्रपात करने से नहीं चूकती। हाय ! हाय ! तेरा यह अविवेक कैसा ?

(२०)

जानासि किं त्वन्न तवैव योगं
प्राप्य प्रियाः प्रेमपरा निशायाम्।
केलिस्थलं सत्वरमेव गत्वा
कुर्वन्ति पापं व्यभिचारजातम् ॥

क्या तू नहीं जानती कि रात में, तेरे योग से अधिक अन्धकार देख,

कामान्ध स्त्रियाँ, संकेतस्थान को जाकर, व्यभिचारजात घोर पातक करती हैं।

(२१)

तवैव योगेन निशि प्रहृष्टा-
श्चौरा धनं धान्यमहो हरन्ति ।
दशन्ति सर्पा अपि घोररूपा
यदासि रात्रौ गगने त्वमेव ॥

तेरे ही योग को पाकर, प्रसन्नतापूर्वक, रात्रि में, चोर लोग धन-धान्य सभी हरण करते हैं। यही नहीं, किन्तु, रात्रि में जब तू आकाश आच्छादित कर लेती है तभी बड़े बड़े घोर सर्प भी लोगों को दंश करते हैं।

(२२)

हे धूम्रवर्णे ! जलवाष्पदेहे !
कृष्णे ! न चाहङ्कृतिमुद्वहस्व ।
स्वल्पां स्थितिं स्वामनुलक्ष्य तिष्ठ
वातोऽपि ते घातकृतौ समर्थः ॥

हे धूम्रवर्णे ! हे जल-वाष्पदेहे ! हे कृष्णे ! बहुत घमंड मत कर। तेरी स्थिति दो ही चार घड़ी की होती है। उसे न भूल। चुपचाप बैठी रह। और की तो बात ही नहीं, यः कश्चित् एक छोटा-सा वायु का झकोरा भी तुझे समूल उड़ा ले जाने के लिए बस है।

(२३)

दुर्धर्षिणि ! क्वापि भविष्यसि त्वं
प्रहर्षिणी मे न वदामि सत्यम् ।
पर्जन्यपूर्तिं मदमित्रनेत्र-
धाराः करिष्यन्ति सदा यथेच्छम् ॥

हे दुर्धर्षिणी ! तू मेरे लिए कभी भी प्रहर्षिणी (आनन्द देनेवाली) नहीं हो सकती। यह मैं सत्य कहता हूँ। तेरे बिना मेरा काम न चलेगा—यह तू मत समझ। मुझको, मेरे शत्रुओं के नेत्रों से निकली हुई अश्रुधारायें, वृष्टि का काम देने के लिए सदा अलं होंगी।

१५—कथमहं नास्तिकः

(२७ मई, १८९९ इत्येतत्तिथे राजस्थान-समाचारपत्रे प्रकाशितः)

(१)

जागर्ति देव ! तव शक्तिरनन्तरूपा
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
तारापथे, भुवि, नरे च, नरेश्वरे च
तोयेऽनले, मरुति, मृद्यपि साऽऽविरास्ते ।।

हे देव ! आपकी अनन्त शक्ति, इस चराचर पूरित त्रिभुवन मे व्याप्त होकर, देदीप्तमान हो रही है। वह कहाँ नहीं है? आकाश मे, पृथ्वी मे, राजा में, प्रजा में, अग्नि में, जल में, वायु में, सब कहीं है। और कहाँ तक कहें—मृत्तिका तक में वह विद्यमान है।

(२)

पश्यामि ता भुवननायक ! भूतमात्रे
दृष्टं हि नैकमपि वस्तु तया विहीनम् ।
एतन्मुहुर्मुहुरहं मनसा विचिन्त्य
पारं न यामि परमेश्वर ! ते महिम्नः ।।

हे भुवननायक ! आपकी उस अनन्त शक्ति को हम भूत मात्र में देखते हैं। एक भी तो वस्तु ऐसी नहीं जिसमें वह अधिष्ठित न हो। बारम्बार यही सब मन ही मन चिन्तन करके, आपकी महिमा के पार जाने से, हम असमर्थ हो रहे हैं।

(३)

पत्रं न कम्पमयते धरणी ह्याणा—
माज्ञां विनैव तव तत्त्वविदो वदन्ति ।
जानामि सर्वमहमीश्वर ! चेत्सीदं
तर्हि भो ! कथमहो ननु नास्तिकोऽस्मि ?

हे ईश्वर आपकी आज्ञा बिना पत्ता तक नहीं हिलता—यह बड़े बड़े तत्त्वज्ञानी महात्मा कह रहे हैं। इस बात को हम भी भली भाँति जानते हैं; अतः हे भो ! हम नास्तिक क्योंकर हैं? यह हमें नहीं समझ पड़ता।

(४)

वेदास्त्वदीयवचसां यदयं विलासो
जानाम्यहं तदपि; तान् हृदि धारयामि।
केनास्तु नाम मम नास्तिक ?· इत्यवैषि·
त्वञ्चे या न! दयालुतयाऽधि धेहि॥

चारों वेद आपकी वाणी का विलास है अर्थात् आपही के मुख से निकले हुए हैं; इसे भी हम जानते है; जानते ही नही किन्तु वेदों को हृदय से मानते भी हैं। फिर, हमारा नाम, "नास्तिक" क्योंकर हो सकता है? हे दयाघन! यदि इसका भेद आप जानते हों तो, दया करके आपही हमें बतलाइए।

(५)

लोकैकदीपकमणौ द्युमणौ त्वदीयं
सत्वं चकास्ति खलु यत्तिमिरापहारि,
तस्यैव कोऽपि भुवनाधिपते! सदंशो
रथ्यारजः कणगणेषु विराजतेऽग्रम्॥

हे भुवनाधिपते! त्रैलोक्यदीपक सूर्य में, अन्धकारनाशक आपका जो सत्व चमक रहा है, उसी का कोई क्षुद्र अंश गलियों में पड़े हुए रजः-कणों में भी विराजमान है।

(६)

जानाति तत्त्वमिदनेव सदा जनो यो
ब्रूहि त्वमेव भगवन्! किनु नास्तिकः सः?
एवं भवेद्यदि तदा जगतीतलेऽस्मिन्
मन्ये ह्यभावमहमीश! सदास्तिकानाम्॥

हे भगवान्! जो मनुष्य इस तत्त्व को जानता है, आपही कहिए, क्या वह नास्तिक है? हे ईश! यदि यह बात सम्भव है, तो इस महीतल में, हमारी समझ में, कोई आस्तिक ही नहीं; सभी नास्तिक हैं।

(७)

मूर्तिस्तु नौमि निखिलेष्वमरालयेषु
नाहं, न, देव! श्रृणु सत्यवचो वदामि।

सत्तां विलोक्य सकले जगति त्वदीयां
प्रीतिस्तथाप्यतिशया प्रतिमासु नो मे ।।

हे देव! जितने देव-मन्दिर हैं, उनमें स्थापन की गई मूर्तियों को हम नमस्कार नही करते, ऐसा नहीं; हम नमस्कार करते हैं। हमारे इस कथन को आप सत्य समझिए। तथापि, आपकी सत्ता को, इस सारे जगत् में विद्यमान देख, केवल प्रतिमाओं में ही हमारा अतिशय प्रेम नहीं।

(८)

आश्चर्यमेतदखिलेश! न ते प्रभूतां
शक्तिं विलोकयत एव चराचरे मे।
सर्वत्र पश्यति तव प्रभुतां प्रभो! यः
स त्वेकवस्तुनि कथं विदधातु भक्तिम् ?

हे अखिलेश! आपकी महती शक्ति को, चराचर में देखनेवाले हमारे लिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। हे प्रभो! आपकी प्रभुता को जो, सर्वत्र, सारी वस्तुओं में, देख रहा है, वह एक ही वस्तु की भक्ति में, किस प्रकार लीन हो सकता है?

(९)

एतादृशं जनमथो खलु ये विमूढा
आस्तिक्यतत्त्वरहितं प्रवदन्ति, ते तु।
मैरेयनाशितधियः किमुत त्रिदोष-
पाशैकतानहृदयाः किमु नेत्रहीनाः?

ऐसे मनुष्य को, जो मूढ़ नास्तिक कहते हैं, वे हमारी बुद्धि में मद्य-प्राशन करके मतवाले हो रहे हैं; अथवा सन्निपात की पाश में फँसे है; अथवा आँखो के अन्धे हैं।

(१०)

द्रष्टुं वधूजनमुखानि सुरालयेषु
सायं प्रभात इह यत्क्रियते प्रयाणम्।
लोकाः स्तुवन्तु यदि नाथ! तदेव नूनं
हा हा! हतं!! जगदधीश! तदाऽऽस्तिकत्वम् ।।

हे जगदधीश! जो लोग मृगनयनी कामिनी जनों की ओर घूरने

ही के हेतु, देवालयों को, सवेरे और सायंकाल, जाते हैं उन्हीं की सब कोई यदि प्रशंसा करे, तो, हाय! हाय! आस्तिकता अस्त हो गई समझनी चाहिए!

(११)

हस्तं निधाय जगदीश ! पटान्तरेषु
प्रातस्त्वनेकविध मन्त्रजपच्छलेन ।
कुर्वन्ति येऽन्यजनपीडनचिन्तनानि
तेभ्यो मदीयनमनानि लसन्तु दूरात ॥

हे जगदीश! प्रतिदिन, प्रातःकाल, हाथ को कपड़े में छिपा कर अनेक प्रकार के मंत्र जप करने के मिष, जो लोग, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने ही का चिन्तन करते हैं, उनको हमारा दूर ही से नमस्कार है!

(१२)

एवंविधैव भुवि धार्मिकता जनेषु
तोषं तनोति यदि देव! तनोतु कामम्।
प्राणात्ययेऽपि ननु नाभिलषाम्यहं तां
स्वैरं जनाभिहितनास्तिकता ममास्तु ॥

हे देव! यदि इसी प्रकार की धार्मिकता से लोगों को सन्तोष होता हो तो, बहुत अच्छी बात है; वह भली भाँति सन्तुष्ट होवें। परन्तु हम तो प्राण जाने तक भी उस प्रकार की धार्मिकता की अभिलाषा नहीं रखते। लोग हमको भले ही नास्तिक कहा करें।

(१३)

कृत्यं विधाय जगतीह मलीमसं ये
भाले दधत्यमलचन्दनपंकलेपम्।
तेषां निशम्य गणनामतिधार्म्मिकेषु
हास्यं जहाति जगदीश्वर! नो मदास्यम् ॥

हे जगदीश्वर! इस संसार में काले से भी काले कर्म करके, जो लोग ललाट पर चन्दन का सफ़ेद लेप लीपते हैं, उनकी भी गणना जब हम बड़े बड़े धार्मिकों में सुनते हैं, तब हमारे मुख में, हँसी किसी प्रकार नहीं रुकती।

(१४)

ये सन्ति धर्म्मनिचया धरणीतले ऽस्मि-
न्नेका दयैव सकलेषु च सारभूता।
जानन्ति तत्त्वमिदमीश्वर! बालवृद्धाः
श्रद्धास्तु, नास्तु, रुचिभेदवशेन तस्मिन्॥

हे ईश्वर! इस भूतल में जितने धर्म हैं, सबमें एक मात्र दया ही सार है। छोटे-बड़े सभी, इस सिद्धान्त को मानते हैं। फिर चाहे रुचि-वैचित्र्य के कारण उसमें उनकी श्रद्धा हो अथवा न हो।

(१५)

सद्धर्म्मसारमनुमाय यथामतीदं
शोकार्त्तबालविधवासु दयां दधेऽहम्।
तेनैव नास्तिकनरः किमहं भवेयम्?
पश्य त्वमीश! जडता जगतोऽस्य केयम्?

हे ईश! इस प्रकार, यथामति, सब सद्धर्मों का सार समझकर, शोकार्त्त बाल-विधवाओं के ऊपर हमको दया आती है। तो क्या इससे हम नास्तिक हो गये? देखिए तो सही; संसार की इस जड़ता का कहीं ठिकाना है?

(१६)

धर्म्मस्य मूलमिह देव! यदि प्रकृष्ट
आचार एव सुविचारकलोकदृष्टया।
तर्हि प्रयान्तु विलयं श्रुतयस्त्वदीया
अब्धौ पतन्तु तरसा स्मृतयोऽस्मदीयाः॥

हे देव! सुविचारक जनों की दृष्टि में, उत्कृष्ट आचार ही यदि धर्म का मूल हो तो, आपकी श्रुतियाँ विलय को प्राप्त हो जावें और हमारे पूर्वजों की स्मृतियाँ भी समुद्र में डूब मरें? उनकी आवश्यकता ही फिर क्या रह गई?

(१७)

ईश! श्रुतिस्मृतिपथं प्रतिवासरञ्च
के न त्यजन्ति बहुवारमिहैव नूनम्?
एते तु धार्म्मिकशिरोमणयस्तथापि
ग्लानिं भजन्ति भुवनेश्वर! नो कदापि!

हे ईश! श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्ग का—एक बार नहीं अनेक बार—कौन नहीं उल्लंघन करता ? तथापि हमारे धार्मिक-शिरोमणि, ऐसा करके भी, मन में किञ्चिन्मात्र भी ग्लानि नहीं लाते!

(१८)

रूढि विहातुमथ यो यतते परन्तु
तं, दुर्बलागहरिणं किल केसरीव।
विश्वेश! पश्यति रुषारुणनेत्रलोको
हा हा! विवेकविषये किमियत्युपेक्षा!!

परन्तु, हे विश्वेश! रुढ़ि से बाहर होने की जो मनुष्य ज़रा भी इच्छा करता है, उसको—दुर्बल हरिण की ओर शेर के समान—लोग क्रोध से नेत्रों को लाल लाल करके देखते हैं। हा विवेक-ग्रहण में इतनी उपेक्षा!!!

(१९)

आचारमात्रपरिपालनलीन एव
लोके किलास्तिकनरप्रवरो; जनोऽन्यः।
घोरो हि नास्तिक—इति ब्रुवता नराणां
स्वल्पापि देव! समुदेति कथं न लज्जा?

हे देव! "आचारमात्र के परिपालन मे जो लीन हो रहे हैं, वही आस्तिकों में श्रेष्ठ हैं; शेष सब मनुष्य घोर नास्तिक हैं" इस प्रकार प्रलाप करनेवालों को ज़रा भी लज्जा नहीं आती।

(२०)

यत्ते स्वयं जगदिदं परिवृत्तिशीलं,
देवाधिदेव! तदहो! ननु को न वेत्ति?
आचार एव भजतु स्थिरतां कथं त-
न्नैसर्गिकं नियममीश! विहाय भूमौ॥

हे देवाधिदेव! आपका बनाया हुआ स्वयं यह जगत् ही परिवर्तनशील है—कुछ न कुछ फेरफार इसमें हुआ ही करता है; इस बात को कौन नहीं जानता? हे ईश! फिर इस नैसर्गिक नियम को छोड़कर, अकेला आचार ही किस प्रकार एक ही दशा में स्थिर रह सकता है?

(२१)

कि भूयसाऽस्ति ! भगवन् ! न बिभेमि नूनं
लोका ब्रुवन्तु नितरामिह नास्तिकं माम् ।
विश्वं विलोकयति नेत्रयुगञ्च याव-
त्तावद्भवामि भुवनेश ! न तादृशोऽहम ॥

हे भगवन् ! और अधिक कहना-सुनना व्यर्थ है। हमको सब लोग यथेच्छ नास्तिक कहें; हम डरते नही। हे भुवनेश ! जब तक हमारे दोनों नेत्र, आपके निर्मित स संसार-चक्र को देख रहे हैं, तब तक तो हम, किसी प्रकार, नास्तिक नहीं हो सकते।

(२२)

हस्त: कदापि कलितो न हि गोमुखीषु
सन्ध्यापि देव ! समये समुपासिता न।
जानासि सर्वमिदमेव वदाम्यहं किम् ?
स्वान्ते सदैव यत ईश ! विराजसे त्वम्॥

हे देव ! हमने भूल से भी कभी, गोमुखी में हाथ नहीं डाला; यही नहीं, किन्तु यथा-समय सन्ध्योपासन भी नही किया। हे ईश ! यह सब आप स्वयं जानते ही है; हमारे कहने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि आप तो सदैव सबके हृदयारविन्द में विराजमान हैं।

(२३)

नित्यं जपामि यदहं शुचिसत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मंत्रजप: पवित्र:।
या सज्जनेषु भगवन् ! मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो ! भवतु देवगणस्य पूजा॥

हे भगवन् ! पवित्र सत्य का जो हम सदैव जप किया करते हैं, उसी को आप हमारा मंत्र-जप समझिए; और सत्पुरु ों में जो हमारी भक्ति है, उसी को, हे प्रभो ! हमारी देवपूजा मानिए।

(२४)

सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियतं निखिलव्रतानाम् ।

अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो मा-
मानन्दयत्वनिशमीश ! परोपकारः ।।

हे ईश ! जीवमात्र के वि य में हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही, हमारे लिए, प्रदोषादि सारे व्रतों के फल का दाता होवै; और उत्तमोत्तम चन्दन से भी अधिक शीतलता को धारण करनेवाला परोपकार, सदैव, हमको आनन्द देता रहे !

(२५)

अन्यद्ब्रवीमि किमहं ? जगदेकबन्धो !
बन्धुर्न कोऽपि मम देव ! सुतोऽपि नास्ति ।
तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽस्तिकस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे ! गतिर्मे ।।

हे देव ! और अधिक हम क्या कहें ? आप स जगत् के एकमात्र बन्धु हैं; परन्तु संसार में हमारे कोई बन्धु नहीं; पुत्र भी कोई नहीं है। अतएव, हे करुणा-सागर ! हे भगवन् ! इस नास्तिक अथवा आस्तिक की गति केवल आप ही के हाथ में है।

१६—नागरी का विनय-पत्र

(१५ मई, १८९९ के भारत-जीवन में प्रकाशित)

(१)

मेरे प्रचार हित यत्न भये अनेका;
पै हा ! अभाग्यवश सिद्ध भयो न एका।
न्यायालयादि महँ होय न मत्प्रवेश;
कासों कहौं अपनि दीनदशा महेश !

(२)

मेरे सुयोग्य सुत जे, तिन धैर्य्य धारी;
कीन्हें उपाय बहु, देखि दशा हमारी।
काहू सुनी न अबलौं मम दुःखगाथा;
आवै हिए मरहुँ आपन फोरि माथा ।।

(३)

स्वीकार हाय! सरकार करै न मेरो;
धिक्कार मोहि, कित जाय करो बसेरो ?
घोरान्धकार अब मोहिं चहूँ दिखाई;
खाई न जाय अहिफेन तऊ डुराई ॥

(४)

आत्मापघात करते करते बनै ना;
भारी बहाय जलधार थकै न नैना।
है एकमात्र अवशेष उपाय ईश!
कै ताहि कर्म्म कहँ नावब नष्ट शीश ॥

(५)

राजाधिराज-गण पूजित राजरानी;
विश्वोपकार-रतदान-दयादि-खानी ।
विक्टोरिया नगर लण्डन में विराजै;
जासु प्रताप लखि दिव्य दिनेश लाजै ॥

(६)

ताके सुराज्य महँ निर्बल जाति नारी;
सम्मान पाय विहरै सुखयुक्त सारी।
हुंकार मात्र जिनकी सुनतैऽधिकारी;
धावैं तुरन्त सिगरे करि कोप भारी ॥

(७)

ताही महामहिमरानि-निदेश धारी;
सर्वोच्च तत्प्रतिनिधि-प्रतिमानुकारी।
है जो प्रयाग महँ धर्म-धुरीण लाट;
तद्द्वार ओर गत लैहहुँ आजु वाट ॥

(८)

कै कै कठोर हिय धीरजहू दृढ़ाई;
लज्जा विहाय बहु बार नमः सुनाई।
आज स्वयं विनयपत्रक हौ लिखे हौ;
स्वप्रान्त-लाट-मुख-सम्मुख यों सुनैहौ ॥

(९)

न्यायी! दयाधन! महाप्रभु! दीनबन्धो!
नारी पुकार सुनियो करुणैकसिन्धो!
आवौ स्वकीय गृह बाहर नाथ! आवौ;
आवौ, न बेर अब आज अहो लगावौ॥

(१०)

एतत्प्रदेश-नगरी-पुर-खेर-वासी;
आबाल, वृद्ध, वनिताजन, दास, दासी।
माता समान सब मोहि चहैं सदाहीं,
तो सों छिपी तनिकहू यह बात नाहीं॥

(११)

मैं हूँ अतीव रुचिराकृत धारि रूपा;
सेवौं सबैहि सम जानि भिखारि भूपा।
विख्यात विश्व बिच अद्भुत शुद्धि मेरी;
शंका अलीक यह—होहि मदर्थ देरी॥

(१२)

चाहै लिखैं निपट अल्प वयस्क बाल;
सो अन्यथा न कहुँ कोउ पढ़ै त्रिकाल।
सत्यानुराग मम ईदृश चित्त लाई;
बैठें विपक्षि—जनहू सहसा लजाई॥

(१३)

तो हे कृपा-कुल-पते! गत-पक्षपात!
काहेऽधिकार मम मोहि न देहु तात?
न्यायाधिदेवहि यदि प्रभु! सत्य बात;
त्यागौ, तदा हठि हताऽस्मि विशीर्ण-गात॥

(१४)

द्वै चारि चारुमति जे विपरीत भाखैं;
स्वार्थान्ध ते तजि सिता शुचि, राख चाखैं।
सौ में करैं जु दश पाँच विपक्ष-जाप;
को बुद्धिशील सुनिहै तिनको प्रलाप॥

(१५)

जो सत्य मैं गुणवती, नृपधर्म सत्य;
प्रायः प्रजा सब चहै यदि मोहिँ सत्य।
तौ सत्यशील! तुम कारण तौ बतावौ;
जा सों मदीय बिनती मन में न लावौ॥

(१६)

सत्यानुयायि सुकरात महादुरन्त;
प्राणापहारि विष पान कियो तुरन्त।
गैलीलियोहु भुव मध्य भयो महाना;
सत्यानुरोध सिगरो जग जासु जाना॥

(१७)

लै सत्य पक्ष, तजि जीव, यशः प्रसारा;
क्राइस्ट कीन्ह चहुँ जानत विश्व सारा।
तौ सत्य जीति करिहौ तुम जो न हा हा!
हे नाथ! तोहिं कहिहैं सब लोग काहा?॥

(१८)

जेती प्रजा सकल सन्तति तुल्य मेरी;
मत्प्रीति रीति तिनमें अति ही घनेरी।
तौ लौं सकों न करि तासु तथापि सेवा; ✓
जौं लौं सहाय तव मोहिं मिलै न देवा!

(१९)

नीके निकारि तव इंग्लिश वर्ण शाखा;
इँग्लैण्ड माहिँ हिबरू यदि होहि भाखा।
तो मद्विपत्ति सब नाथ! घरी मँझारा;
होवै त्वदीय हृदयस्थ भले प्रकारा॥

(२०)

तेरी दया वह कहाँ भगवन्! सिधारी?
मेरी बिहार महँ जै विपदा विदारी।
सोऊ त्वदीय करुणा क्व? अकाल जारे;
लाखौं मनुष्य जिहि अर्द्धमरे उबारे॥

(२१)

कीन्हे प्रजा दुख-विनाशक-काज नाना;
दीन्हे अनेक अबलौं अभय प्रदाना।
भ्रूभंग मात्र महँ होहि भलो हमारो;
कार्पण्य तद्गत न युक्त अहो तिहारो॥

(२२)

श्रेयः क्रिया जितिक, विघ्न बिना न होहीं;
जानौ स्वयं तउ करौ न कृतार्थ मोहीं।
देव! त्वदीय नहिं दोष; अभाग्य मेरो;
पावौं न मेरु सन जो कण हेम केरो॥

(२३)

विद्वद्धुरीण तव केतिक देश वारे;
सानन्द नित्य गुणगान करैं हमारे।
इस्लामजाति-नरपुंगवहू कितेक;
सत्साधुवाद मम हेत कहैं अनेक॥

(२४)

तौहू अहो प्रभुवर! प्रभुता बिसारी;
अत्यल्प-विघ्न-भय-सम्भ्रम-चित्त धारी।
मान्यौ न नाथ! अबलौं विनती हमारी;
आश्चर्यकारि यह नीति नई तिहारी॥

(२५)

जाके सुराज्य महँ नाश सती न पावैं;
होतै सुता न यमराज पुरी सिधावैं।
उद्दण्डदाप पति की लहि अल्पबाला;
प्राणान्त दुःख सहती न कदापि काला॥

(२६)

ताही प्रभो! बृटिश-वंश विशाल माहीं;
त्वज्जन्म,—याहि बिसरौ निमिषार्द्ध नाहीं।
आगे कहौं कह? कढ़ै मुख ते न बानी;
दुःखातिरेक-वश बात सबै भुलानी॥

(२७)

माता जुपै सुत सुता सन छूटि जाही;
होवै कितो दुख परस्पर देहदाही।
लेडी स्वकीय सन या विधि पूछि, नाथ !
कीजै यथा उचित; नावहुँ तोहि माथ ।।

(२८)

मैं नारि जाति, अबला, शिथिलाग, दीना;
द्रव्यादि कार्यकर सर्व सहाय हीना ।
श्रीमल्ललाम म्यकडानल धाम जाई;
मध्यस्थ छोडि विनती मम को सुनाई ।।

(२९)

तातें महान् मदनमोहन मालवीय !
दीजो पठाय यह पत्रक मद्द्वितीय ।
विज्ञप्ति एक इतनी सुनियो मदीय;
होवो चिरायु; यश नित्य बढ़ै त्वदीय ।।

१७—सुतपञ्चाशिका

(८ जनवरी, १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

दिन विगत भये पर एक बार, सदवश-जात अति ही उदार।
चिरमित्र एक मम गेह आय, बोलेहु, यहि विधि मो सन सुनाय ।।

(२)

करि राजकाज सब, आजु, मित्र ! घर आय एक लीला विचित्र।
देखी तिहि विषयक सर्व बात, हौं तोहिं सुनावहुँ सुनिय तात ।।

(३)

पद धारि गेह, पुनि पट उतारि, जहँ के तँह सारे धरि सँवारि ।
अन्तः प्रवेश करि, दृश्य एक, लखि मोहिं भये संशय अनेक ।।

(४)

माता मदीय विस्रस्तकाय, कर मे कपोल करि, शीश नाय ।
दृग दोउन से अँसुआ बहाय, बैठी, जनु निज सर्वसु गँवाय ।।

(५)

मुख पै लट लटकत तीनि चारि, अवलोकत होवहिं कंप भारि ।
धोती मलीन इक अंग धारि, कछु सोचति-सी सुधि बुधि बिसारि ।।

(६)

यह देखि भयो मम विकल चित्त, पत्नी तन हेरन के निमित्त ।
गृहकोण माहिं लोचन चलाय, जो दशा दीख सो कहि न जाय ।।

(७)

मुख ऊपर घूँघुट-घटा तानि, रहि रहि सह सिसकी रुदन ठानि ।
तन वसन सबै महँ धूरि सानि, फुफकरति मनहु नागिनि रिसानि ।।

(८)

वनगमन-नाहि, वरु वज्रपात, सुनि इतो न दुख किय राम मात ।
पतिनिधन जानि घननादनारि, पाई न विकलता इती भारि ।।

(९)

सहधर्मचारिणी - नयन-धार, लखि समरथ फोरन में पहार ।
अनुमान अमित किय हिये माहिं, दुख हेतु सके हम जानि नाहिं ।।

(१०)

भयभीत पीतमुख विकलगात, करकंपत हियरो थरथरात ।
तब जाय मातु पहँ, डरत जात, जिमि तिमि, हम या विधि कही बात ।।

(११)

हे अम्ब ! कहहु किन, भयो काह ? किहि कारण है यह दुख अथाह ।
सुनि सुनि यह मातु ! तिहारि आह, हौं पावहुं दुस्तर देहदाह ।।

(१२)

यदि कीन कोउ अपमान आय, कलिही तिहि ऊपर 'समन' जाय ।
यदि मैंहि मातु ! अपराध-सद्म, मम माथ तिहारे पादपद्म ।।

(१३)

हे अम्ब ! धैर्य अवलम्ब लेहु, इतनो वर माँगे मोहिं देहु ।
कहिये, कहिये, कहिये, बुझाय, किहि हेतु मची यह हाय हाय ?

(१४)

सुनि या विधि मद्विनती विनीत, अनुमानि मोहिँ अतिमात्र भीत।
जननी दुखपावकदग्ध मीत! आरम्भ कीन इमि बातचीत॥

(१५)

पूछहु कह मोसन बार बार, अनजान बने तुम हे कुमार!
सुधि लेत नहीं मम इष्ट देव, कछु जानि परै न अदृष्टभेव॥

(१६)

मैं और बहू व्रत किय अनेक; उपवास न जानहुँ धौं कितेक।
सुर ध्यान रो; बहु करो दान; सनमाने भूसुर, बुध, महान॥

(१७)

बरसों सन्तान-गोपाल मंत्र-जप भयो, बँधाये विविध यन्त्र।
हरिवंश पुराणहु बार सात, उन सुन्यो; न तउ कछु कहुँ दिखात॥

(१८)

सुनि मंत्र तथैव पुराण वानि, भय भयो न्यून मम, मर्म्म जानि।
सुव्यर्थ सर्व यह घटाटोप, लखि उपज्यो मन महँ कछुक कोप॥

(१९)

तउ मान्यमातु कर राखि मान्य हठि बीचहि में हम कछु कहा न।
उन सोइ पूर्ववत अपनि गाथ, गाई इमि मन्द, नवाय माथ॥

(२०)

तुलसी अरु पीपल पेड़ केरि, दस लाख प्रदक्षिण कीन घेरि।
जल जड़ में इनकी डारि डारि, कितनेक कूप हम किय उघारि॥

(२१)

व्रत बचे कौन जो हम न कीन? ग्रहदान कौन जो हम न दीन।
उपदेश कौन जो हम न लीन? हा हन्त! तऊ सुत सुत-विहीन॥

(२२)

गुरुचरणन में करि नित्य लीन, प्रतिमास दीन ओषधि नवीन।
कीन्हें बहु यद्यपि मैं उपाय, मम इष्टसिद्धि तउ भै न हाय!

(२३)

यह तनो धन, अरु, धरा धाम; वन, उपवन बाग़-विभाग, गाम।
हे पुत्र! कौन लैहहि समस्त? जिय विकल होत गुनि वंश-अस्त॥

(२४)

बिन पुत्र रही किहि विधि निशान, को दैहहि हाहा ! पिण्डदान ?
ये राशि राशि पोथी पुरान, कित जैहहिँ तजि तव वास-स्थान ?

(२५)

छल छाँड़ि करहु जउ शुद्ध प्रेम, स्वप्राणहु दै जउ चहहु क्षेम ।
तउ अपनि होहिँ नहिँ जे परारि, हे पुत्र ! सत्य वच ये हमारि ।।

(२६)

यह सोचि, मोचि दिन रैनि धार, निज नैननि ते सुत ! बार बार ।
मैं पावहुँ हा हा ! दुख अपार, प्रविशों जु होहि महि में दरार ।।

(२७)

धिक मोहि, हाय मैं महा नीच; धिक भाग्य मोहिं आवै न मीच ।
धिक धिक धिक मैं पापिनि महान. जिहि हियो न सुत-सुत लै जुड़ान ।।

(२८)

यहि भाँति विविध विधि करि विलाप; सिर धुनि धुनि अति उपजाय ताप ।
तन वसन केरि सुधि-बुधि बिसारि, जब थाकी छाती मारि मारि ।।

(२९)

निज जननी सम्मुख हाथ जोरि, बहु बार विनय करि अरु निहोरि ।
तब बोले हम यों समय पाय, वाणी अवसरही पै सुहाय ।।

(३०)

हे मातु ! वृथा कत करहु शोक ? सुनि कैहहिँ कह बुधिवन्त लोक ?
जामे न कछू अपनी बसाय, खेदित तदर्थ को होहि माय ?

(३१)

सुत-वदन-धूरि धरि भूरि लोक, दुखहू महँ होवहिँ विगत शोक ।
यह सर्व सत्य; पै सुनहु तत्व, कर अपने में नहिँ ईश्वरत्व ।।

(३२)

सब होहिँ न जग में पुत्रवान, न तथा सिगरे धन-धान्यवान ।
बुधि, विद्या, आदिक सर्व माहिँ, समता सदैव कहुँ होति नाहिँ ।।

(३३)

जाकी दशा जु, तिहि में सुकर्म, करि तोष युक्त रहिबो हि धर्म ।
इक पुत्र मात्र सब सौख्य-मूल; अस कहिबो भारी मातु ! भूल ।।

(३४)

हे अम्ब ! कहहुँ तोसों त्रिबार, सुत मे सुखसोंऽधिक दुःखभार।
यह केवल कल्पित कथासार, न करो तुम कबहूँ अस विचार ।।

(३५)

हमरे सुत हाहा ! होत नाहिं, अस गुनि, निमग्न दुख-सिन्धु माहिँ।
जब होत; तासु रोगादि काहिँ लखि, पुनि दुखसागर में समाहिँ ।।

(३६)

यदि दुष्ट, मूर्ख, व्यभिचारि, चोर, नर पावहिँ निशिदिन दुःख घोर ।
यदि गुणी; तासु दीर्घायु हेत, पितु मातु, बनै चिन्ता-निकेत ।।

(३७)

गुणवान मरै यदि पुत्र हाय ! तब तो दुख सीमा नहिँ दिखाय।
अति अगम शोक उर छाय छाय, लै जात तहँ जहँ पुत्र जाय ।।

(३८)

शत सहस माहिँ कहुँ इक सपूत, लखि परै; शेष सारे कपूत ।
निज नैननि सों स्वयमेव नित्य, जननी ! तुम देखहु सत्य सत्य ।।

(३९)

सुविचारि, यथा-विधि, सर्व बात, नहिँ मोहिँ खेद कारण दिखात ।
यदि होहि तनय दुर्गुण निधान, सुख दूरि दुःख पावहु महान ।।

(४०)

यदि निर्गुण अथवा सगुण जात,* निश्चय नहिँ पहिले होहि मात ।
तो सुत-विहीन रहिबो हि इष्ट, इक हेत अर्द्ध को तजहि शिष्ट ।।

(४१)

लखि मातु, पिता, सुतसुता हाल, घर घर मे सबके अति कराल ।
हम भाग्य आपनो धन्य मानि, सुखसो नित सोवहिं वस्त्र तानि ।।

(४२)

तुम हौ जब लौं तब लौं, तिहारि, आदेश हस्त करिहै हमारि।
पीछे त्वदीय कथनानुसार, ह्वै है समस्त अन्त-प्रकार ।।

(४३)

धन, धाम देखि मोको न शोक, यदि होत हाथ मेरे त्रिलोक,
सब दै, शरदिन्दु-मयूख-भास, हम लूटित यश बिनही प्रयास ।।

---

* जात = पुत्र

(४४)

दुर्दैव जो न अस करन दीन, पत्नी प्रयाण पहिलेहि कीन।
तो, जो यह भारतवर्ष राज, संभारत सबके देखि काज।।

(४५)

सोई मदीय अत्यल्प धाम, पट, पुस्तक, पृथ्वी और दाम।
लै, यथायोग्य करि तदुपयोग, सकिहै न, कही अस कौन लोग?

(४६)

बहु पुत्रवान, जनके निशान, मिट गये, न कोऊ कतहुँ जान।
पै सुयशवान, जउ पुत्रहीन, भे अमर विश्व बिच नाम कीन।।

(४७)

सुतही सुमुक्ति-दाता प्रवीन; अस बोलहिं केवल बुद्धिहीन।
जिहि जाति माहिं नाहिं पिण्डदान, सब जावै नरकहिं! कह प्रमान?

(४८)

सत्कर्म, धर्म अरु दयाभाव, उपकार, सदा सरल स्वभाव।
सन्मुक्ति हेत येही समर्थ; आडम्बर और विशेष व्यर्थ।।

(४९)

मरणोत्तर चाहै मम शरीर, सुरसरित जाय वा ताल-तीर।
क्षिति, नभ, जल, पावक, पवन-जाल, जहँ के तहँ जैहहिं अन्तकाल।।

(५०)

मम बन्धु विश्व, तौ जे विशेष, मत्प्रीतिपात्र तिनमें अशेष।
अवलोकि आजु मेरोऽवलम्ब, मन में जनि अचरज करहु अम्ब।।

(५१)

हौ सम्प्रति मैं जिन पैऽनुकूल, ते द्वै करैं जउ तउ न शूल।
मन समुझब अस, तिन कृपा कीन, गत जन्म, तासु हम फेर दीन।।

(५२)

आद्यन्त मातु! तातें विचारि, तुम धरहु धीर, सब दुख बिसारि।
परितोष वाक्य मैं यों उचारि, आयहुँ इत; सम्मति कह तिहारि?

(५३)

सुहृद कथित वानी सत्यतासारपूरी, श्रुतिपथ मि आनी, वाह वा भाषि भूरी।
निज मत कहि तासो, वायुसेवा निमित्त, हम उपवन आये दोउ विश्वस्तचित्त।।

१८—स्वप्न

(४ दिसम्बर, १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

कविवर लक्ष्मणसिंह भूप को आत्मरूप अविनाशी,
नगर आगरा ते चलि पहुँचो जब सुरपुर सुखराशी।
दरश निमित्त चित्त उत्कण्ठित हिये बढ़ाय हुलास,
गयो, प्रथमही, और छोड़ि सब, कालिदास के पास ॥

(२)

मांसहीन मानुस की ठठरी ठठ्ठ समान शरीरा,
पुतो मनहुँ मुख ऊपर कारो कज्जल जल गम्भीरा।
रोष-शोक-सन्ताप-जर्जरित अस कविकुल-गुरु-रूप,
लखि सशंक भयभीत भये अति मन मे लक्ष्मण भूप ॥

(३)

क्रमशः परिचय पाय कवीश्वर डगमग पग सम्भारी,
उठे मिलन हित अश्रु बहावत, दोऊ भुजा पसारी।
सकुचे लक्ष्मणसिंह प्रथम, कहुँ हाड़ न हिय गड़ि जाहिँ,
सोचि समुझि पै लयो लगाई निज हृदय-स्थल माहिँ ॥

(४)

कछुक काल इकएक परस्पर देखत रहे दुखारे,
मुख ते कढ़ै न बात, यत्न बहु दोऊ करि करि हारे।
क्षत्रिवंश अवतंश क्षणिक महँ धीरज हिये दृढ़ाय,
बोले;—कालिदास जी! कहिए अपनी दशा बुझाय ॥

(५)

यश दिगन्तगामी तव, मुख पै कत मलीनता छाई ?
किहि कारण अति कृशित भयो तनु ? दृग जल कत अधिकाई ?
सुनि अस प्रश्न और दुख दारुण मानहुँ तोरि कपाट,
निकरि परो लोचन-जल मिस ते गहि मनमानी बाट ॥

(६)

गद्‌गद-कण्ठ विकल, विह्वल वह रहे दण्ड इक भारी,
कविवर लक्ष्मणसिंह सान्त्वना विविध भाँति उच्चारी।
अश्रु पोंछि बहु बार वस्त्र सों लै लम्बी निश्वास,
जिमि तिमि दशा सँभारि आपनी, बोले कालीदास॥

(७)

इत आये भे दिवस मोहिं बहु, कवितावधू हमारी,
रही उतैहि भरत भूमी मह मम प्राणन ते प्यारी।
यदपि वियोग होत ही मेरो भइ वह निपट अनाथ,
पटकि पटकि सिर मित्र! आपनो फोरा वाने माथ॥

(८)

छाया यदपि पाणिपल्लव की पाय पवित्र तिहारी,
रण्डा-दशा-जनित दुख.संसृति वाने कछुक बिसारी।
हाय ताहि तुमहूँ तजि आये उर कठोरता धारि,
मित्र! मरी अब बिना मीचु वह हाहा! प्रिया हमारि॥

(९)

प्राणिमात्र कहँ नारि पियारी, जानत सब संसारा;
कवितावधू परम रसिका मम हती प्राण आधारा।
तासु दुर्दशा देखि हिये के होवहिं खंड हजार,
रौरव नरक समान स्वर्ग यह देवै दुःख अपार॥

(१०)

विक्रम, भोज आदि भूपालन जाहि महा सनमानी,
छोड़ि ताहि, तोता मैना की नृप अब सुनैं कहानी।
दुःख तुम्हें प्रियतमे! प्रिये! हा प्राणाधिके! अथाह;
सोचि सुखानो तनु मम; मुख ते निकरत निशि दिन 'आह'॥

(११)

लखि कामिनि कमनीय अरक्षित, विवि लोग, जग माहीं,
चाहहिं करन आपनी ताको यदपि योग्यता नाहीं।
तद्वत कविता प्रिया हमारी इत-उत ऐंची जात;
हे त्रिशूलपाणे! त्रिपुरान्तक! धावहु बिगरति बात॥

(१२)

रस के रुचिर भेद नहिँ जानत तद्यपि बाहु पसारी,
वा रसिका सों चहहिँ, मोहवश, आलिंगन, बलिहारी।
भागै दूरि घृणा करि उउ वह, सरै न एको काज;
तऊ बलात्कार में नको आवै तनिक न लाज॥

(१३)

रसिकशिरोमणि कालिदास बिनु, अन्य पुरु रस भाषी,
वाहि लखाहिँ हीन, पौरुष बिन, अहहिँ विबु मम साखी।
पति अब वाहि और नहिँ भावै विधवा वर्ष करोरि,
चाहै रहै सहै दुख दा ण मित्र! बहोरि बहोरि॥

(१४)

माता सम अथवा भगिनी सम जानि, ताहि घर आनी,
सेवैं जो सनेह युत, ताकी करैं सदा मनमानी।
तुम औ नासिकस्थ 'लेले' हू हैं प्रत्यक्ष प्रमान,
दिग्गामिनी कीर्ति दोउन की, जानत सबै जहान॥

(१५)

अनुचित भाव धारि, हठ ठानी, नर, असमर्थ घनेरे,
व्यर्थ वशी करिबे कहँ ताको, करैं यत्न बहुतेरे।
महा सरस रमणीया रमणी विरस होति यहि भाँति,
जिमि हंसी लखि ताल तीर पै उजरी बगुलन पाँति॥

(१६)

सहृदय-लक्षण-हीन सकै नहिँ वाको जब अपनाई,
चित्र-विचित्र वस्त्र छल-बल करि देहिँ ताहि पहिराई।
आडम्बर अस घृणित देखि वह औरहु दूरि पराय;
हा हा प्रिये! तिहारी या विधि, दुर्गति देखि न जाय॥

(१७)

जरमन में कोऊ पक्षी-पर-खचित टोप उपजाई,
फ्रांस देश पेरिस में कोऊ चोली चारु सिलाई।
गौन बनाय पाय लौं कोऊ लंदनवासी वीर,
करन चहहिँ अनुकूल ताहि हठि हाय! होय सुनि पीर॥

(१८)

पूना-नागपूर-मदरासी धोती रग रँगोली,
लोगन पकरि पकरि पहिराई काली, लाली, पीली।
कहुँ बनारसी कहुँ कलकतिया कहुँ बम्बई जात,
सारी लाय लाय लिपटाई कविता-कामिनि-गात ॥

(१९)

घेरदार घाँघरो अवध को कोऊ बुरो बनाई,
ग्राम बधूटिनहू की, जिहि लखि, उठै आँख अधिकाई।
बरबस पकरि प्रिया की चोटी तन महँ दोन ढकेलि;
हाहाकार सुने नहिँ नेकहु वाके जानि अकेलि।

(२०)

अमि अनर्थ निज नैननि सों तुम दोख मित्र ! बहुतेरे,
पूँछहु तऊ भये किहि कारण अंग दूबरे मेरे ।
लखि निज तिय अपमान जासु मुख मषीवर्ण नहिँ होय;
रोष-वेग वश सत्य कहहिं हम, जानहु मनुज न सोय ॥

(२१)

इतनीहूँ करि रसिक-शिरोमणि ये न रहहिँ अरगाई;
आगे करै जु ताहि देखि हिय टूक टूक ह्वै जाई ।
वशीभूत जब होति न वह तब तत्प्रतिबिम्ब बनाय;
राखन चहहिँ गेह अपने महँ, हा ! हा ! हा अन्याय ॥

(२२)

चित्र-कला-कौशल्य सिखे बिनु हस्त लेखनी धारी,
बैठहिं तत्प्रतिरूप उतारन करि अभिलाषा भारी ।
चित्र दुर्दशा देखि उड़ै सब मेरे होश-हवास;
उमगैं एक बारही तीनो क्रोध, शोक, उपहास ॥

(२३)

प्रतिकृति-लेख-परिश्रम सों जनु पाय प्यास अधिकाई,
लावण्योदक प्रथमहिँ क्रमशः घट घट जाहि चढ़ाई।
कोमलता तन की, प्रसन्नता मुख की, बहुरि बहाय;
ये कृतार्थ होवहिँ रविवर्मा के प्रतिपक्षी हाय !

(२४)

मुग्ध रूप मोहक कविता को क्रम क्रम सबै नसाई;
जरठा साठि वर्ष की लिखि कै मारहिं वृथा बड़ाई।
हाट-बाट सब माहिं दिखावहिं; फूले उर न समात;
हे हे विषम-विलोचन! अनरथ नहिं अस देखो जात॥

(२५)

महा महाकवि कोउ दिखावत अतिशय हाथ सफाई;
अंग अंग कविता की दुर्गति करैं नित्य अधिकाई।
यदि कटि लिखैं, न कुच; यदि सीधो कर, मुख वक्र बनाय;
एक पैर काटैं, इक राखैं, त्रिनयन! होहु सहाय॥

(२६)

श्रीभवभूति आदि औरहु कवि रसिक-शिरोमणि सारे;
बसि स्वर्गहु में सहत याहि विधि कष्ट नरक सम भारे।
निज निज प्रिय-कविता-वनिता की देखि दुर्दशा भूरि;
धुनो करैं सिर, अकविवृन्द को साहस निंद्य बिसूरि॥

(२७)

कविता-कुलकामिनि कलाप की दुर्गति कहि नहिं जाती;
को अस सहृदय विश्व बीच, सुनि जाकी फटै न छाती?
इतनो स्वप्न देखि हम, इक निशि, जागे प्रातःकाल;
कालिदास नहिं, कहुँ, तथैव नहिं लक्ष्मणसिंह भुवाल॥

१६—मेघोपालम्भ

(४ सितम्बर, १९८९ के हिन्दी-वंगवासी में प्रकाशित)

(१)

मेघ! त्वदीय अनिरीति सही न जाई;
कँहूँ न बूँद, कहुँ दीन नदी बहाई।
नावौ धराधरनि ऊपर वारिधारा;
अत्यन्त घोर अविचार अहो तिहारा॥

(२)

नीकी यथासमय वृष्टि भये बिनाहीं,
बोयो न बीज जिन लोगन भूमि माही,
तन्मर्म्मकृन्तक कथा सुनि हाय! हाय!
होवै न को विकल दुःसह दुःख पाय?

(३)

देखैं कहूँ कहुँ जु शस्यलता-वितान;
ज्वारी, तिली, मृदुल मुद्गल, मोठ, धान।
ज्यों ज्यों सुखाहिं नित ते, दुखिया किसान,
त्यों त्यों करैं रुदन; सूखत जात प्रान॥

(४)

सप्ताह, पक्ष, दिन, रैनि, घरी प्रमान,
त्वन्मार्ग दीख हम सर्व्व सदा समान।
बीते द्विमास नहिं वारिद! वारिदान;
ठानी कहा? कत करौ विनती न कान?

(५)

"आर्द्रान्तरात्म बहुशः करुणार्द्र होही";
भूली तदुक्ति कवि की कह आजु तोही?
देखौ, सुनौ, जलद! चित्त करौ विचार;
हाहामयी सकल ओर उठी पुकार॥

(६)

तेरे बिना गगनमंडल नाहिं सोहै;
कोऽन्य त्वदीय चपला बिनु चित्त मोहै?
हे मेघराज! तुम आज कहाँ सिधारे?
हारे पुकारि हम भूतल लोग सारे।

(७)

एहो घन! प्रथम आय महा अथाह,
हाहा बहाय जिन दीन पयः प्रवाह।
देवौ न बूँद इकहूँ, तुम सोइ भाई!
लज्जाहु, दीन दुख देखि, तुम्हैं न आई॥

(८)

चारा नहीं; चरहिं काह पशू बिचारे ?
सुखीहु घास मिलती नहिं, खोजि हारे।
जो लोग-कष्ट लखि तोहिँ दया न आवै;
तो काह मूक पशु-दुःखहुँ ना दुखावै ।।

(९)

वापी, तड़ाग, अरु कूप सुखान लागे;
पक्षी, पशू अबहिं ते बिललान लागे।
रोग प्रजाविपिन-तीक्ष्ण-कुठार जागे;
पानी बिना न बचिहैं इकहू अभागे ।।

(१०)

श्रीकृष्ण-वर्ण करुणाकर केर पाई;
सीखी कहाँ इतिक मेघ ! कठोरताई ?
प्राणातिरिक्त हरि की प्रिय धेनु सारी;
देखौ, उठाय सिर, काह कहैं दुखारी ?

(११)

अन्नाम्बुदान जिन जीवन को हमेश,
दै प्राणरक्षण कियो तुम निर्विशेष।
कारुण्यपात्र तिनही कर आजु काह,
हत्याप्रकाण्ड करिहौ घन ! घोर हाहा ?

(१२)

तातें अहो जलदराज ! हिए विचारी,
आवौ अवश्य जनदीन दशा निहारी।
नावौ यथा-उचित वारि मही-मझारी,
भारी विपत्ति, यहि भाँति, हरौ हमारी ।।

२०—शरत्सायङ्काल

(१३ नवम्बर, १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

जाके पूर्व, प्रतिपद, घने केतकी-कुञ्ज, बाग,
झाँसी में है विमल जल सों पूर्ण "लक्ष्मीतड़ाग"।
एक प्यारो सुहृद सँग लै, जाय तत्तीर देश,
सायंशोभा शरदऋतु की देखि जो जो विशेष ॥

(२)

सो सो सारी गुनि निज हिये नित्य ही बारबारा,
मोदोद्रेकद्रवित सिगरो देह होवै हमारा ।
कोकावेली, पवन सियरी, वारि की चारुताई,
को है ऐसो, करहिं नहिं ये जासु तल्लीनताई ?

(३)

नाना पक्षी अरुण पियरे पाद औ चंचुवारे,
चन्द्र-ज्योत्स्ना-सम-सित घने पक्षतिद्वन्द्व धारे।
धीरे धीरे विरुत मिस ते सर्व साथी बुलाई,
ऊँची ग्रीवा करि करि उड़े पंक्ति सो पंक्ति लाई ॥

(४)

थोरी वेला कलकल भयो पक्षिसम्भूत भारी;
मानौ शालाशिशुगण तहाँ वेदवाणी उचारी ।
पश्चात भृङ्गाऽऽरव तजि, चहूँ पूर्णतः शान्ति छाई;
तत्कालीन प्रियवर ! कही जाय ना रम्यताई ॥

(५)

चेतो हारी सुभगनवलानारिवक्षोजरूपा,
ऊँची ऊँची कुमुदकलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा ।
बारंबार स्परशि सलिल स्निग्धता संग लाई;
गन्धोद्वाही अनिल अखिल श्रान्ति देवै नसाई ॥

(६)

शाली-पंक्ति-प्रचुर-रचना शोभती जासु तीरा;
अम्भोजाऽऽली-दल सन छिपो मध्य में जासु नीरा।
छोटी छोटी चपल शफरी खेलतीं जासु माहीं;
शोभाशाली अस सर करै काहि संतुष्ट नाहीं ? ॥

(७)

येही भृङ्ग भ्रमि दिवस में पद्मिनीसद्म माही;
आये धाई शठ अब इतै; नेकहू लाज नाहीं।
मानो योंही कुमुद वनिता षट्पदव्रात काहीं;
वाताघातच्छल सन शिरः कम्प कै कै रिसाही ॥

(८)

ज्योंहीं सायंसमय सविता रक्तिमा धारि भारी;
अस्त प्रायः भयहु गगनग्रामलीला निवारी !
त्योंहीं काष्ठानल महँ जरी व्योमलक्ष्मी दुखारी,
ताराल्पी प्रकटित करीं आपनी अस्थि सारी ॥

(९)

ज्योंहीं चण्डद्युति दुरि गयो, चन्द्रमा त्योंहि आई,
व्यक्त व्योमाङ्गण महँ भयो हर्ष निःसीम पाई।
होवें एक प्रमुदित, पर त्रस्त तत्काल लोग;
हा हा देखौ विषम विधि के पूर्व्वकर्म्मानुयोग !

(१०)

जैसे जैसे विशदशशि की भासपीयू राशी;
आकण्ठाग्र द्रुततर करी पान, लै लै उसासी।
तैसे तैसे विकसनगति ब्याज ते एक एका,
देखादेखी कुमुद उदरस्फोट पावैं अनेका ॥

(११)

ऊँची ऊँची चपललहरीमध्य देखो निशेष-
च्छाया काँपै मनहुँ भय सों भानु के निर्विशेष।
जौहू लोकत्रय यशकथाकौमुदीकीर्ण होवै;
तौहू को न प्रबल-रिपुज-त्रास सों धैर्य खोवै ? ॥

(१२)

नेत्रानन्दप्रद शरद की चन्द्रिका चारुताई;
मन्द स्निग्ध-श्वसन-सुखमा, नीरलीला निकाई।
ह्वैवै चित्तस्थित जब, रहै मोद मर्य्याद नाहीं;
आधि, व्याधि, क्षण भरि, जिती सर्व बाधा बिलाहीं ।।

२१—श्रीधरसप्तक

(२५ दिसम्बर, १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

बाला-वधू-अधर-अद्भुत स्वादुताई,
द्राक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी,
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी ।।

(२)

पीयूष है यदि पदार्थ, यथार्थ कोऊ,
काहे न ताहि करि पान प्रसन्न होऊ?
प्रत्येक पद्य, प्रति पंक्तिहु में सदाहीं;
सो विद्यमान कवि-श्रीधर-काव्य माही ।।

(३)

जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽधिकाई,
आबाल-वृद्ध-जन चित्त लयो चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई;
लीन्ह्योऽवतार कह श्रीधर-देह पाई?

(४)

माधुर्य्यमंत्र, रसरञ्जन-सिद्धि धारी,
अत्यन्त-कोमल-कवित्व-कलाप-कारी;
जाके कहे सुयशगीत सुनै सुरेश,
आयौ सु अर्गलपुरी कह किन्नरेश?

(५)

कोऊ कहूँ मृदुल पद्य सकै बनाई,
स्वारस्य-युक्त कहुँ कोउ सुअर्थ लाई।
लालित्य-लास्य, रसराशि, सदर्थ गाथा;
सोहैं सदैव सब श्रीधर-काव्य साथा॥

(६)

बानी बसै सुकवि-आनन मे सयानी,
मानी जू जाय यह बात सुनी पुरानी।
तो सत्य सत्य कविता कविरत्न तेरी,
वाही त्रिलोक-परिपूजित-देवि प्रेरी॥

(७)

तोसौं कहौं कछु कवे! मम ओर जोवौ,
हिन्दी-दरिद्र हरि तासु कलंक धोवौ।
होवौ शतायु; सुख सों रहि, दुःख खोवौ,
फैलै त्वदीय यश; सर्व-व्यथा विनावौ॥

२२—प्लेगस्तवराज

(१९ मार्च, १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

ॐ अस्य श्री प्लेगस्तवराज-महामन्त्रस्य डाक्तर यमराजाचार्य डबल एम०, डबल डी०, ऋषिः; पटापटच्छन्दः; श्रीप्लेगदेवता; ह्रींशक्तिः; श्रीं कीलकम्; बदबीजम्; सर्व—स्वाहाकरणार्थं जपे विनियोगः।

ॐ ह्रीं श्रीं मारय मारय मारय—इति मंत्रः। अथ करन्यासः—चूहा-वाहनाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। होशहारिणे तर्जनीभ्यां नमः। महाक्लेशकारिणे मध्यमाभ्यां नमः काल-स्वरूपिणे अनामिकाभ्यां नमः। प्रचण्डशक्तिधारिणे कनिष्ठकाभ्यां नमः। प्राणसंहारिणे करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। अथ अंगन्यासः। महाशूलोत्पादकाय हृदयाय नमः। पकड़ कर प्लेग अस्पताल नेत्रे शिरसे स्वाहा। अंग प्रत्यंगदारुणपीड़ादात्रे कवचाय हुम्। अत्युग्रसन्निवातकर्त्रे नेत्राभ्यां वौषट्। हृद्दारपुत्रकलत्रबन्धनविनाशिने अस्त्रत्रयाय ट्! अथ ध्यानम्:—

ध्याये सदैव मनुजक्षयहेतुभूतम् ,
दंष्ट्राकरालवदनं किल कालरूपम् ।
प्राणापहारकरणे निपुणं नितान्तम् ,
प्लेगं विशालबदकारणमादिदेवम् ।।

२—अथ पूजापद्धितिः । इस पूजा में प्लेग की आराधना करनेवाले की अश्रुधारा पाद्य है। उसके कुटुम्बियों की आँखें अर्घा है और उनसे गिरनेवाले जल अर्घ हैं। दाँत पीसना अक्षत है। हाय हाय करते हुए ऊर्ध्व श्वास लेना धूप है। निराशा दीप है। दवाइयाँ पुष्प हैं। सन्निपातनाशक लेप चन्दन है। बर्राना मधुपर्क है। घर की अथवा अस्पताल की चारपाई यूप (खूँटा) है। उसी यूप में, बलिदान के निमित्त, आशारूपी रज्जु से प्राणपशु बँधा है। औषधोपचार खड्ग है। डाक्टर हाफकिन पुरोहित हैं।

३—अथ स्तवराजः। हे प्लेग ! हे प्लेगराज ! हे मारकासुर ! आपको हम किस नाम से पुकारें ? विष्णुसहस्रनाम के समान यदि एक प्लेग सहस्र-नाम बनता तो भी आपके नामों की गणना निःशेष न होती। कोई आपको मरी कहता है, कोई विसर्प कहता है, कोई प्लेग कहता है, और कोई ग्रन्थिक सन्निपात कहता है। परन्तु ठीक ठीक कोई नहीं कह सकता कि आप कौन हैं। रूप तो आपका समझ में आगया है; परन्तु नाम अभी तक किसी की समझ में नहीं आया। अतः हे बोखार के खालू ! हे बद के दादा ! हे सन्निपात के प्रपितामह ! आप तब तक यही नाम ग्रहण करें।

४—आप ब्रह्मा हैं। इसमें कोई संदेह नहीं। नहीं, नहीं, ब्रह्मा से भी बड़े हैं। ब्रह्मा बिचारे को उत्पन्न करना ही आता है; मारना नहीं आता; मार वह एक खटमल तक भी नहीं सकता। परंतु आप विलक्षण स्वयंभू देव—क्या दानव हैं। बिना सूचना के, बिना पूर्व-रूप के, अकस्मात्, कुश्क में रूसी सेना के समान, आप प्रकट हो जाते हैं और एक एक का संहार करते चले जाते हैं। अतः हे रुद्रब्रह्मरूपिणे युगपत सृष्टिसंहारकारिणे तुभ्यं नमोऽस्तु।

५—हे ब्यूबानिक प्लेग ! आप वामन-ओ, नो, (O, no) त्रिविक्रम हैं। पहले आपने अपना बालस्वरूप बम्बई में दिखलाया था; फिर धीरे धीरे पूना, शोलापुर, धारवाड़, बँगलौर, मदरास, कराची, पंजाब, नागपुर, कलकत्ता आदि तक बढ़ कर अब पश्चिमोत्तर देश में भी आपने अपना पैर फैलाया है। परन्तु याद रखिए, आपका आगे बढ़ना अच्छा नहीं। अ क

हौसला दिखलाने से सर अंटोनी मेकडानलरूपी बलि आपको सात समुद्र पार, महाप्रलय तक, अहोरात्र खड़ा रक्खेगा। अतः होशियार !

६—हे महामारी के मामा ! आपकी सत्ता सब कही जागरूक है ; अतः आप सर्वव्यापी विष्णु है। आप सहस्रलिंग स्वयंभू शंभु भी हैं, क्योंकि गिलटी के बहाने आपका लिंग मनुष्य की बग़ल में, गरदन में, जाँघ की जड़ में सब कहीं आपही आप उत्पन्न हो जाता है। न लक्षणों से आप हरिहर-रूप हुए। अतः हरिहराकारामुदारां तनुं" ते नमः ॥

७—हे विसर्प के बाबा ! कहते डर लगता है ; परन्तु हम कहे ही डालते हैं कि, आप अजीब सिफारशी टट्टू है। पहले और दूसरे दर्जे के टिकट का लालच दिखलाते ही आप अपने भक्तों को अभय कर देते है। फिर चौसा के मौसा की भी दाल नहीं गलाई गलती। परन्तु यह रिश्वत सच्चे दिल से न देने से, आप देनेवालों को अलीपुर, नैनी इत्यादि में बने हुए बिना भाड़े के बड़े बड़े घरों की हवा खिलाते हैं। लोग कहते है कि मक्खी और बाल हजम करनेवालों ही को रिश्वत हज़म होती है, फिर, आप भला क्यों न हज़म कर सकें ? आपने तो अनगिनत जीव और बालों से खचाखच भरे हुए अनगिनत मूँड़ खाये हैं। हे सर्व-भक्षक ! मनुष्यों की अन्धी खोपड़ी आपका स्तोत्र गाने मे असमर्थ है।

८—हे सन्निपातराज ! हमने सुना है कि जब आपका मानुषी नैवेद्य कम हो जाता है तब आप बंदरों पर भी हाथ फेरने लगते हैं। परन्तु ज़रा पुरानी दिल्ली और पुरानी लंका का स्मरण कर लीजिए। आपके लिए इतना ही इशारा काफी है !

९—हे नरारण्यहिरण्येरत ! आपको साक्षात् अग्नि कहने में क्या आपत्ति है ? आपका आगमन होते ही ज्वराग्नि का वेग डाक-गाड़ी की गति के समान बढ़ता हुआ, थोड़ी ही देर में, खाण्डव जलाने के समय का-सा रूप धारण करता है। अतः अग्निमीडे प्लेगरूपं त्वं मां पाहि पुरोहितम्।

१०—हे लयंकर प्लेग ! आपके दया तो छू ही नही गई। निर्दयता में आप नाना साहब के भी नाना हैं। ज़रा ज़रा से बच्चों को आप बिना बाप का कर डालते है। जिनका द्विरागमन तक नही हुआ ऐसी अल्पवयस्का बालाओं को आप विधवा कर डालते हैं। जिनके एक ही पुत्र है उनको भी आप अपुत्री करने से नहीं हिचकते। जान पड़ता है आपके कलेजा ही नही है ! और अगर है भी तो ईस्पात का है; अथवा पत्थर का है। अतः हे "वज्रादपि कठोर" ! आपको दूर ही से दस्तबस्ता सलाम करना चाहिए।

११—हे प्लेगावतारी कालभैरव ! आपका नाम सुनते ही कलेजा काँप उठता है। नगर में आपका आगमन होते ही घर, द्वार, लड़केबाले कपड़े-लत्ते छोड़कर, मनुष्य इतस्ततः भागते फ़िरते हैं; परन्तु आप उनको फिर भी नहीं छोड़ते। आपका प्रचण्ड दण्ड उठते ही श्मशान-यात्रा का प्रस्थान लोगों को रखना ही पड़ता है। आपकी बदौलत अगणित कपाल ढुलकते फिरते हैं। हड्डियों के भी इतने ढेर हो गये हैं कि एक क्या चाहे लाखों दण्ड तैयार कर लिय जावें। सर्पों का जनेऊ बनाने की तो बात ही जाने दीजिए, क्योंकि आप स्वयमेव वासुकी, काली आदि सर्पों से भी अधिक भयंकर विषधर हैं। अतः—

करकलितकपालः कुण्डलीदण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलव्यालयज्ञोपवीती।

यह वर्णन आपके अनुरूप नहीं; इससे बढ़कर होना चाहिए ! इतनी शिष्टता आप अवश्य दिखलाइए कि जो आपके मंत्र का अनुष्ठान करें उनको अपनी दंष्ट्रा से बचाये रखिये। मंत्र आपका यह है :—

ॐ ह्रीं प्लेगाय जीवितोद्धारणाय कुरु कुरु प्लेगाय ह्रीं।

१२—हे गिलटी रोग के गवर्नर ! आपके यमराज होने में कोई संशय नहीं। यमराज तो एकही आध के ऊपर कभी कभी अपना त्रिशूल उठाते हैं; आप तो कुटुम्ब के कुटुम्ब स्वाहा करते चले जाते हैं; परन्तु फिर भी आपका पेट नहीं भरता। आपका शूल बहुत ही भयानक है। आप अपने वाहन भैंसों से तो नहीं बोलते; परन्तु गणेश के वाहनों को ढूँढ़ ढूँढ़ प्लेगलोक को पहुँचाते हैं। गणेश ने भी आपसे बदला लेने के लिए डी ब्रिटेन साहब को अपना एजेन्ट बनाया है। यही कारण है कि जो अहमदाबाद के आस-पास आपका एक भी प्यारा भैंसा और उसकी एक भी प्यारी भैंस नहीं बचने पाती। उस प्रान्त में आप बहुत दिन तक रहे हैं; इसी लिए गणेश ने वहीं अपनी एजेन्सी खोली है। हममें तो बदला लेने की क्या आपके सम्मुख होने की भी शक्ति नहीं। अतः, यस्य छायामृतं यस्य मृत्यु; तस्मै देवाय भवते हविषा विधेम।

१३—हे प्लेगराज ! आप रसिकों के शाहन्शाह हैं। महामारी का अस्पताल आपकी राजधानी है। पुलिस और पलटन के गोरे आपके पताकाधारी नक़ीब हैं। डाक्टर आपके पार्षद हैं। सेग्रीगेशन कैम्प आपका क्रीड़ाकानन है। वहीं आप और आपके आश्रित लोग नाना प्रकार की क्रीड़ायें किया करते हैं। कभी जल-विहार देखते हैं; कभी एक एक की गठरी खोलकर चित्र-

विचित्र वस्त्र और वस्तुओं से अपने नेत्र सफल करते हैं, और कभी स्त्री-पुरुषों की गिल्टियाँ टटोलते हैं। इसी प्रकार आप अपना दिल बहलाते रहते हैं। जिसमें आप प्रसन्न रहें उसी में हमारी भी प्रसन्नता है ; परन्तु हमारे आबरू रूपी जहाज की पतवार जो आपके हाथ में है, उसे मत छोड़ दीजिएगा। हम हा हा खाते हैं ! त्वां प्लेगदेवं शरणं प्रपद्ये ।

१४—हे सन्निपात-शिरोमणे ! आपको हम सफ़ाई के मोहकमें का सबसे बड़ा अफ़सर समझते हैं। आप मनुष्यों की, चूहों की और बन्दरों की तो सफ़ाई करते ही हैं, मकान और गली-कूचों तक की सफ़ाई आपके भय से, समय समय पर, हुआ करती है। यों साल में, दिवाली पर, एक ही बार मकानों की सफ़ेदी होती थी, अब आपके प्रभाव से कई बार दिवाली के दिन याद आते हैं। ऐसे तो आप गन्दे मकानों के भीतर चोर के समान छिपे पड़े रहते हैं; परन्तु सफ़ाई होते ही आप भग खड़े होते हैं। इससे हम क्या समझें ? सफ़ाई से आपको रग़बत है या नफ़रत ? आपकी माया कुछ समझ में नहीं आती ! अतः, मायाविनं त्वां शिरसाऽभ्युपैमि ।

१५—हे सर्वापहारिन् ! जिस कृपाकटाक्ष से, जिस दयार्द्रभाव से, जिस प्रेमदृष्टि से आप इस समय डाक्टर और दाइयों को देख रहे हैं, उसका विचार करके बुद्धि चक्कर में आ जाती है। आपही के भाव से आजकल इनकी धेली छः टके की चल रही है। आपकी कृपा का एक कण इस ओर भी आने दीजिए। स्त्री को पति से, पुत्र को माता से और सेवक को स्वामी से पृथक् होते देख अपने वज्र हृदय को द्रवीभूत होने दीजिए। घरों का तोड़-फोड़ और गृहस्थी के सामान का सत्यानाश होते देख क्या आपका कठोर कलेजा जरा भी नहीं दहलता ? आपका स्तवन करने की हममें शक्ति नहीं। हम एक यः कश्चित् मनुष्य हैं। अतः हमारे थोड़े ही कथन को आप बहुत समझिए। हे ज्वरज्वालामालिन् ! हे प्रतिप्रलयकारिन् ! हे करालदंष्ट्रकाल ! हे मनुष्यक्षयकारक प्रचण्ड पेंच ! अब हम आपका स्तोत्र समाप्त करते हैं। इसका हम यही फल आपसे चाहते हैं कि इस स्तोत्र के पढ़नेवालों की ओर आप कभी भूल कर भी दृक्पात न करें ! ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इमां प्लेग महाराज ! पूजामादाय मामकीम् ।
गच्छ त्वं रौरवं घोरमित आयाहि मा पुनः ॥
यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनञ्च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां प्लेग शिरसा प्रणमाम्यहम् ॥

२३—अयोध्या का विलाप

(मार्च १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

(१)

प्रासाद जासु नभमंडल में समाने;
प्राचीर जासु लखि लोकपहू सकाने।
अत्यन्त दिव्य, दृढ़, दुर्ग विलोकि जाको,
आश्चर्ययुक्त मन मुग्ध भयो न काको?

(२)

जाकी समस्त सुनि सम्पति की कहानी,
नीचो नवाय सिर देवपुरी लजानी।
ताकी अरे निपट निष्ठुर काल! ऐसी,
तूने करी शठ! दशा अति ही अनैसी॥

(३)

प्राचीर नाहिं; नहिं दुर्ग; न सौधमाला;
अट्टालिकाहु नहिं हेरि परैं विशाला।
उध्वस्त, जर्जरित, भग्न शरीर मेरो,
हा हा! न जाय अब मोसन और हेरो॥

(४)

हे राम! हे कुश! रघो! रविवंशदीप,
दुष्यन्त! भव्यभरतादि महामहीप!
नाना विपत्ति सहि, हाय! महादुखारी;
नामावशेष अब होति पुरी तिहारी॥

(५)

सायंप्रभात जिन गेहनि में सदाहीं,
सत्सामगान तजि दूसरि बात नाहीं।
भल्लूक कूक दिन-रैनि तहाँ मचावैं;
लाखों शृगाल रव घोर घने सुनावैं॥

(६)

रत्नप्रदीप रविरश्मि छटा समान,
शोभायमान जहँ भे अतिदीप्तिमान ।
देखौं तहाँहिं इकहू नहिं दीपबाती;
काहे न होय अजहूँ दुइ टूक छाती ?

(७)

उत्तुंग-कुञ्जरघटा सुख सों अन्हाई,
कीन्हे जहाँ जलविहार सदैव आई ।
हा हन्त ! वाहि सरयूतट पै घनेरे,
बूढ़े वराह, खर आदि फिरैं सबेरे ॥

(८)

सानन्द राजगण चामरछत्रधारी,
कीन्ह्यौ प्रवेश जिन द्वारनि तें सुखारी ।
पैठें कढ़ैं तिनहिं ते अब हाय ! हाय !
निःशंक चोर चमगीदड़ वृन्द आय ॥

(९)

वापी; जहाँ जलजजाल खिले सुहाई;
काई कठोर तिनमें सब ओर छाई ।
रत्नादिराशि जहँ हाय ! हती घनेरी;
फैली तहाँहिं अब कंकरकेशढेरी ॥

(१०)

दिव्यातिदिव्य रुचिराकृति गेहराजी;
गच्ची महामणिमयी जिनकी विराजी ।
हाहा ! अभाग्यवश, आज तहाँ कटीली,
है कंटकारि उपजी सित, पीत, नीली ॥

(११)

न्दुप्रियामणि अनेक रहीं जहाँहीं;
जाले लगे मकरिकागण के तहाँही ।
हौं मैं सुनी जहँहि कोकिलकंठ कूक;
बोलैं अमांगलिक बोल तहाँ उलूक ॥

(१२)

चन्द्राननी कमलकोमल-गात नारी,
क्रीड़ा विचित्र जहँ कीन निशामझारी।
हाहा ! तहाँहि अब वन्यबिलाव-बाला,
निर्द्वन्द द्वन्दसुख लूटहिं सर्वकाला ॥

(१३)

बिच्छू, विषाक्त अहि, मोहिं सदा सतावैं,
उन्मत्त-मर्कट निरन्तर ही ढहावैं।
द्वै चारि चिह्न मम जो अजहूँ दिखाहीं,
ह्वै हैं विलीन सोउ सत्वर भूमि माहीं ॥

(१४)

अत्युच्च मन्दिर महार्ह जहाँ रहे हैं,
देखो, तहाँ, कबर, आज, चहूँ छये हैं।
अल्लाह और बिसमिल्लह आदि बैन,
कीन्हों तहाँ वधिर मोहिं सुनो परै न ॥

(१५)

जाही स्थल प्रचुर हीरन सों सँवारो,
सिंहासन-प्रवर राम ! रह्यो तिहारो।
पर्णालयस्थ, तहँ मस्जिदमध्य, देखी,
त्वन्मूर्ति, दुःखदव मोहिं दहै विशेषी ॥

(१६)

हे कोसलस्थजन ! रामपुरी दुखारी,
नाशोन्मुखी, नयननीर बहाय भारी।
सारी विपत्ति अब आज तुम्हैं सुनाई,
माँगै विदा अहह ! अन्तिम शीश नाई ॥

(१७)

जो प्रीतिलेश कछु होहि स्वधर्म माहीं,
जो पै दया तुमहिं वंचित कीन्ह नाहीं।
जो देश-भक्ति हिय में कछुहू तिहारे,
तो धाय शीघ्र अब कष्ट हरौ हमारे ॥

(१८)

नाना नरेश अजहूँ चहुँ ओर छाये,
मेरेहि सन्निकट एक अहो सुहाये ।
अत्यल्पहू यदि मिलै इनसे सहाय;
तौहू अदृश्य नहिं तोहुँ विनाश पाय ॥

(१९)

प्राचीन चिह्न अभिभावक लाटवीर !
हे दुर्जनान्तकर कर्ज़न ! धर्मधीर !
लीजौ बचाय म्रियमाण शरीर मेरो;
कल्याण होय सब काल दयालु ! तेरो ॥

२४—कृतज्ञताप्रकाश

(अप्रैल १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

(१)

काहे प्रजावदन आज विकाशमान ?
उत्साह हू सब कहूँ कत वर्तमान ?
अज्ञान बाल-वनिताहु सबै समान,
चर्चा चहूँ दिशि करैं कह मोदमान ?

(२)

संवादपत्र कत आज सहस्रधारा,
धारा बहाय वचनामृत की अपारा ।
पूज्य प्रयागनगर स्थित-लाट केरो,
सप्रेम, शुभ्र यश-गान करैं घनेरो ?

(३)

सर्वत्र आज कत पश्चिम-उत्तरान्त-
वासी प्रफुल्ल अपने मन में नितान्त ।
न्यायप्रियत्व निज-शासक को सराहैं;
तत्पूर्ण-आयु-पद-वृद्धि विधान चाहैं ?

(४)

हाँ ! आज, राज-अनुशासन-पत्र पाई,
न्यायालयादि महँ, आदर सो, सिधाई।
हिन्दी असह्य दुख झेलि महा महान,
बैठी तुरन्त उरदू सँग सावधान ! !

(५)

ऐसो अपूर्व मुददायक दृश्य देखी,
प्रेमाश्रु-पूर-परिपूरित ह्वै विशेषी।
आनन्दगीत नर-नारि-समूह गावैं,
सोत्साह उत्सव अनेक सबै मनावैं ! !

(६)

हे न्यायधाम ! गुण-गौरव-धर्म्म-धाम !
सत्शीलधाम ! म्यकडानल पूर्णकाम !
सारी प्रजा पुलक-पूरित-गात धारी,
उन्मत्तवत् कहहिं "जै जय जै" तिहारी ॥

(७)

प्रत्येक काम हलको अथवा ऽति भारी,
सत्यानुराग तव सर्व कहूँ निहारी।
प्राचीन सत्य हरिचन्द गयो भुलाई,
है सत्य सत्य; न असत्य कहौं बनाई ॥

(८)

अन्यान्य शासक निजाकृति अश्म* रूप,
हैं राजमार्ग महँ छाड़ि गये अनूप।
त्वन्मूर्ति नाथ ! रहिहै सुख सों सदाहीं,
आबाल-वृद्ध सबके हृदयाब्ज माही ॥

(९)

अन्याय सो अननुरक्ति, तथैव, तेरी,
न्यायानुरक्ति लखि, यों मति होय मेरी।
न्याय स्वयं, अनय† सों डरि, भागि आयौ,
आकार धारि तव, भूतल माहिं छायौ ॥

---

* अश्म = पत्थर।
† अनय = अन्याय।

(१०)

सत्यानुरोध, नय* दिव्यदया-विधान,
तीनौ, त्रिवेणिवत, ये गुण भासमान ।
सीखे प्रयाग सन काह ? कहो बुझाय ;
हे तीर्थराजपुर-लाट ! पुनीत-काय !

(११)

सारी प्रजा महँ निरन्तर विद्यमान,
वात्सल्यभाव तव देखि सदा समान ।
सन्देह होय मन में यह सोचि बाता,
को है पिता ? तुमऽथवा निज जन्मदाता ?

(१२)

विक्टोरिया विजयिनी-वर राज्य माहीं,
अन्याय-लेशहु कभू कहुँ होत नाहीं ।
पूरी प्रतीति इहि की हम आज पाई;
योहीं परस्पर मनुष्य कहैं सुनाई ।।

(१३)

हिन्दी-हितार्थ तुम जो कछु कीन्ह आज;
तत्तुल्यता न सकिहै करि अन्य काज ।
लोकोपकारक किये तुम काज नाना;
पै सत्यमेव सब माँहि इहै प्रधाना ।।

(१४)

एतन्निमित्त रहिहैं चिरकाल सारे,
ये पश्चिमोत्तर-मनुष्य ऋणी तिहारे ।
औरौ अनेक दिन राज्य रहै त्वदीय;
इच्छा इती सफल शंभु करै मदीय ।।

(१५)

जौ लौं प्रभो ! बृटिश-शासन-सूर्य चण्ड†,
अस्तित्व नागरिक-अक्षर को अखण्ड ।
तौ लौ त्वदीय यश-सौरभ सों विशेष,
ह्वै है सुगन्धयुत भारतवर्ष देश ।।

---

* नय = न्याय । † चण्ड = प्रचण्ड ।

२५—बलीवर्द

(१९ अक्टूबर, १९०० के श्रीवेंकटेश्वर-समाचार में प्रकाशित)

(१)

बलीवर्द जो, मर्द गाय के, गर्द उड़ानेवाले वीर;
प्यारे वृषभ वृषभवाहन के, अति दुर्मद, अतिशय रणधीर।
नन्दीश्वर के विशद वंशधर, कंस समान विवेक-विहीन;
वर्दराज! वृषराज! बैलवर! सुनिये कुछ निज कथा नवीन॥

(२)

विश्वनाथपुर मे जब कोई विश्वनाथ को जाता है;
सम्मुख वही देख तुमको वह कम्पित हो घबड़ाता है।
भीम भूधराकार भयंकर रूप याद जब आता है;
म्यूनीसिपल गाड़ियों के भी बैल देख डर जाता है॥

(३)

जुतौ तुम्हीं हल में, गाड़ी मे, चरसे तुम्हीं चलाते हौ;
बनजारौं के गोन हजारौं तुम्हीं पीठ पर लाते हौ।
तिस पर, कभी कभी कौड़ी के तीन तीन बिक जाते हौ;
बधिक-वेध में पड़ जीते ही अपनी खाल खिचाते हौ॥

(४)

बूढ़े हो जाने पर भी तुम कभी विरक्त न होते हौ,
किसी न किसी काम में, सब दिन, जब देखो तब जोते हौ।
तुमने साहब लोगों का भी, इस सद्‌गुण में मात किया;
इसी लिए, सबने, घर घर में, सादर तुमको वास दिया॥

(५)

अतिशय अद्‌भुत सहनशीलता तुम सदैव दिखलाते हौ,
मार तड़ातड़ खाने पर भी सिर तक नही हिलाते हौ।
छिले हुए कन्धे से भी तुम छकड़े नित्य चलाते हौ;
बहुत कष्ट पाने पर मग में, गिरते हौ, उठ आते हौ॥

(६)

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज ! महराज !
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज।
तुम्हें खण्ड कर देते है जो महा निर्दयीजन-सिरताज;
धिक उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज ॥

(७)

"मैं जैसा विषयी हूँ वैसा और नही दिखलाता है",
किसी किसी कामी के मन में यह घमण्ड आ जाता है।
वह क्या वस्तु तुम्हारे सम्मुख ?. जब तरुणाई आती है;
काली, पीली, धवल, धूमरी धेनु न बचने पाती है ॥

(८)

इस प्रकार की अनाचारता जब विशे बढ़ जाती है,
म्यूनीसिपल सभा की, तुम पर, तब रिस अति अधिकाती है।
पकड़ पकड तुमसे वह अपना कूड़ा-कीट ढुलाती है;
वहाँ किये का फल पाते हो, सामत पूरी आती है ॥

(९)

सजातीय अनगिनत तुम्हारे चक्र छाप लगवाते हैं;
इस प्रकार द्वारकापुरी से आये से दिखलाते हैं।
शंकर-चिह्न शूल अति सुन्दर कोई कोई पाते हैं;
इस मिष, नये नये, निशिदिन, वे मजे सदैव उड़ाते हैं ॥

(१०)

इसी तुम्हारे जाति-वर्ग ने स्वतंत्रता-सुख जाना है,
लूट-मार में यह अति निष्ठुर नादिर का भी नाना है।
यह फ़िरक़ा वृषराज ! तुम्हारा गाँव गाँव मे फिरता है;
सारी कृषी स्वर्ग जाती है जहाँ कहीं यह गिरता है ॥

(११)

एक बार म्यूनिसपैलिटी का पाकर अखण्ड आदेश,
काशी के दुर्मद साँड़ों ने ढोया है कूड़ा निःशेष।
दण्ड न पाता है कोई यदि उन्हें चुरावै, डालै मार;
हुई नजीरैं प्यनलकोड पर ऐसी ही कितने ही बार ॥

(१२)

अभिमानी में वृषभ ! तुम्हारा लक्षण सभी समाता है;
तौल तुम्हारी करैं उसी से यही चित्त में आता है ।
बलीवर्द ! मत बुरा मानना, बात सत्य हम कहते हैं;
झूठ बोलनेवाले से हम सदा दूर ही रहते हैं ।।

(१३)

गज भी जो आवै, तुम उसकी ओर न आँख उठाते हौ;
लेटे कभी, कभी बैठे ही, कभी खड़े रह जाते हौ ।
अभ्यागत को अभिमानी भी मन मे तुच्छ समझता है;
वह उसके मानापमान का ज़रा खयाल न रखता है ।।

(१४)

धनीगर्व मदमत्त, गले मे गोफ-गुन्ज लटकाता है;
लटका कर, सब काल उन्ही से अपनी आँख लड़ाता है ।
तुम भी मोरपंख का गहना गरदन मे सजवाते हौ;
देख देखकर उसे मनीमन फूले नही समाते हौ ।।

(१५)

धनी पुरुष गद्दी के ऊपर, धोतीभर कटि से लिपटाय;
तुन्दिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमण्ड में आय ।
वृषभराज ! तुम भी निज थल पर झूल पीठ पर से लटकाय;
पूँछ फिराते हो शरीर पर बैठे ही बैठे सुख पाय ।।

(१६)

बलीवर्द ! तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हौ;
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हौ ।
साभिमान धनवान पास भी नही विवेक फटकता है;
अहंकार-मद में वह अपने चूर सर्वदा रहता है ।।

(१७)

यदिच देखना चाहै कोई मूर्तिमान अद्भुत अभिमान;
बलीवर्द ! वह रूप तुम्हारा देखै मत्त-मत्तंग समान ।
अहो भाल, कन्धा विशाल वर, शैल-शिखर सम शीश महान;
भूमि-भंग-कर अहो शृंग युग अति उत्तुंग अंग बलवान ।।

(१८)

खड़े खड़े जब घोरनाद तुम करते हौ सगर्व भरपूर;
तुम्हें देख कर मदमत्तो का मद होता है चकनाचूर।
होती नही पूछ भी तिस पर अभिमानी नर मोंछ मरोड़;
ठसक दिखाने के करते है यत्न सदैव करोड करोड़ ॥

(१९)

"मैं कुबेर; मैं ही सुरगुरु हूँ; मेरा ही सब कही प्रमाण";
यह घमण्ड रखनेवालो का मुख-दर्शन है पाप-निधान।
तदपेक्षा हे वृषभ ! तुम्हारा पीवर अण्डकोष-समुदाय;
अवलोकन करना अच्छा है; सच कहते हैं भुजा उठाय ॥

(२०)

बिना तुम्हारे अन्न दिये नर यमपुर जाय विचरते है;
अत्यादर अतएव तुम्हारा भारतवासी करते हैं।
बिना तुम्हें, इस वर्ष, देखिये, कितना कष्ट उठाते हैं;
गुर्जर और राजपूताना हाहाकार मचाते हैं ॥

(२१)

चतुष्पाद-कुलकैरव-हिमकर ! हे वृष ! हे अति उपकारी !
बना रहै यह देश तुम्हारी कृपादृष्टि का अधिकारी।
बिना तुम्हारे शंकर का भी क्षण भर नहीं गुज़ारा है;
कारणवश, झटपट, यह हमने अल्प लेख लिखमारा है ॥

२६—शेख़ सादी की उक्तियाँ

(ब्रजवासी के प्रथम खण्ड की नवम और दशम संख्याओं में प्रकाशित)

(१)

स्वाभाविक सौन्दर्य जो सोहै सब अँग माहिं।
तो कृत्रिम आभरन की आवश्यकता नाहिं ॥

(२)

सधन होन तैं होत नहिं कोऊ लक्ष्मीवान,
मन जाको धनवान है सोई धनी महान ॥

(३)

एक कामरी मे रहैं दस साधू सुख पाय।
द्वै नरेस इक देश में पै नहिं सकत समाय॥

(४)

अपने जीवन तें मनुज जो निरास ह्वै जात।
वह जो चाहै कहि सकै भली बुरी सब बात॥

(५)

जो पै अपनो मित्र है मूरख निपट अजान।
तौ तासों शत्रुहिं भलो बुद्धिवान गुणवान॥

(६)

मित्र आपनो अहहि जो सब प्रकार अनुकूल।
शत्रु करैगो तौ कहा ? बनो रहै प्रतिकूल॥

(७)

विमल मधुरजल सों भरो जहाँ जलाशय होय।
पशु, पक्षी, अरु नारि, नर, जात तहाँ सब कोय॥

(८)

विपति भोग भोगे गरू जिन लोगनि बहु बार।
सम्पति के गुण जानहीं वे ही भले प्रकार॥

(९)

"कहौ सत्य ही"—ईश कर यह निदेस सब काहिँ।
सत्यपंथ गहि आजु लौं कोऊ भटक्यो नाहिँ॥

(१०)

जानी जात सुगन्ध सों सोई मृगमद जान।
ज्ञान नाम तें होत जो तौ न खरी पहचान॥

(११)

पिता पितामह आदि की सम्पति जो चह लैन।
तौ तू पहले बन अवशि तिनके गुन को ऐन॥

(१२)

औरन के जो कहत है तासो दोस सुनाय;
वह औरन सो कहहिगो दोस तिहारहु जाय॥

(१३)

बिसधर भीम भुजंग को अंग नासि जो कोय।
दया सँपेलन पै करत बुद्धिमान नहिं सोय ॥

२७—मांसाहारी को हंटर

१९ नवम्बर, १९०० के हिन्दी-बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

सद्वंश-गर्व अपने मन माहि धारे,
सोहै परोस महँ एक युवा हमारे।
ताकी अतीव रुचि आमिष में निहारी,
हौं, एक बार, इमि, उग्र गिरा उचारी ॥

(२)

रे मास-भोज-रत ! निर्दयता-अगार !
रे ज्ञान-शून्य नर ! सभ्य-समाज-भार !
सुस्वच्छ शीघ्र करिकै निज दोउ कान,
हौं जो कहौं कछु अरे ! सुनु सावधान ॥

(३)

अत्यन्त मिष्ठ अमृतोपम दुग्धधारा,
देवै जु पुष्टि नित सेवन सों अपारा।
सन्तुष्ट देवगण जो बिनु होत नाही;
न प्राप्त गो कह अरे ! यहि देश माही ?

(४)

पीयूष-दर्प-हर बर्फ-सम-स्वरूप,
हा हा ! कहा नसि गयो दधिहू अनूप ?
माधुर्य-मूर्ति कह मंजुलहू मलाई;
बीभत्स भक्ष्य तव देखि कहूँ सि ाई ?

(५)

रे रे अजान ! रसना-रत ! बोलु ेलु;
मौनावलम्ब कत ? रे ! मुख खोलु खोलु।
मिष्ठान्नहू न कह एकहु तोहिं भावैं ?
स्वादिष्ठ मूल-फलहू न कहा सुहावैं ?

(६)

जो तू अरे ! कहत कम्पित होत गात;
लीलै महा मलिन मांस मिलाय भात !
जानै नही निज-हिताहित-युक्त बात;
है हानि जाहि महँ तोहिं सुई सुहात !!

(७)

अत्यन्त मोदकर मोदक मञ्जु मीठे,
तोको न देहिं मुद लागहिं हाय सीठे।
पक्वान्न तोहि नहिं तादृश तोषकारी
तू को ? कहै न कत ? रे नररूपधारी !

(८)

अच्छाच्छ अन्न अरु शाक-समूह-सारे,
अन्यान्य देश तरसैं जिनको विचारे।
हा ! हा ! भरै न तिनहूँ सन पेट तेरो,
रे बुद्धिहीन ! जनि जीव जराउ मेरो॥

(९)

आरक्त रक्त जिहि माहिं सनो घनेरो;
मज्जा-प्रपुञ्ज सन जो सब ओर घेरो।
जामे भरो अति अपावन अस्थि-जाल;
तू सोइ मांस गटकै नित लाल लाल ॥

(१०)

धिक्कार तोहि; नर-जन्म वृथाहि पायौ;
आहार मांस करि मानुषता नसायौ।
तो सों भले पशु, असभ्य मनुष्य आदि;
हा हन्त ! हन्त !! तव जीवन-जाल वादि !!

(११)

लै अस्थि, ताहि अपने मुख माहि डारी;
चूसैं शुनी शुनक हर्ष विशेष धारी।
जो तूहु मोद-युत चाबतु हाड हा हा !
तो श्वान-वर्ग अरु तो महँ भेद काहा ?

(१२)

जे अन्य देश-जन आमिष खानवारे;
तेऊ अनेक, तजि ताहि, भये सुखारे।
पै तू सदैव सुख सों रत वाहि माही;
तेरे समान नर निर्घृण और नाही॥

(१३)

जामे मलीन मल, मूत्र, रहै सदा हीं,
नीके, भले, सकल भक्ष्य, अभक्ष्य, जाही।
सोई महा-घृणित दुर्बल छाग छागी,
तू प्रीति-युक्त उदरस्थ करे अभागी॥

(१४)

सर्व प्रकार निरुपद्रव-कार दीन,
वाणी-विहीन, बल-हीन, सहाय-हीन।
ऐसे अनेक बकरे बलिदान होवैं;
तेरेहि हेत अपने प्रिय प्राण खोवैं॥

(१५)

माता समान पय-पान सदा करावै;
बेरी, पलाश, अरु आक, जवास खावै।
सोई अजा भखत तोहिं न लाज आई,
हा हन्त! हा!! इतिक घोर कृतघ्नताई!!!

(१६)

नाई जू भूलि नख जीवित काटि देवै;
तू आर्तनाद करिकै कर खैंचि लेवै।
तो कण्ठ काटि पशु मारन में कितेक,
होवै व्यथा शठ! हिये महँ सोचु नेक॥

(१७)

जीतेहि देह सन दुःसह गन्ध छूटै,
वाणी अभद्र सुनि मानहुँ कान फूटै।
सानन्द ताहि मृत-छागल काहिं रे रे!
तू खाय, नित्य उठि, साँझ तथा सवेरे!!!

(१८)

जो तू, तथा अपर जे तव तुल्य सोऊ,
संकल्प सत्य करि मास छुवैं न कोऊ ।
तौ ये निरे निरपराध पशू बिचारे,
मारे न जाहिं जन-भोजन हेत सारे ॥

(१९)

अत्यल्प काल अथवा बहु काल माही;
रे ! नाश है अवशि संशय लेश नाही ।
जो अन्त, मांस-रस-पुष्ट-शरीर छूटै;
तौ मूढ़ ! व्यर्थ कत पातक-पुञ्ज लूटै ?

(२०)

स्वप्राण हैं प्रिय अरे शठ ! तोहिं जैसे,
अन्यान्य जीव-गणहू कहँ मूर्ख ! तैसे ।
काहे कमात पर-पीडन-पाप-भार ?
धिक्कार तोहिं शत बार ! सहस्र बार !!

(२१)

रे आत्म-शत्रु ! यह निन्दित मांस त्यागु;
हिंसादि पाप सन पामर ! भागु भागु!
घी, दूध, अन्न यदि है तन पुष्टकारी;
तौ मांस खाय कत लूटतु पाप भारी ?

(२२)

पक्षी, पशू, मनुज, कीट, पतंग जो है,
विश्वेश-अंश सब माहिं समान सोहै ।
तातें दयालु-दृग सों लखु तू सबै—ही;
सद्धर्मसार अरु तत्त्व-विचार एही ॥

(२३)

ऐसी घनी वचन-चाबुक-चोट खाई,
धिक्कारवाक्य-मय-मुष्टिकपात पाई ।
शिक्षा-प्रभाव-वश ह्वै वह पासवारो;
तत्काल मांस तजि भक्त भयो हमारो ॥

२८—द्रौपदी-वचन-बाणावली

(नवम्बर १९०० की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

धर्मराज से, दुर्योधन की, इस प्रकार, सुनि सिद्धि विशाल;
चिन्तन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल।
क्रोध और उद्योग बढ़ानेवाली, तब, वह गिरा रसाल;
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्तियुक्त तत्काल ॥

(२)

आप सदृश पंडित के सम्मुख निपट नीच नारी की बात;
तिरस्कार-कारक-सी होती है हे नरपति-कुल-विख्यात !
वस्त्र-हरण आदिक अति दुस्सह दुःख, तथापि, आज इस काल;
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल !

(३)

तेरे ही वंशज महीपवर सुरनायक सम तेज-निधान;
जो धरणी अखंड, इस दिन तक, धारण किये रहे बलवान।
हा हा ! वही मही निज कर से तूने ऐसे फेंकी आज;
सिर से हार फेक देता है जैसे महामत्त गजराज !

(४)

कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग मे कपट न करते है;
वे मतिमन्द मूढ़ नर, निश्चय, प्राय पराभव, मरते है।
उनमें कर प्रवेश, फिर उनको शठ यों मार गिराते है;
कवचहीन तनु मे ज्यो पैने बाण प्राण ले जाते हैं ॥

(५)

हे साधन-सम्पन्न नराधिप ! हे क्षत्रियकुल-अभिमानी !
कुलजा, गुण-गरिमा-वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड़ कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावेगा;
अपनी मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावेगा ?

(६)

हे महीप ! मानी नर जिसको महानिंद्य बतलाते है,
उसी पन्थ के आप पथिक हैं; नही परन्तु लजाते है।
कोपानल क्यों नही आपको भस्मीभूत बनाता है ?
सूखे शमीवृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है॥

(७)

यथासमय जो कोप-अनुग्रह को प्रयोग मे लाते है;
स्वयं देहधारी सब उनके वशीभूत हो जाते हैं।
क्रोधहीन नर की रिपुता से कोई भय नहिं पाते है;
तथा मित्रता मे, वे, उसको आदर भी न दिखाते है।

(८)

चन्दन-चर्चित-गात भीम जो रथ ही पर चलता था तत्र;
धूलिधूसरित वही, विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र।
क्या तव मन, इस पर भी, पीड़ित होता नही, पाय सन्ताप ?
सत्यशील बन कर अनर्थ यह हाय ! कर रहे है क्या आप ?

(९)

देवराज सम जिस अर्जुन ने उत्तर-कुरु सब विजय किया,
करके हे नृप ! तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया।
तेरे लिए, वही, अब हा हा ! तरु के वल्कल लाता है;
इसे देख कर भी क्या तुझको कुछ भी क्रोध न आता है॥

(१०)

यहाँ महीतल पर सोने से, मृदुल गात हो गया कठोर !
वन-गज-तुल्य देख पड़ते हैं ! ! जटा लटकती है ! सब ओर ! ! !
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश !
क्या तू शेष नहीं कर सकता अब भी अपना धैर्य विशेष ?

(११)

हे नृप ! तेरी मति-गति मेरी नही समझ मे आती है;
चित्तवृत्ति भी किसी किसी की अद्भुत देखी जाती है !
तेरी प्रबल आपदाओ का चिन्तन करती हूँ हैं जब,
मनस्ताप मे फट जाता है यह मेरा हृदय-स्थल तब !

(१२)

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था;
सुयश और मंगल गीतो से प्रात जगाया जाता था।
वही, आज, तू, कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है !
श्रुतिकर्कश श्रृगाल-शब्दो से हा हा ! निद्रा खोता है !!

(१३)

द्विज-भोजन से बचा हुआ, शुचि षटरस अन्न, पुष्टिकारी,
खाकर, जिसने इस शरीर को, पहले किया मनोहारी ।
भूप ! वही तू, आज, उदर निज वनफल खाकर भरता है;
यश के साथ देह भी अपनी हा हा हा ! कृश करता है ।।

(१४)

रत्न-खचित-सिहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप-मुकुटो के सुमन-रजःकण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खंडित कुश-युत वन भीतर;
अहह ! नग्न फिरते रहते है वे ही तेरे पद मृदुतर !

(१५)

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल,
हृदय समूल उखड़ जाता है; पाती हूँ मैं व्यथा विशाल !
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर नहिं सके शत्रुकुलकेतु;
उनकी ईश्वरदत्त हार भी होती है सुख ही का हेतु ।।

(१६)

मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये, फिर, इस बार;
क्षमा छोड़िये, जिसमें रिपु का होवै नृप ! सत्वर संहार।
षड्रिपुनाशक सहनशीलता निस्पृह मुनियों ही के योग्य;
भूपालों के लिए सर्वदा, वह सब, भाँति, अयोग्य अयोग्य ।।

(१७)

तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान;
हे महीप ! अरि से पाकर भी, यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें, शान्तचित, धारण किये हुए सन्तोष महान,
तो हाहा ! हत हुआ, निराश्रय, मानवान पुरुषों का मान ।।

(१८)

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभगुण-समुदाय;
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय !
तो यह राज-धर्म्म का सूचक वीरोचित को दण्ड विहाय;
यहीं अखंड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय ॥

(१९)

कपट कर रहा है रिपु, इससे, तुझ तेजस्वी को महिपाल !
पालन करना नहीं चाहिए पूर्व-प्रतिज्ञा-प्रण, इस काल ।
अरि पर विजय चाहनेवाले धराधीश बल-बुद्धि-निकेत;
विवि दोष, की हुई सन्धि में, दिखलाते हैं युक्ति-समेत ॥

(२०)

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आसीस;
शत्रु-नाश होने पर, लक्ष्मी मिलै पुनः ऐसे अवनीश !
जैसे, प्रातःकाल, सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय;
तिमिर-राशि हटने पर, दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥

(२१)

भारवि-रूपी कवि-सविता की कविता विद्वज्जन की प्राण;
अति उद्भट, अति अगम, मनोहर, महाअलौकिक अर्थ-निधान ।
मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञकृत यह उसका जघन्य अनुवाद;
अनुशीलन कर हे रसज्ञ जन ! करि मेरे क्षमा प्रमाद ॥

२६—काककूजितम्

(जून १९०१ के छत्तीसगढ़-मित्र में प्रकाशित)

(१)

रे क्रूरकोकिल ! कलं कुरु मा कदापि;
वाचंयमत्वमधुना भुवने भजस्व ।
जानासि किन्न नवनीरदनीलदेहः
काकोऽमृताक्तवचनः समुपागतोऽहम् ॥१॥

भावार्थ—रे क्रूर कोकिल ! तू कदापि कलरव न कर। संसार में इस समय, तुझे चुप ही रहना चाहिए। क्या तू नहीं जानता कि नवीन नीरद

के समान देहवाला और पीयू -सिञ्चित वाणी बोलनेवाला काक नामधारी मैं आगया हूँ ?

त्वं पञ्चमेन विरुतं विजहीहि नूनं;
वक्तुं वसन्तसमयेऽपि न तेऽधिकारः ।
सम्प्रत्यहं दशसु दिक्षु सदा सहर्षं,
तारस्वरेण मधुरेण रवं करिष्ये ॥२॥

भावार्थ—तू पञ्चम स्वर में आलाप करना छोड़; वसन्त समय मे भी मुख खोलने का तुझे अधिकार नही। इस समय, दशो दिशाओं में, उच्च स्वर से, मैं ही सहर्ष मीठी मीठी बोली बोलूँगा।

दृष्ट्वापि मामुपगतं किल कज्जलाभं
किन्नाम रे शुक ! न मुञ्चसि पञ्जरं त्वम् ?
वाचाविमर्दितविशुद्धसुधारसोऽहं
स्थाने तवाद्य मधुराणि फलानि भोक्ष्ये ॥३॥

भावार्थ—रे शुक ! कज्जल के समान आभावाले मुझे आया देख कर भी तू क्यो नहीं अपने पिंजड़े को छोड़कर पलायन करता ? अपनी वाणी से विशुद्ध सुधा को भी विमर्दित करनेवाला मैं, अब तेरे स्थान में बैठ कर मीठे मीठे फलों का स्वाद लिया करूँगा !

लोकस्तनोतु नयनद्वयदुःखदात्रे
वर्णाय ते नतितर्तिं हरिताय कीर !
शौरिं स्मरत्वसितभीमभुजङ्गमाङ्ग—
रङ्गाभिरामवपुषं परिपालयन् माम् ॥४॥

भावार्थ—हे कीर (शुक) ! दोनों नेत्रों को दुःख देनेवाले तेरे हरित वर्ण को लोग, अब, दूर ही से हाथ जोड़ें। काले भुजङ्ग के रंग के समान सुन्दर शरीरवाले मुझे पाल कर, आज से, वे आनन्दपूर्वक विष्णु भगवान् का स्मरण किया करें।

धातुर्विमानवहनेन विदीर्णदेह !
रे राजहंस ! खगवंशकलङ्कभूत !
निर्गच्छ तुच्छ ! जगतीतलतस्त्वमाशु
मा मा कदापि मम सम्मुखमेहि भूयः ॥५॥

भावार्थ—ब्रह्मा के विमान में जुते रहने से विदीर्ण देहवाले, पक्षि-कुल के कलंक, रे तुच्छ राजहंस ! इस भूतल मे तू तुरन्त दूर हो। कदापि पुनर्वार तू मेरे सम्मुख मत आ।

लोकातिशायि गमनं हि ममेति तावद्-
गर्वं वहस्यतितरां ननु हंस ! यावत् ।
दृष्टा त्वया मम गतिर्न विलासिनीनां
लीलाललामगमनानि विडम्बयन्ती ॥६॥

भावार्थ—रे हंस ! "मेरी चाल सबसे अच्छी है"—इस प्रकार के गर्व का बोझा तू तभी तक उठाता है जब तक तूने विलासनी कामिनियों की लीला-ललाम गति की भी विडम्बना करनेवाली मेरी चाल नहीं देखी ।

मुक्ताफलानि कठिनानि मराल ! भुंक्षे;
मा तेन चेतसि चकास्तु तवाभिमानः ।
भुञ्जे ततोऽपि मधुराणि सुकोमलानि
श्राद्धादिकेषु पृथु-पिंड-कदम्बकानि ॥७॥

भावार्थ—रे मराल ! कठोर कठोर मुक्ताफल तू चुगता है, यह समझ कर तू अपने चित्त में अभिमान का अंकुर न उगने दे। श्राद्धादिक में मुक्ताफलों से भी मधुर और कोमल बड़े बडे पिंडे मैं सानन्द आस्वादन करता हूँ ।

रे नीलकं ! शितिकण्ठतनूभवस्य,
भारं वहन्नपि नहि त्रपसे, तदस्तु ।
चित्रं मदीयचरणौ मृदुलौ मनोज्ञौ
दृष्ट्वापि नैव यदधोमुखतां प्रयासि ॥८॥

भावार्थ—रे नीलकण्ठ !—(मयूर)—शंकर के पुत्र (कुमार कार्तिकेय) के बोझे को लादकर भी यदि तुझे लज्जा नहीं आती, तो न सही; परन्तु आश्चर्य यह है कि, तू मेरे महामृदुल और महा सुन्दर पैरों को देखकर भी, अपना सिर नीचा नहीं कर लेता ।

सर्वे खगाः श्रृणुत सत्यमहं वदामि,
लोकत्रयेऽपि किल कोऽपि न मत्समोऽस्ति ।
द्रष्टा विदीर्णचरणस्य निजप्रियाया
जानाति दाशरथिरेव स मे प्रतापम् ॥९॥

भावार्थ—हे समस्त पक्षिवर्ग ! सुनो, मैं सत्य कहता हूँ; इस लोकत्रय में मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है । अपनी प्रिया के क्षत-विक्षत चरण को देखनेवाले एक वे रामचन्द्र ही मेरे प्रताप को जानते हैं ।

तेनास्तु मंगलमये समयेऽद्य सद्यो
युष्मासु राजपदवी मम भूतलेऽस्मिन् ।
अत्रैव वृक्षविवरे विराजमानः
सर्वाधिकारहरणाय सदा यतिष्ये ।।१०।।

भावार्थ—इसलिए, आज ऐसे मंगलमय समय में, मैं, तुम्हारा सबका, शीघ्र ही राजा हो जाऊँ। इसी पेड़ के कोटर में विराजमान होकर मैं, आज से, सबका अधिकार हरण करने की चेष्टा किया करूँगा।

एवं समालपति दुर्ल्ललिता विरुद्धां
यावद्गिरं क्षतविवेकमतिः स काकः ।
तस्योपरि बलवेगपरस्तु ताव-
च्छ्येनः पपात पविपात व प्रचण्डः ।।११।।

भावार्थ—विचारहीन मूर्ख काक, इस प्रकार, दुर्ललित और विरुद्ध बातें बक ही रहा था, कि बड़े वेगवाला एक प्रचण्ड श्येन (बाज) वज्रपात के समान, उसके ऊपर टूट पड़ा !

२०—विधि-विडम्बना

(मई १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

चारु चरित तेरे चतुरानन ! भक्ति-युक्त सब गाते हैं;
इस सुविशाल विश्व की रचना तुझसे ही बतलाते हैं।
कहते हैं तुझमें चतुराई है इतनी सविशेष,
जिसको देख चकित होते हैं शेष, महेश, रमेश ।।

(२)

चतुर्वेद की शपथ तुझे है मुझे बात यह बतलाना;
तूने भी, कह, क्या अपने को महाचतुर मन में माना ?
माना सत्य; क्योंकि, तूने कुछ कहा नहीं प्रतिकूल;
कमलासन ! सचमुच यह तेरी हैगी भारी भूल ।।

(३)

भली बुरी बातैं सुत की सब पिता सदा सुन लेता है;
अनुचित सुनि लेवै तौ भी वह उसे क्षमा कर देता है।
तेरा तौ त्रिभुवन में विश्रुत परम-पितामह नाम;
फिर तुझसे कहने-सुनने में भय का है क्या काम ।।

(४)

दोष-राशि से दूषित तेरी करतूतें हम पाते हैं;
अतः यहाँ पर कोई कोई उनमें से दर्शाते है।
अति नीरस, अति कर्कश, अति कटु, वेद वाक्य-विस्तार;
क्षण भर तू समेट कर सुन निज अविचारो का सार ।।

(५)

विक्रम, भोजादिक महीपवर, मही-मयंक, महाज्ञानी;
सरस्वती के सच्चे सेवक, देवद्रुम समान दानी ।
तूने इनसे भूतल भूषित किया अल्पही काल;
भूल और क्या हो सकती है इससे अधिक विशाल ?

(६)

काव्य-कला-कौशल-सम्बन्धी रुचिर-सृष्टि के निर्माता;
मधु-मिश्री से भी अति मीठी वचन-मालिका के दाता।
कालिदास, भवभूति आदि को अन्य लोक पहुँचाय;
कविता-वधू विधे ! तूने ही विधवा कर दी हाय !!

(७)

कपिल, कणाद, पतञ्जलि, गौतम, व्यास आदि वर विज्ञानी,
जिनकी कीर्ति-ध्वजा अभी तक सतत फिरै है फहरानी।
उनको भी तूने क्षणभंगुर किया, विवेक विहाय;
दिखलावैं हम तेरी किन किन भूलों का समुदाय ?

(८)

रम्यरूप, रसराशि, विमलवपु, लीला-ललित, मनोहारी;
सब रत्नों में श्रेष्ठ शशिप्रभ अति कमनीय नवल नारी।
रच, फिर उसको जरा-जीर्ण तू करता है निःशेष !
भला और तुझ जरठ जीव से क्या होगा, सुविशेष !

(९)

उपलपात, जलपात, भयंकर वज्रपात भी सहते, हैं;
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहि कहते है।
किन्तु असह्य उरोज-पात का करते ही कुविचार,
तेरी विषम बुद्धि पर बुधवर हँसते हैं शत बार।।

(१०)

कटु न्द्रायण में सुन्दर फल ! मधुर ईख में एक नही !
बुद्धिमांद्य की सीमा तूने दिखलाई है कहीं कही।
निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश;
तो क्या कञ्चन में भी तुझको करना न था सुवास ?

(११)

विश्व बनानेवाला तुझको सब कोई बतलाते है;
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते है।
यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशलता लेश,
काक और पिक एक रंग के क्यों होते लोकेश ?

(१२)

वायस विहरै है गलियों में हंस न पाते जाते है;
कण्टकारि सब कही; कमल-कुल कहीं कहीं दिखलाते हैं।
मृगमद पाने का क्या कोई था ही नहीं सुपात्र,
जो तूने उससे पशुओं का किया सुगन्धित गात्र ।।

(१३)

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सीग क्यों नही उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते है ?
घोर घमण्डी पुरुषो की क्यों टेढ़ी हुई न लंक ?
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशंक ।।

(१४)

दुराचारियों को तू प्रायः धर्म्माचार्य्य बनाता है;
कुत्सित-कर्म-कुशल कुटिलों को अक्षरज्ञ उपजाता है।
मूर्ख धनी; विद्वज्जन निर्धन; उलटा सभी प्रकार !
तेरी चतुराई को ब्रह्मा ! बार बार धिक्कार ।।

(१५)

घोड़े जहाँ अनेक, गधो का वहाँ काम क्या था ? सच कह;
विविद हो गई तेरी सारी चतुराई; तू चुप ही रह।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार;
लिखवाता है उनके कर मे नये नये अखबार ॥

(१६)

विधे ! मनोज्ञ-मातृ-भाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़,
रामनाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुख मोड़।
एकानन हम, चतुरानन तू; अतः कहें क्या और विशेष ?
बुद्धिमान जन को इतना ही बतलाना बस है भुवनेश !

३१—हे कविते !

(जून १९०१ की सरस्वती मे प्रकाशित)

(१)

सुरम्यरूपे ! रसराशिरञ्जिते !
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा-
कवीन्द्र-कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?

(२)

कहाँ मनोहारि-मनोज्ञता गई ?
कहाँ छटा क्षीण हुई नई नई ?
कही न तेरी कमनीयता रही;
बता तुही तू किस लोक को गई ॥

(३)

नही कही भी भुवनान्तराल मे,
दिखा पड़ै है तव रम्यरूपता।
सजीव होती यदि जीवलोक में,
कभी कहीं तो मिलती अवश्य ही ॥

(४)

सती हुई क्या कवि-कालिदास के,
शरीर के साथ तभी अनाथ हो ?
विलुप्त किंवा भवभूति संग ही,
हुई मही से, अवलम्ब के बिना ?

(५)

प्रयाण तूने तब तो नहीं किया,
विराजती भूतल में रही कहीं ।
अवश्य श्रीहर्ष-शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई ॥

(६)

हुआ पुनर्जन्म फिरङ्ग-देश मे,
परन्तु सो भी कुछ काल के लिए ।
पता वहाँ भी मिलता नहीं हमै,
बता कहाँ है अब तू मनोरमे ॥

(७)

नितान्त अन्धों पर भी कभी कभी
कृपावती होकर हे सुलक्षणे !
सदैव तू तन्मुख-मन्दिर-स्थिता,
प्रकाशती है निज सर्व सम्पदा ॥

(८)

सुनेत्रधारी यदि तू चहै नहीं;
अनेत्रियों का न अभाव हिन्द में ।
अतः उन्हीं से चुन एक आध को;
कृपाधिकारी अपना बना, बना ॥

(९)

कभी कभी तू अब भी दयाधने !
दया करै है इस दीन देश पै ।
महान्महाराष्ट्र, विशाल-वङ्ग में,
विकास तेरा कविते ! कहीं हुआ ॥

(१०)

मनुष्य सारे सम हैं तुझे सदा;
विचारती जाति न पाँति तू कभी।
इसी लिए दोष तुझे न दे सकें,
अनेक-दोषाकर हाय! हैं हमीं॥

(११)

अनन्तवर्षावधि तू यहाँ रही;
तथापि तेरा कुछ ज्ञान ही नहीं।
विचित्रता और विशे क्या कहें;
कृतघ्नता का बस अन्त हो गया॥

(१२)

अभी हमें ज्ञात यही नहीं हुआ,
रही किमाकारक तू रसात्मिके!
स्वरूप ही का जब ज्ञान है नहीं,
विभूषणों की तब क्या कहें कथा?

(१३)

तुकान्त ही में कविनान्त है यही,
प्रमाण कोई मतिमान मानते।
उन्हें नहीं काम कदापि और से;
अहो महामोह! प्रचण्डता तव॥

(१४)

कवीश कोई यमक-च्छटामयी,
महाघटाटोपवती सुचोलिका।
बनाय नाना विधि हे विचक्षणे!
तुझे वशीभूत हुई विचारते॥

(१५)

सदा समस्या सबको नई नई;
सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियाँ।
तुझे उन्हीं में अनुरक्त मान, वे
विरक्त होते नहिं; हा रसज्ञता!

(१६)

कहीं कही छन्द; कही सुचित्रता;
कहीं अनुप्रास-विशेष मे तुझे।
सुजान ढूँढ़ें अनुमान से सदा,
परन्तु तू काव्य-कले ! वहाँ कहाँ ?

(१७)

सकै तवाकार बनाय भी यदि,
वृथा परिश्रान्ति तथापि सर्वथा।
बताइए, जीवविहीन देह से,
सजीव की सुन्दरि क्या समानता ?

(१८)

विचार ऐसे जगदम्ब ! है जहाँ,
न दर्शनों का तव आसरा वहाँ।
अजेय इच्छा उस ईश की; उसे
मिटाय देवै, यह शक्ति है किसे ?

(१९)

विडम्बना जो यह हो रही तव,
समूल ही भूल उसे दयामयी !
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौभी कुछ काल लौ यहाँ ॥

(२०)

अभी मिलैगा ब्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ॥

(२१)

इसी लिए ही भवभूति-भाविते !
अभी यहाँ हे कविते ! न आ, न आ।
बता तुही कौन कुलीन कामिनी,
सदा चहैगी पट एक ही वही ॥

(२२)

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है;
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे !
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है;
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ।।

(२३)

हुआ जिन्हीं को यह तत्त्व ज्ञात,
वही वशीभूत तुझे करेंगे ।
विलम्ब मे वा अविलम्ब से वा
दया उन्हीं पै तव देवि ! होगी ।।

(२४)

कुछ समय गये है योग्यता जो दिखावै
सदय-हृदय हो के तू उसी के यहाँ आ ।
न उचित अबला का नित्य स्वच्छन्द-वास;
बस अधिक कहूँ क्या ? हे महामोद-दात्रि ।।

३२—ग्रन्थकार-लक्षण

(अगस्त १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

एक प्रवासी ज्ञान-निधान,
तीर्थराजवासी, गुणवान,
बुद्धि-राशि विद्या का वारिधि, पास हमारे आया है ।
नाना कथा नवीन नवीन
कहने में वह महा-प्रवीण;
ग्रन्थकार-माहात्म्य मनोहर उसने हमें सुनाया है ।।

(२)

सुनकर वह माहात्म्य अपार,
सोचसमझ कर भले प्रकार;
परमानन्द रूप-नद में मन बहता है लहराता है।
उसका ही लेकर आधार;
निज वचनो का कर विस्तार;
लक्षण-मात्र ग्रन्थकारों का यहाँ सुनाया जाता है॥

(३)

शब्द-शास्त्र है किसका नाम ?
इस झगड़े से जिन्हें न काम;
नहीं विराम-चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है।
इधर-उधर से जोर-बटोर,
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़;
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

(४)

भला-बुरा छपवाये सिद्ध;
धन न सही; नामही प्रसिद्ध;
नाटक, उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं।
जिनके नाच-कूद का सार,
बँगला-भाषा का भंडार,
वे ही महा-महिम-विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

(५)

जिनके लोचन कोटर-लीन;
कच-कलाप तक तैल-विहीन;
जिनके जर्जर तन को मैले कपड़े सदा छिपाते है।
कुटिल कटाक्ष किन्तु दुर्दान्त;
मति भी, गति भी कुटिल नितान्त;
वे ही भारतवर्ष देश में ग्रन्थकार-पद पाते हैं॥

(६)

अन्यदेश-भाषा का ज्ञान;
कालकूट के घूँट समान;
स्वयं मातृभाषा भी जिनको देख देख घबड़ाती है।
भाड़े पर रख विज्ञ विशेष,
लिखवाते हैं जो निज लेख,
ग्रन्थकार-पदवी उनको ही दौड़ दौड़ लिपटाती है॥

(७)

जिनकी जिह्वा की खर धार,
देख, चमत्कृत छुरे हजार;
किन्तु लेखनी जिनके कर में धार-हीन हो जाती है।
लेखन-कला-कुशलता-हीन,
बातों में जो बड़े प्रवीण,
ग्रन्थकार-पदवी उनको ही बिना मोल मिल जाती है॥

(८)

लक्ष्मी जिन लोगो के द्वार
आती नहीं एक भी बार;
सरस्वती जिनके प्रताप से भूतल से भग जाती है।
मानी मत्त-गयन्द समान;
अथवा मूर्तिमान अभिमान;
उनको ही सद्ग्रन्थकार की पदवी गले लगाती है॥

(९)

पाकालय का अन्तर भाग
नही देखता जलती आग;
किन्तु सदा ईर्ष्यानिल से तन जिनका जलता रहता है।
सुर-गुरु को भी गाली-दान
देने में जिनको लज्जा न;
उनको ही ऊँचे दर्जे के ग्रन्थकार जग कहता है॥

(१०)

ए, बी, सी, डी का भी ज्ञान
जिनको अच्छी भाँति हुआ न,
अँगरेज़ी उद्धृत करने में किन्तु न जो शर्माते हैं।
ऐसे विद्या-बुद्धि-निधान
जिनका बड़ा मान-सम्मान;
निश्चय वे ही परम प्रतिष्ठित ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

(११)

संस्कृत-भाषा कौन पदार्थ?
जिन्हें न यह भी विदित यथार्थ,
धर्मशास्त्र का मर्म किन्तु जो लिख लिख कर समझाते हैं।
जन-समाज-संशोधन-कार्य,
व्यर्थ-वाद जिनका व्यापार;
सत्य सत्य वे ही अति उत्तम ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

(१२)

अपने ग्रन्थों का प्रतिवर्ष
विज्ञापन लिख स्वयं सहर्ष,
व्यास और वाल्मीकि तुल्य जो अपने को बतलाते हैं।
अथवा पुत्र, मित्र का नाम
देकर जो निकालते काम,
अति गम्भीर ग्रन्थकारों के गुरुवर वे कहलाते हैं॥

(१३)

अपनी पुस्तक की सानन्द,
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छन्द,
अन्य नाम से अख़बारों में जो शत बार छपाते हैं।
निज मुख से जो गुण-विस्तार
करते सदा पुकार पुकार,
ग्रन्थकार-पद-योग्य सर्वथा वे ही समझे जाते हैं॥

(१४)

गृह में गृहिणी कोप-निधान,
देती जिन्हें न आदर-दान;
बाहर जिन्हें न पाठकगण भी भक्ति-भाव दिखलाते हैं।
जिनका कहीं नही सम्मान;
तिस पर घोर घमण्ड घटा न;
ग्रन्थकार-सिंहासन ऊपर आसन वही लगाते हैं।।

(१५)

ग्रह ज्यों रवि के चारो ओर
किया करैं हैं दौरा-दौर,
त्यों पुस्तक-विक्रेता की जो बहु दक्षिणा करते हैं।
दग्धोदर जो किसी प्रकार
भरते है सदैव झखमार;
ग्रन्थकार-गौरव की झोली वे ही यश से भरते हैं।।

(१६)

किसी समालोचक के द्वार
सिर घिस घिसकर बारंबार,
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते हैं।
यदि आशय पाया प्रतिकूल,
ढूँढा और कहीं अनुकूल;
ग्रन्थकार-कुल-कुमुद-चन्द्रमा वे ही माने जाते हैं।।

(१७)

टेक्स्ट-बुक्स की सभा प्रधान;
उसके जितने सभ्य सुजान;
उनके प्रिय पुत्रादिक को जो मोदक मंजु खिलाते हैं।
आते हैं जो प्रातःकाल;
और झुकाते हैं निज भाल;
ग्रन्थकार-कनकासन ऊपर वे ही मजे उड़ाते हैं।।

(१८)

नूतन-चित्र-चरित्र-प्रचार,
करके उनकी चि अनुसार,
निज पुस्तक में जो धनिकों की व्यर्थ बड़ाई गाते हैं।
उनसे रख भिक्षा की आस,
करते हैं जो वचन-विलास,
ग्रन्थकार-गुरुओं के भी वे कर्णधार कहलाते हैं।।

(१९)

न्थकार-गुण-गण निःशेष,
गान नहीं कर सकता शेष;
इसी लिए हम इस वर्णन को आगे नही बढ़ाते हैं।
हे हे ग्रन्थकार! गुण-धाम!
हे समर्थ! हे पावन-नाम!
शत योजन से हम यह अपना मस्तक तुम्हें झुकाते हैं।।

२३—सेवावृत्ति की विगर्हणा

(७ सितम्बर, १९०२ के अवध-समाचार मे प्रकाशित)

(१)

चाहे कुटी अति घने वन मे बनावै;
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावै।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावै;
सेवा प्रभो! पर न तू पर की करावै।।

(२)

सेवा-समान अति दुस्तर दुःखदायी;
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई,
जीना कभी न उसका जग में भला है;
जो पेट-हेत पर-सेवन को चला है।।

(३)

स्वातंत्र्य-तुल्य अति ही अनमूल्य रत्न;
देखा न और बहु बार किया प्रयत्न।
स्वातंत्र्य में नरक-बीच विशेषता है;
न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है ॥

(४)

जो आत्मभाव अपना गिरि से गिरावै;
मानापमान कुछ भी मन में न लावै ।
जो शीश नीच-नर-सम्मुख भी झुकावै;
सेवा वही कर, किसी विध पार पावै ॥

(५)

निद्रा, क्षुधादिक न जो जन जानते हैं;
न प्रात, रात, दिन जो पहचानते हैं ।
जो मौन, दुर्वचन भी सुन ठानते हैं;
स्वातंत्र्य खोकर वही सुख मानते है ॥

(६)

कोई कठोर यदि बात उसे कहै है;
कुत्ता कभी न फिर पास खड़ा रहै है ।
दुर्वाक्य-वाण सह जो न करैं विचार,
धिक्कार क्यों न उनको दश लाख बार ?

(७)

जो श्वान के सदृश सेवक मानते हैं,
वे तुल्यता न करना नर जानते हैं ।
कुत्ता कहाँ सकल काल यथेच्छचारी ?
विक्रीत-जीवन कहाँ जन दास्यकारी ?

(८)

पूजा यथासमय, न प्रभु-नाम-जाप;
होता शरीर-सुख से न कभी मिलाप ।
न स्वार्थ ही न परमार्थ-विचार-बात;
सेवा किये सब सुखों पर वज्रपात ॥

(९)

सौम्य-स्वरूप शिव ने सिर पै बिठाया;
सर्वं- कार अति आदर भी दिखाया।
तौ भी महा-कुशकलाधर की कला है,
हा हा ! पराश्रय नहीं किसको खला है ?

(१०)

आलस्य-लीन शुचि सज्जनता-विहीन,
अन्तर्मलीन, पर-पीड़न में प्रवीण।
दे दैव ! दण्ड मन जो कुछ और आवै;
ऐसे प्रभु-प्रवर से पर तू बचावै ॥

॥ इति ॥

द्वितीय खण्ड

कुमारसम्भवसार

भूमिका

कालिदास के काव्यों में कुमारसम्भव का भी बड़ा आदर है। इसमें सब १७ सर्ग हैं; परन्तु पहले सात ही सर्गो के पठन-पाठन का बहुधा सब कहीं प्रचार है। अष्टम सर्ग में कवि ने शंकर और पार्वती के शृंगारिक वर्णन की पराकाष्ठा कर दी है; यहाँ तक कि अनेक स्थल अश्लीलता-दूषित हो गये हैं। शायद इसी कारण से सप्तम सर्ग तक ही इस काव्य के अनुशीलन की परिपाटी पड़ गई हो। कोई कोई यह भी कहते है कि आठ ही सर्ग कालिदास के बनाये हुए है, शेष ९ सर्ग किसी ने उसके नाम से बनाकर जोड़ दिये हैं। इस सम्भावना का कारण वे यह बतलाते है कि यदि सत्रह सर्गपर्य्यन्त कालिदास ही की रचना होती तो इस काव्य का 'तारकवध' अथवा इसी अर्थ का द्योतक और कोई ऐसा ही नाम रक्खा जाता; 'कुमारसम्भव' न रक्खा जाता; क्योंकि कुमार के द्वारा तारक का वध वर्णन करके सत्रहवे सर्ग की समाप्ति हुई है।

कुमारसम्भव की कथा कालिदास ने शिवपुराण से ली है। ऐसा करने में कवि ने कहीं कही शिवपुराण के श्लोकों के पूरे चरण के चरण वैसे ही रख दिये हैं; पदयोजनाओं और भावों के ले लेने के प्रमाण तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक सभी कहीं विद्यमान है! दो-चार उदाहरण लीजिए :—

शिवपुराण १३ अध्याय

दिशः प्रसेदुः पवनः सुखं ववौ;
शंखं निदध्मुर्गगनेऽचरास्तथा।
पपात मौलौ कुसुमाञ्जलिस्तथा;
बभूव तज्जन्मदिनं सुखप्रदम्॥

कुमारसम्भव प्रथम सर्ग

प्रसन्नदिक् पांशुविविक्तवातं
शंखस्वनानन्तरपुष्पवृष्टिः।
शरीरिणा स्थावरजंगमानां
सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥

गिरिशमुपचचार प्रत्यहे सा सुकेशी।	गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः।
१४ अध्याय	**द्वितीय सर्ग**
महासुरस्तारकाख्यस्त्वत्त प्राप्तपराक्रम सर्वलोकविनाशाय केतुराजिरिवोत्थितः एवमाराधितश्चापि स क्लिश्नाति जगत्रयम् शाम्येत्प्रत्यपक रेण नोपकारेण दुर्जनः	भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः इत्थमाराध्यमानोपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः॥
१५ अध्याय	**तृतीय सर्ग**
असम्मतः कस्तवेन्द्र, मुक्तिमार्गं पेक्षते। तं सुन्दरीकटाक्षैस्तु बध्नाम्याज्ञापय प्रभो	असम्मतः क तव मुक्तिमार्गं। पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः। बद्धश्चिर तिष्ठतु सुन्दरीणा- मारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः॥
१६ अध्याय	**पञ्चम सर्ग**
अपिक्रियार्थं सुलभं पुष्पवारिसमित्कुशम् अपि देवि तपोमूर्ध्नि स्वशक्त्या परिवर्तसे	अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते। अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥

कालिदास के विषय में हम एक पृथक् निबन्ध लिखना चाहते हैं; उसमें कालिदास की इस कृति का विशेष रूप से विचार करने की हमारी इच्छा है। अतः यहाँ पर, हम और कुछ नहीं कहते।

इस काव्य के प्रथम पाँच ही सर्ग सर्वोत्तम हैं। इसलिए हमने उन्हीं का अनुवाद किया है। बहुत कम अवकाश मिलने के कारण तृतीय और पंचम सर्ग का ही पूरा अनुवाद करके प्रथम, तृतीय और चतुर्थ सर्ग के अनुवाद में हमने मूल का आशय मात्र लिया है।

यह अनुवाद कलकत्ते के भारतमित्र में क्रमशः छपा था; अब इसे काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा पुस्तकाकार प्रकाशित करती है।

झाँसी,
१६ नवम्बर, १९०२

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

कुमारसम्भवसार

प्रथम सर्ग

(१)

दिव्य दिशा उत्तर में शोभित देवात्मा का अधिकारी,
भूधरपति अति पृथुल हिमालय हिममण्डितमस्तकधारी।
पूर्व और पश्चिम पयोधि के बीच बढ़ा कर तनुभारी,
महीमाप के दण्ड तुल्य है रक्खा बहु विस्मयकारी॥

(२)

रत्न और ओषधी चमकती हैं जिसमें नित बहुतेरी,
नहीं न्यून उसकी शोभा को कर सकती हिम की ढेरी।
चन्द्रबिम्ब के भीतर जैसे नहीं कलंक दिखाता है,
तैसे ही गुणगण-समुद्र में एक दोष छिप जाता है॥

(३)

शृङ्गों पर, अकाल-सन्ध्या-सम, धातु विचित्र बिछाता है,
तिससे जो अप्सरावर्ग को भूषणयुक्त बनाता है।
रश्मिराशि दिनकर की जिसके शिखरों पर छवि पाती है,
अधोभाग में मेघमण्डली जलधारा बरसाती है॥

(४)

हिम-धोई महि में गज-मुक्ता देख जहाँ पर बिखराये,
कहते हैं किरात "गज-हन्ता सिंह इसी मारग आये"।
बाँस-वृक्ष के छेदों में जो भर समीर न्यारी न्यारी,
गायक किन्नर-गण को देता मानौं ताल परम प्यारी॥

(५)

गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनङ्ग-देव-सन्देश,
विद्याधरसुन्दरी भेजती हैं पिय पास विशेष विशेष।
जहाँ रात में विपिननिवासी, ओषधियाँ रख दीप-समान,
करते हैं, उनके प्रकाश में, केलिकला के विविध विधान॥

(६)

करि-कपोल-ताड़ित-सालद्रुम-दुग्ध-गन्ध की अधिकाई,
जिसकी शिखरमालिका को अति सुरभित करती, सुखदायी।
जमे हुए शीतल हिम पर भी, जिस गिरि में, किन्नर-नारी,
चलती हैं मन्दही लिये निज-कुच-नितम्ब-बोझा भारी॥

(७)

रवि के भय, उलूक-सम, दिन में, अन्धकार जब आता है,
अपनी गुहा बीच रख, जो गिरि, उसके प्राण बचाता है।
महा-नीच भी शरणागत को, जन महान वर-विज्ञानी,
अभय-दान देते हैं, तत्क्षण, कहते हुए मृदुल बानी॥

(८)

जिस पर्वत पर किन्नरबाला जब रतिसमर मचाती है,
वस्त्र खींचने से, लज्जावश, सकुच सकुच रह जाती हैं।
गुहाद्वार पर, अनायास, जब आँखें उनकी आती हैं,
लटके देख मेघ, परदे सम, सब सङ्कोच मिटाती हैं॥

(९)

सुरागाय अपनी पूँछों से जिस पर चमर चलाती है,
"है यह मही रों का राजा" यह मानौ बतलाती हैं।
थके किरात जहाँ पाते हैं सुरसरि-क -लानेवाला,
विमल वायु, जिसने की कम्पित देवदारु-त वर-माला॥

(१०)

जिसके उच्च-शिखर-गत-जल के कमलों को, नीचे रह कर,
नित्य ऊर्ध्वगामी किरणों से, विकसित करता है दिनकर।
शाक्त देख जिसकी धरणी के धारण करने की अतितर,
यज्ञभाग, भूधरपतिपद भी, विधि ने दिया जिसे सुखकर॥

(११)

उसी हिमालय पर्वतपति ने विधिवत अपना किया विवाह,
पितरों की मानसी सुता शुचि मेना से, समेत उत्साह।
जिससे सुत मैनाक नाम का हुआ, पयोधि-मित्र, गुणवान,
नहीं काट जिसके पंखों को सका सुरेश महा बलवान॥

(१२)

तदनन्तर, शङ्कर की पहली पत्नी सती नामवाली,
दक्षयज्ञ में जल कर जिसने भस्म देह निज कर डाली।
आई गर्भ-मध्य मेना के रूप-शील-गुण-उजियाली,
जिसके जन्मकाल में सारी हुई दिशा शोभाशाली ।।

(१३)

स्थावर जङ्गम सबको, उसके होने से, सुख हुआ अनन्त,
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर माता अत्यन्त।
चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढ़ने लगी रूप की खान,
चढ़ने लगी लुनाई तन में परम रम्य चाँदनी समान ।।

(१४)

नाम पार्वती, पर्वतकन्या होने से, उसने पाया,
"उ-मा", निषेध-वाक्य माता ने निजमुख से जो प्रकटाया।
"मत जा सुता तपस्या करने" इस प्रकार कह समझाया,
उमा उमा कहने सब लागे, नाम दूसरा छवि छाया ।।

(१५)

था यद्यपि सुत; किन्तु पिता की हुई वही बढ़ कर प्यारी,
सच है, आम-मञ्जरी ही पर प्रीति मधुपगण की भारी।
जैसे ज्योति दीप को, सुरसरि सुरपुर को शोभादायी,
तैसे हुई हिमाचल को वह कन्या उसके घर आई ।।

(१६)

नित खेलती गेंद गुड़िया ले; गंगा-तट को भी जाती,
बालू के घर रच रच, रहती क्रीड़ारस में वह माती।
हुई प्राप्त उसको, कुछ दिन में, पूर्वजन्म-विद्या सारी,
शरद-समय सुरसरि को जैसे हंस-पंक्ति नभ-सञ्चारी ।।

(१७)

बिना किये शृङ्गार, अंग में शोभा जिससे आती है,
मदिरा पिये बिना ही, जिससे मद-तरंग चढ़ जाती है।
बिना बाण का बाण काम का, जो जन-मन-मन्थनकारी,
वही युवापन, उसे, समय, पर, आया अद्भुत, बलिहारी ।।

(१८)

जैसे रंग, चित्र की दूनी छवि, क्षण मे दिखलाता है,
जैसे कमलकली की शोभा भानु विशेष बढ़ाता है।
तैसे नवयौवन ने उसके तन की सुन्दर सुघराई,
अंग अंग मे दरसित करके, छटा अनूपम उपजाई ।।

(१९)

महि को, चरण अँगूठों से, जब, चलते समय दबाती थी,
नखआभा के मिस वह मानौं लाल रंग टपकाती थी।
उससे नूपुर-शब्द सीखने की इच्छा रखनेवाले,
हंसों ने क्या उसे सिखाये चलने के क्रम मतवाले ?

(२०)

त्वचा मत्त करिवर के कर की अतिशय कर्कश होती है,
केले की आकृति को उसकी शीतलता हठि खोती है।
देखा गया न यद्यपि जग में उनका-सा आकार कहीं,
उनकी जंघा के, ये दोनों, तदपि उचित उपमान नही ।।

(२१)

अन्य कामिनी जिस गोदी तक पहुँची नहीं कभी भी भूल,
वही जिसे, पीछे से, शिव ने सुख से धारण किया समूल।
विश्व- शंसित उस बाला की कटि का पिछला भाग महान,
था कैसा कमनीय ? कीजिए, इतने से, उसका अनुमान ।।

(२२)

उसकी कटि-करधनी-मध्यगत-नीलम के आभास समान,
रोमावली हुई अति शोभित, नाभी तक बढ़ाय परिमाण।
त्रिवली रुचिर, उदर ऊपर, उस कृशोदरी ने धरी, नवीन,
यौवन चढ़ने की, मनोज ने, दी मानौं सीढ़ी स्वाधीन ।।

(२३)

उस सरोजनयनी के दोना सटे हुए कुच कलशाकार,
एक दूसरे से लग लग कर, दुख देते थे बारंबार।
काले मुखवाले वे गोरे, बढ़कर, इतने हुए विशेष,
नही मृणाल-तन्तु भी, उनके बीच, कभी कर सका प्रवेश ।।

(२४)

फूलों ही के काम बाण हैं, यह सब कहते आते हैं,
सिरस फूल से भी मृदुतर, हम, उसके बाहु बताते हैं।
क्योंकि पराजय पाने पर भी, जब बल अपना संभाला,
रतिपति ने श्रीकण्ठ-कण्ठ में यही बाहुबन्धन डाला ॥

(२५)

पयोधरों से उन्नत उसका कण्ठ; और मुक्तामाला,
एक दूसरे की शोभा का हुआ नित्य देनेवाला।
कभी नहीं होती इकठौरी शशि-सरोज-सुन्दरताई,
किन्तु उमा के मुख मे निज निज दोनों ने छवि दिखलाई ॥

(२६)

फूल नवल पल्लव पर रहता; विद्रुम ऊपर जो मोती,
उसकी सित मुसकानि अधरयुत तो नके समान होती।
मृदु-भाषण में जब वह मुख से सुधा-सलिल बरसाती थी,
कोकिल-कूक, विषम-वीणा-सम, कानों को न सुहाती थी ॥

(२७)

वायु-वेग से कम्पित सुन्दर नील-कमल की छवि-हारी,
उस विशालनयनी की चञ्चल चितवनि की मैं बलिहारी।
ऐसी चपल दृष्टि क्या उसने मृग-किशोरियों से पाई,
अथवा मृगकिशोरियों ही को उसे स्वयं वह दे आई?

(२८)

उसकी देख विलासशील अति भव्य भौंह काली काली,
तजी काम ने निज-धनु-विषयक बातें सब घमण्डवाली।
पशु लज्जा रखते यदि, तो कच देख उमा के अति प्यारे,
चमरी गाय शिथिल करती निज केश-प्रेम-बन्धन सारे ॥

(२९)

चन्द्र, कमल आदिक सब उपमा देने योग्य वस्तु-समुदाय,
जिसे जहाँ था उचित वहाँ ही रख ब्रह्मा ने चित्त लगाय।
साथ देखने की इच्छा से मानों विश्व-सुघरता-सार,
रची उसे अत्यन्त यत्न से आकृति शोभा का आगार ॥

(३०)

एक बार, नारद मुनि, उसको बैठी देख पिता के पास,
बोले "हर-प्रिया यह होगी, कर आधे शरीर में वास"।
इससे, उसके लिए पिता ने, की न अन्य वर की अभिलाष,
अग्नि विहाय, नहीं पाते हैं, शुद्ध हव्य को, अपर प्रकाश ।।

(३१)

उसके पाने की महेश ने इच्छा किन्तु न दरसाई,
इसी लिए कर सका न गिरिवर बात ब्याह की मनभाई।
इष्ट कार्य्य में भी, सज्जन जन चुप-अवलम्बन करते हैं,
वचन-भङ्ग होने के भय से, मन में वे अति डरते हैं ।।

(३२)

जब से पूर्व जन्म में गिरिजा जली; तभी से वैरागी
हुए महेश बिना पत्नी के; विषय-वासना भी त्यागी।
गये हिमालय की उस चोटी ऊपर तप करने भारी,
मृग-कस्तूरी से सुरभित है जिसकी वनस्थली सारी ।।

(३३)

कुसुमकली के कुण्डल पहने, भूर्ज-वृक्ष की कोमल छाल,
बैठे शिलातलों पर नन्दी, भृङ्गी आदिक प्रमथ विशाल।
बर्फ़ खोदते हुए खुरों से वृषभराज ने बारंबार,
असहनीय सिंहध्वनि सुनकर, किया भयङ्कर शब्द अपार ।।

(३४)

जिससे स्वयं सदा पाते हैं तप के फल, जन अनुरागी,
वही ईश निज आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति आगी।
रख सम्मुख, प्रज्वलित उसे कर, छोड़ काम सब संसारी,
किसी अपूर्व कामना के वश, बने तपश्चर्य्याकारी ।।

(३५)

इसी समय, दो सखी साथ दे, शैलराज ने निज कन्या,
शिव-सेवा करने को भेजी, रूप-राशि गुणगण-धन्या।
यदपि विघ्नकर थी वह तप की, तदपि शम्भु ने स्वीकारी,
ऐसे में भी, मन जिनके वश, सच्चे वही धीरधारी ।।

(३६)

वेदी सदा स्वच्छ करती थी; फूल तोड़ने जाती थी;
जल पूजन के लिए, तथा कुश, प्रेम-सहित ले आती थी।
इस प्रकार शङ्कर की सेवा कर, वह उन्हें लुभाती थी,
उनके भाल-चन्द्र की किरणों से श्रम सकल मिटाती थी॥

इति प्रथम सर्ग।

द्वितीय सर्ग

(१)

उस समय महा बलवान निशाचर तारक,
त्रैलोक्य जीत कर, हुआ देवसंहारक।
भयभीत अमरगण किये इन्द्र को आगे,
इसलिए पितामह पास गये सब भागे॥

(२)

जब उन मलीन-मुख-युक्त सुरों के सम्मुख,
वे हुए प्रकट, कर कृपा, कृपालु चतुर्मुख।
रच रुचिर पद्य; इस भाँति, भक्तिरस साने,
तब, शीश नाय, सुर लगे ब्रह्मगुण गाने॥

(३)

थे सृष्टि आदि में तुम्ही अकेले स्वामी!
कर जोड़, भक्ति युत, तुम्हें नाथ! प्रणमामी।
रज, सत्व, तमोमय भेद, अनन्तर, तीन,
कर, भिन्न भिन्न त्रयमूर्ति हुए, स्वाधीन॥

(४)

जल बीच, प्रथम, निज बीज तुम्हीं ने डाला,
अतएव तुम्हीं से हुआ चराचर जाला।
विधि, विष्णु रुद्र आकार, यथाक्रम, धारी,
उत्पादक, पालक तुम्हीं, तुम्हीं संहारी॥

(५)

तुमने ही जगविस्तार हेत असुरारी !
निज तन के हैं दो भाग किये नरनारी।
जब सोते हो तुम नाथ ! प्रलय होती है,
जगते हो जब तब सृष्टि बीज बोती है ॥

(६)

तुम जगत मूल; तव मूल न जगदाधारा !
जगदन्तक तुम भगवन्त ! न अन्त तुम्हारा।
तुम जगत आदि; तव आदि नहीं है धाता !
तुम जगत ईश हौ; ईश न तव दिखलाता ॥

(७)

तुम अपने को लोकेश ! आपही जानौं,
रच अपने ही से आत्मरूप सुख मानौं।
फिर अपने ही में आप लीन हो जाते;
यह विश्व चराचर नाथ ! तुम्हीं प्रकटाते ॥

(८)

हौ स्थूल, सूक्ष्म, द्रव, कठिन, तुम्हीं निःशेष,
लघु, गुरु भी कारण, कार्य तथा विश्वेश !
जिन श्रुतियों का फल स्वर्ग महा सुखकारी,
उत्पन्न हुईं वे नाथ ! तुम्हीं से सारी ॥

(९)

भुवनेश ! सांख्य की प्रकृति तुम्हीं कहलाते,
तत्वज्ञ तुम्हीं को पुरुष पुरातन गाते।
तुम देवों के भी देव सर्वगुण-खानी,
तुम ब्रह्मा से भी बड़े ब्रह्म-विज्ञानी ॥

(१०)

सुन ऐसी स्तुति कमनीय, रुचिर, हृदयङ्गम,
प्रमुदित हो, विधि ने कहे वचन यों मृदुतम।
सुस्वागत हे सुरवर्ग ! कहो क्यों आये ?
क्या समाचार सब आज साथ ही लाये ?

(११)

हिम पड़ने से छविहीन यथा नभ तारे,
मुख-सरसिज ये क्यों हुए मलीन तुम्हारे ?
क्यों कुण्ठित-सा यह कुलिश देवपतिवाला ?
दिखलाती इसमें नहीं अग्नि की ज्वाला !

(१२)

हतवीर्य मन्त्र से सर्प यथा हो जाता,
क्यों पाश वरुण का कहो दीन दिखलाता ?
वे गदा धनद के बाहुदण्ड-आकारी
हैं कह से मानों रहे पराभव भारी ॥

(१३)

निस्तेज दण्ड से खींच भूमि पर रेखा,
हैं लगा रहे यमराज कहो क्या लेखा ?
क्यों हुए द्वादशादित्य उष्णता-हीन ?
सब चित्र लिखे से खड़े प्रतापक्षीण ॥

(१४)

क्या वायुवेग हे देव ! हो गया भङ्ग ?
जो शिथिलित उसके सर्व अङ्ग-प्रत्यङ्ग ।
क्या उदक ओघ रुक गया ? कहो सुरराज !
जो उलटा बहने लगा अहो वह आज ॥

(१५)

क्यों तुम एकादश रुद्र ! अधोमुख सारे ?
हैं गये कहाँ हुङ्कार कठोर तुम्हारे ?
क्या तुमसे भी बलवान् देवगण ! कोई ?
जिसने तुम सबकी आज प्रतिष्ठा खोई ॥

(१६)

क्या चहते हो ? हे वत्स ! कथा अब सारी,
कह करके, शङ्का हरो समूल हमारी ।
तब दृग-सहस्र गुरु ओर इन्द्र ने फेरे,
कमलाकर मानों मन्द पवन के प्रेरे ॥

(१७)

जलजासन सम्मुख हाथ जोड़, तदनन्तर,
वाचस्पति बोले वचन युक्तियुत, सुन्दर।
हे अन्तर्यामी नाथ! सकल-उरवासी!
क्यों छाई सुरगण मध्य अखण्ड-उदासी?

(१८)

सो भगवन्! तुमने ठीक ठीक सब जाना,
छिन गया देव-अधिकार, मान, सम्माना।
तुमसे वर ईप्सित पाय, महाऽसुर तारक,
है धूमकेतु सम उदित उपद्रवकारक॥

(१९)

रवि उसके पुर में नित्य तपै उतनाही,
जितने से वापी-कमल-फूल खिल जाहीं।
शशि अपनी सारी कला उसे देता है,
शिववाली केवल एक नहीं लेता है॥

(२०)

उसकी न वाटिका बीच वायु जाता है,
तत्पुष्पचौर्य्य से त्रास सदा पाता है।
उतना ही उसके पास नित्य आता है,
बस पङ्खा जितना मन्द मन्द लाता है।

(२१)

क्रम छोड़, फूल की लिये मनोहर डाली,
सारे ऋतु उसके जाय हुए हैं माली।
उस असुरराज के लिए रत्न रुचिराकृति,
देता है जल से ढूँढ़ ढूँढ़ सरितापति॥

(२२)

सब वासुकि आदिक सर्प शिखा-मणि-धारी,
बनते हैं उसके दीप महा-द्युतिकारी।
नित कल्पद्रुम के फूल भेज अमरेश,
चाहत हैं उसकी कृपा कोर का लेश॥

(२३)

वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है,
भुवनत्रय उससे त्रस्त नाथ ! रोता है।
उपकार न खल को कभी शान्त करता है,
अपकार मात्र तद्गर्व सर्व हरता है ॥

(२४)

दल लेकर जिसके हुई मुदित सुरबाला,
नन्दन वन उसने वही काट सब डाला।
दृग-अश्रुधार-संसिक्त-चमर करधारी,
करती हैं उस पर पवन अमरपुर-नारी ॥

(२५)

उसने उखाड़ कर मेरु-शिखर मन-भाये,
निज घर में क्रीड़ाशैल अनेक बनाये।
सुरसरि में दिग्गज दान-*मलिन-जलही भर;
कञ्चन-कमलालय हुए तदीय सरोवर ॥

(२६)

उसके भय वीथी बन्द; सभी डरता है,
सुरवृन्द घरों में पड़ा सड़ा करता है।
जो कोई मख मे हव्य हमें देता है,
सम्मुख ही वह शठ उसे छीन लेता है ॥

(२७)

सुरपति का उच्चैःश्रवा अश्ववर, गो भी,
ले गया असुर वह, नीच, निरंकुश लोभी।
ज्यों सन्निपात में सकल औषधी व्यर्थ;
त्यों तद्विनाश में नाथ ! देव असमर्थ ॥

(२८)

हरि चक्र न कुछ कर सका; कहें क्या क्या हम ?
उलटा वह उसका हुआ कण्ठभूषण सम।
ऐरावत-विजयी-द्विरद मत्त उसके सब,
मेघों से टक्कर मार खेलते हैं अब ॥

---

* दान = मद।

(२९)

तन्नाश हेतु हे नाथ ! एक सेनानी,
हम चाहते हैं अति शूर, वीर, बलखानी।
जिसको कर आगे, इन्द्र, विजयवाला वर,
बन्दीवत लावैं छीन शत्रु से जाकर ॥

(३०)

वाचस्पति की निःशेष हुई जब बानी;
विधि बोले; गर्जन अन्त पड़ें ज्यों पानी।
हे देव ! तुम्हारा काम सफल सब भाँती;
पर, स्वयं रचूँगा मैं न तारकाराती ॥

(३१)

यह उसे हमी से मिला विभव-विस्तारा,
फिर, कैसे उसका करें हमी संहारा ?
विष-पादप भी यदि बड़ा किया जाता है,
उस पर भी नहीं कुठार दिया जाता है ॥

(३२)

उसने तप अतिशय घोर किया मनमाना,
मुँहमाँगा हमने दिया उसे वरदाना।
अतएव, छोड़ शिव-अंश, अन्य बलवाना,
सह सकता उसका नहीं एक भी बाणा ॥

(३३)

वे परम ज्योतिमय देव तमोगुण-हीन,
जानैं गति उनकी विष्णु और हम भी न।
उनका मन तप में लीन, उमा के द्वारा,
तुम खींचौ, खींचै अयस्कान्त* ज्यों सारा† ॥

(३४)

तेजोमय शिव का बीज रिपुक्षय-कारण,
कर सकती केवल एक उमा ही धारण।
तत्सुत बन सेनाधीश बलिष्ठ तुम्हारा,
खोलैगा बन्दी-देववधू-कच-भारा ॥

* अयस्कात = चुम्बक।
† सारा = लोहा।

(३५)

इस भाँति, इधर, कह, हुए लोप लोकेश,
सुर गये, उधर, सुरलोक, सहित देवेश।
सुरपति ने जाके वहाँ, विदाकर सुरगण,
मन ही मन चिन्तन किया काम का तत्क्षण।।

(३६)

चाप, रम्य रमणी की अति ही बांकी भृकुटी-लता समान,
रतिकङ्कण-अङ्कित स्वकण्ठ में सज्जित कर, सौन्दर्य-निधान।
सखा वसन्त-हाथ में देकर आम्रमञ्जरी-रूपी बाण,
आया, तब, सम्मुख सुरेश के, प्रणत पुष्पधन्वा बलवान।।

इति द्वितीय सर्ग।

तृतीय सर्ग*

(१)

सारे देववृन्द से खिचकर देवराज के नयन हजार,
कामदेव पर बड़े चाव से आकर पड़े एक ही बार।
अपने सब सेवक समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार,
प्रायः घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार।।

(२)

"सुख से बैठो यहाँ मनोभव!"—इस प्रकार कर वचन-विकाश,
आसन रुचिर दिया सुरपति ने अपने ही सिंहासन-पास।
स्वामी की इस अनुकम्पा का अभिनन्दन कर शीश झुकाय,
रतिनायक, इस भाँति, इन्द्र से बोला उसे अकेला पाय।।

(३)

सबके मन की बात जानने में अति निपुण! प्रभो! देवेश!
विश्व बीच कर्तव्य कर्म्म तव क्या है मुझे होय आदेश।
करके मेरा स्मरण, अनुग्रह दिखलाया है जो यह आज,
उसे अधिक करिए आज्ञा से—यही चाहता हूँ सुरराज!

---

*इस सर्ग की कथा बहुत ही मनोहर है; इसलिए, हमने इसका पूरा अनुवाद किया है।

(४)

इन्द्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमें ? मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच-कुसुमसायक-धारी,
अभी बना लेवै तत्क्षण ही उसको निज-आज्ञाकारी ॥

(५)

जन्म-जरा-मरणादि दुःख से होकर दुखित कौन ज्ञानी,
तव सम्मति-प्रतिकूल गया है मुक्तिमार्ग में अभिमानी ?
भृकुटी-कुटिलकटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुरबाला,
बाँ डाल रक्खै; वैसे ही पड़ा रहै वह चिरकाला ॥

(६)

नीति शुक्र से पढ़ा हुआ भी है यदि कोई अरि तेरा,
पहुँचै अभी पास उसके झट दूत रागरूपी मेरा।
जल का ओघ नदीतट दोनों पीड़ित करता है जैसे,
धर्म, अर्थ—दोनों ही उसके पीड़न करूँ कहो तैसे ॥

(७)

महापतिव्रतधर्म्मधारिणी किस नितम्बिनी* ने अमरेश !
निज चारुता दिखाकर तेरे चञ्चल चित में किया प्रवेश।
क्या तू यह इच्छा रखता है, कि वह तोड़ लज्जा का जाल
तेरे कंठदेश में डालै आकर अपने बाहु-मृणाल ?

(८)

समझ सुरत-अपराध, कोपकर, किस तरुणी ने हे कामी !
तुझे तिरस्कृत किया, हुआ तव शीश यदपि तत्पदगामी।
उग्रताप से व्याकुल होकर वह मन में अति पछतावै;
पड़ी रहै पल्लवशय्या पर, किये हुए का फल पावै ॥

(९)

मुदित हूजिए वीर ! वज्र तव करै अखंडित अब विश्राम;
बतलाइए, देवताओं का वैरी कौन पराक्रम-धाम।
मेरे शरसमूह से होकर विफल-बाहुबल कम्पितगात,
अधर कोप-विस्फुरित देखकर, डरै स्त्रियों से भी दिनरात ॥

---

* नितम्बिनी = स्त्री।

(१०)

हे सुरेश ! तेरे प्रसाद से कुसुमायुध ही मैं इस काल,
साथ एक ऋतुपति को लेकर, और प्रपञ्च यहीं सब डाल।
धैर्य्य पिनाकपाणि हर का भी, कहिए, स्खलित करूँ देवार्थ,
और धनुष धरनेवाले सब मेरे सम्मुख तुच्छ पदार्थ !

(११)

पादपीठ को शोभित करते हुए इन्द्र ने, इतने पर,
जंघा से उतार कर अपना खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित-विषय में सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा,
उससे, अति-आनन्द-पूर्वक, समयोचित, इस भाँति कहा ॥

(१२)

सखे ! सभी तू कर सकता है; तेरी शक्ति जानता हूँ,
तुझको और कुलिश को ही मैं अपना अस्त्र मानता हूँ।
तपोबली पुरुषों के ऊपर वज्र व्यर्थ ही जाता है,
मेरा तू अमोघ साधन है; सभी कहीं तू जाता है ॥

(१३)

तेरा बल है विदित; तुझे मैं अपने तुल्य समझता हूँ,
बड़े काम में इसी लिए ही तुझे नियोजित करता हूँ।
देख लिया जब यह, कि शेष ने सिर पर भूमि उठाई है,
तभी विष्णु ने उस पर अपनी शय्या सुखद बनाई है ॥

(१४)

यह कह कर, कि सदाशिव पर भी चल सकता है शर तेरा,
मानौं अंगीकार कर लिया काम ! काम तूने मेरा।
यही इष्ट है; क्योंकि, शत्रु अब अति उत्पात मचाते हैं,
यज्ञभाग भी देववृन्द से छीन छीन ले जाते हैं ॥

(१५)

जिसके औरस पुत्ररत्न को करके अपना सेनानी,
सुर विजयी होना चहते हैं, मार असुर सब अभिमानी।
वही महेश समाधिमग्न हैं; पास कौन जा सकता है ?
तेरा विशिख तथापि एकही कार्य्य-सिद्धि कर सकता है ॥

(१६)

ऐसा करौ उपाय जायकर, हे रतिनायक बड़भागी !
हों जिससे पवित्र गिरिजा में योगीश्वर हर अनुरागी।
उनके योग्य कामिनी-कुल में वही एक गिरि-बाला है,
सत्यवचन ब्रह्मा ने अपने मुख मे यही निकाला है ॥

(१७)

जहाँ हिमालय ऊपर हर ने तप-लीला विस्तारी है,
गिरिजा वहीं पिता की अनुमति से सेवार्थ सिधारी है।
यह संवाद अप्सराओं से सुन पाया मैंने सारा;
भेद जान लेता हूँ सबका सदा इन्हीं के ही द्वारा ॥

(१८)

अतः सुरौं की कार्यसिद्धि के लिए करौ अब तुम प्रस्थान,
इसे करैगी सफल उमा ही; इसमें कारण वही प्रधान।
तू भी है तथापि इस सबका हेतु अपेक्षाकृत बलवान,
उग आने के पहले, आदिम अंकुर के जलदान समान ॥

(१९)

सकल सुरौं की विजय-कामना के उपाय हैं हर, उन पर,
शर तेरे ही चल सकते हैं; बड़भागी है तू अतितर।
अप्रसिद्ध भी कार्य, और से हो सकता जो कभी नहीं,
उसके भी करने में यश है; यह तो विश्रुत सभी कहीं ॥

(२०)

ये सब सुर तेरे याचक हैं; गति नकी कुण्ठित सारी,
है तीनौं लोकौं का मन्मथ ! कार्य महामंगलकारी।
तव धन्वा के लिए कर्म्म यह नही निपट घातक भारी,
तेरे तुल्य न वीर और है; अहो विचित्र-वीर्यधारी !

(२१)

ऋतुनायक तेरा सहचर है सदा साथ रहनेवाला,
बिना कहे ही तुझको देगा वह सहायता, इस काला।
"शिखा अग्नि की बढ़ा दीजिए हे समीर ! जीवनदाता" !
भला पवन से क्या कोई भी इस प्रकार कहने जाता ?

(२२)

एवमस्तु कह कर, स्वामी के अनुशासन को अति-अभिराम,
मालावत मस्तक ऊपर रख सादर, चला वहाँ से काम।
ऐरावत की पीठ ठोकने से कर्कश कर को स्वच्छन्द,
सुरपति ने उसके शरीर पर फेरा कई बार सानन्द॥

(२३)

प्रिय वसन्त, प्रियतमा प्राणसम रति भी, दोनौं निपट सशङ्क,
मन्मथ के अनुगामी होकर, चले साथ उसके सातङ्क।
"मैं अवश्य सुरकार्य करूँगा, चाहे हो शरीर भी नाश",
यह दृढ़ कर, हिमशैल-शृङ्ग पर गया अनङ्ग शिवाश्रम-पास॥

(२४)

उस आश्रमवाले अरण्य मे थे जितने संयमी मुनीश,
उनके तपोभङ्ग में तत्पर हुआ वहाँ जाकर ऋतु-ईश।
मन्मथ के अभिमानरूप उस मधु* ने अपना प्रादुर्भाव,
चारौं ओर किया कानन में; दिखलाया निज प्रबल प्रभाव॥

(२५)

यक्षराज† जिसका स्वामी है उसी दिशा की ओर प्रयाण,
करते हुए देख दिनकर को, उल्लङ्घन कर समय-विधान।
मन में अति दुःखित-सी होकर, हुआ समझ अपना अपमान,
छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास-समान॥

(२६)

कामिनियों के मधुर-मधुर-रवकारक-नव-नूपुर-धारी-
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी॥
गुद्दे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण, महा-मनोहारी,
कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी॥

(२७)

कोमल पत्तो की बनाय, झट पक्षपंक्ति लाली लाली,
आममञ्जरी के प्रस्तुत कर नये विशिख शोभाशाली।
शिल्पकार ऋतुपति ने उन पर मधुप मनोहर बिठलाये,
काम-नाम के अक्षर मानौं काले काले दिखलाये॥

---

* मधु = वसन्त। † यक्षराज = कुबेर।

(२८)

रहती है यद्यपि कनेर में रुचिर रंग की अधिकाई,
तदपि सुवासहीनता उसके मन को हुई दुःखदाई।
वही विश्वकर्ता करता है जो कुछ जी में आता है,
सम्पूर्णता गुणों की प्रायः कहीं नहीं प्रकटाता है ॥

(२९)

बालचन्द्र सम जो टेढ़ी है, जिनका अब तक नहीं विकाश,
ऐसी अरुणवर्ण कलियों से अतिशय शोभित हुआ पलाश।
मानौं नव-वसन्त-नायक ने, प्रेम विवश होकर, तत्काल,
वनस्थली को दिये नखौं के क्षतरूपी आभरण रसाल ॥

(३०)

नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलक फूल को तिलक समान,
देकर मधुपमालिकारूपी मृदु कज्जल शोभा की खान।
जैसा अरुण रंग होता है बालसूर्य में प्रातःकाल,
तद्वत नवल-आमपल्लव-मय अपने अधर बनाये लाल ॥

(३१)

रुचिर चिरौंजी के फूलौं की रज जो उड़ उड़ कर छाई,
हरिणौं की आँखों में पड़कर, पीड़ा उसने उपजाई।
इससे, वे अन्धे से होकर, मरमरात पत्तेवाले,
कानन में, समीरसम्मुख, सब भागे मद से मतवाले ॥

(३२)

आममञ्जरी का आस्वादन कोकिल ने कर बारम्वार,
अरुणकण्ठ से किया शब्द जो महा मधुरता का आगार।
"हे मानिनी कामिनी ! तुम सब अपना मान करौ निःशेष",
स प्रकार मन्मथ-महीप का हुआ वही आदेश विशेष ॥

(३३)

जिनके अधर निरोग हो गये हिम पड़ना मिट जाने से,
जिनकी मुख छवि पीत हो गई कुंकुम के न लगाने से।
ऐसी किन्नर-कामिनियों के तन में स्वेदबिन्दु, सुन्दर,
रुचिर-पत्ररचना के ऊपर, शोभित हुए, प्रकट होकर ॥

(३४)

शिव-आश्रम के आस पास थे जितने मुनिवर वनवासी,
असमय में ही देख आगमन ऋतुपति का मायाराशी।
सहसा अति गुरुतर विकार का, कई बार, खाकर झोंका,
किसी प्रकार उन्होंने अपना विचलित-चित्त-वेग रोका॥

(३५)

पुष्पशरासन पर चढ़ाय शर, उस प्रदेश में जब रतिनाथ,
पहुँचा निज सहधर्म्मचारिणी रति को लेकर अपने साथ।
जितने थे स्थावर, जङ्गम, सब, आतुरता-वश, बारंबार,
रति-सूचक-शृंगार-भावना करने लगे अनेक प्रकार॥

(३६)

फूलरूप एक ही पात्र में भरा हुआ मीठा मकरंद,
भ्रमरी के पीने के पीछे, पिया भ्रमरवर ने स्वच्छंद।
छूने से जिस प्रिया मृगी ने सुखवश किये विलोचन बन्द,
एक सींग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानन्द॥

(३७)

गजिनी ने मुख में रख कर जल पङ्कज रज-सुवासवाला,
रस के वश होकर, फिर, उसको निज गज के मुख में डाला।
आधे खाये हुए कमल के मंजुल-तन्तुजाल देकर,
चक्रवाक ने किया प्रिया का आदर, अनुरागी होकर॥

(३८)

ऊँचे स्वर से गान समय में, प्रचुर परिश्रम होने से,
कुछ कुछ बिगड़ गई जिस मुख पर पत्रावली पसीने से।
पुष्पासव पीने से जिस पर घूम रहे दृग अरुणारे,
रसिक-किन्नरों ने पत्नी का चूमे मुख ऐसे प्यारे॥

(३९)

फूले हुए नवल फूलों के गुच्छेरूपी कुचवाली,
हैं चञ्चल-पल्लव ही जिनके अधर मनोहरताशाली।
ऐसी ललित लता-ललनाओं से तरुओं ने भी पाया,
झुकी हुई शाखाओं के मिष भुजबन्धन अति मन भाया॥

(४०)

चतुर अप्सराओं का, इस क्षण, सुन कर भी मंजुल गाना,
आत्मा का चिन्तन ही करते रहे महेश्वर भगवाना।
जिन महानुभावों के वश में अपना मन हो जाता है,
तपोविघातक विघ्न कभी भी उनके पास न आता है ॥

(४१)

लिये हुए थे वाम हस्त मे अति अभिराम हेम का दण्ड,
लताभवन के भव्य द्वार पर गया हुआ नन्दी उद्दण्ड।
मुख पर उँगली रख, संज्ञा से, बोला ऐसे वचन विशेष :—
"हे गणवृन्द ! करौ न चपलता; मानौ तुम मेरा आदेश ॥"

(४२)

कम्पहीन सब हुए महीरुह; निश्चल हुए मधुप-समुदाय;
मूक हुए खग; शान्त हुए मृग, अपना आवागमन भु
वह सारा अरण्य नन्दी का दुर्विलंघ्य अनुशासन पाय,
तत्क्षण ही होगया चित्रवत, स्वाभाविक भी नियम विहाय ॥

(४३)

यात्रा मे सम्मुख पड़ता है जहाँ शुक्र, उस देश-समान,
दृष्टि बचाय नन्दिकेश्वर की, बड़े बड़े कर यत्न-विधान।
सुरपन्नाग-वृक्ष की शाखा फैलीं थीं जिस पर सविशेष,
शङ्कर के समाधि-मण्डप में रतिनायक ने किया वेश ॥

(४४)

पावन देवदारु तरुवर की विशद वेदिका सुखदायी,
शार्दूल के चिर-चर्म से भलीभाँति जो थी छाई।
योगमग्न त्रिनयन को बैठे हुए वहीं उसके ऊपर,
शीघ्र-शरीर-छोड़नेवाले मनसिज ने देखा जाकर ॥

(४५)

तन का भाग ऊपरी स्थिर था; वीरासन मे थे शङ्कर,
वे विशेष, सीधे भी थे; पर कन्धे थे विनम्र अतितर।
उलटे रक्खे देख पाणियुग, मन में ऐसा आता था;—
खिला कमल उनकी गोदी में मानौ शोभा पाता था ॥

(४६)

लिपटाकर भुजङ्गवर, ऊँचा जटा-कलाप बनाया था,
दोनों कानों में द्विगुणित कर अक्षमाल लटकाया था।
कृष्णसार मृग-चर्म्म उन्होंने, गाँठ बाँध, लिपटाया था,
कण्ठ-कालिमा ने कालापन उसका बहुत बढ़ाया था ॥

(४७)

जो किञ्चित ही भासमान थे; जिनकी अचल उग्र तारा,
और, जिन्होंने भुला दिया था भृकुटी का विलास सारा।
पलक-जाल जिनके निश्चल थे; किरण अधोमुख पड़ते थे,
ऐसे नयनो से नासा की नोक महेश देखते थे ॥

(४८)

वारिद-वृन्द बिना वर्षा के जैसे शोभा पाता है,
बिना लोल कल्लोल*-कला के जैसे सिन्धु दिखाता है।
बिना वायुवाले मन्दिर में कम्पहीन दीपक जैसे,
अन्त र्गत-मारुत-निरोध से शम्भु हो रहे थे तैसे ॥

(४९)

विमल ज्योति की छटा शीश से, होकर उदित, निकलती थी;
निकल, तीसरे दृग के पथ से जो सब ओर फैलती थी।
उससे, मृदुल-मृणाल-तन्तु की माला से भी कोमलतर,
बालचन्द्रमा की शोभा को म्लान कर रहे थे शङ्कर ॥

(५०)

त्रिगुण तीन द्वारों मे मन का आवागमन रोक, ईशान·
वश में कर उसको समाधि, से, दे हृदयारविन्द में स्थान ॥
जिसको अविनाशी कहते हैं बड़े बड़े विज्ञान-निधान,
उस आत्मा को वह अपने में देख रहे थे करके ध्यान ॥

(५१)

मन से भी जिनकी न घर्षणा हो सकती है किसी प्रकार,
ऐसे दुराधर्ष त्रिनयन को देख समीप भाग से मार।
वह, यह सका न जान, तनिक भी, शिथिलित-कर होकर, डर से,
शर भी, और शरासन भी, कब खिसक पड़े उसके कर से ॥

---

* कल्लोल = लहर।

(५२)

तदुपरान्त; निज सुन्दरता से, मन्मथ का प्राय: निःशेष,
हुआ वीर्य, पुनरुज्जीवित-सा फिर से करती हुई विशेष।
साथ लिये वन की दो देवी, धरती हुई शम्भु का ध्यान,
हुई नयनगोचर गिरिकन्या गिरिजा गुण-गौरव की खान।।

(५३)

जिसके नव-अशोक फूलौ ने पद्मराग-छवि छीन लिया,
जिसके कर्णिकार कुसुमो ने स्वर्णवर्ण दुर्वर्ण किया।
जिसके निर्गुण्डी के गुच्छे हुए मोतियों की माला,
वही वसन्त-पुष्प के गहने पहने थी वह गिरिबाला।।

(५४)

अति उत्तुङ्ग-उरोज-भार से वह कुछ नम्र दिखाती थी,
बालसूर्य-सम लाल वस्त्र से ऐसी शोभा पाती थी।
प्रचुर-पुष्प-गुच्छों से झुक कर नये नये पल्लववाली,
चलती है, भूतल पर, मानौ ललित-लता लाली लाली।।

(५५)

अच्छे बुरे स्थान के ज्ञाता चतुर मनोभव के द्वारा,
रक्खी गई धनुष की अन्या डोरी सम शोभा सारा।
कटि-करधनी बकुल-फूलौं की ढीली हो हो जाती थी;
उसको वह अपने नितम्ब पर बार बार हटाती थी।।

(५६)

परम-सुगन्धवती श्वासौं से बढ़ी हुई तृष्णावाले,
बिम्बाधर के पास, मधुप जो आते थे काले काले।
इससे, वह दृग चञ्चल करके, क्षण क्षण में घबडाती थी,
और खेल के कमल फूल से उनको दूर उड़ाती थी।।

(५७)

काम-कामिनी* को भी लज्जित करनेवाली बारबार,
उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी को कर लोचन-गोचर भले प्रकार।
अति दुर्जय, अति-अगम जितेन्द्रिय, शूलपाणि शिव के स्वाधीन,
अपने कार्यसिद्धि की आशा मनसिज को फिर हुई नवीन।।

---

* काम-कामिनी = रति।

(५८)

होनहार निज पति शङ्कर का तपोभवन जो था सुन्दर,
उसके परम पवित्र द्वार पर शैलसुता पहुँची जाकर।
अन्तर्गत परमात्मासञ्ज्ञक तेज पुञ्ज विलोकन कर,
प्रखर-योग-साधक-समाधि से विरत शम्भु भी हुए उधर॥

(५९)

जिनके आसन के नीचे के भूमिभाग को सर्पाधीश,
फण-सहस्र पर बड़े यत्न से, रक्खे रहा लगाये शीश।
वे महेश निज प्राणवायु को धीरे धीरे, युक्तिसमेत,
छोड, निबिड योगासन अपना शिथिलित करके, हुए सचेत॥

(६०)

"महाराज! गिरिवर की कन्या सेवा करने है आई"—
शीश नाय नन्दी ने उनसे कही बात यह सुखदाई।
स्वामी के भ्रूभंग-मात्र से जब उसने निदेश पाया;
गिरिजा को सत्कार-सहित वह उनके सम्मुख ले आया।

(६१)

तोड़े हुए हाथ से अपने, महा मनोहरता के मूल,
पत्तों के टुकड़े युत, नूतन, शिशिरान्तक वसन्त के फूल।
गिरिजा की दोनौं सखियों ने, विधिवत करते हुए प्रणाम,
शिव के पैरों पर बिथराये, जोड़ पाणिपकज छबिधाम।

(६२)

नील अलक में शोभित नूतन कर्णिकार-कलिका सुन्दर,
देह झुकाते समय गिराती हुई महीतल के ऊपर।
कानो के पल्लव टपकाती, मस्तक निज नीचे रख कर,
किया उमा ने भी, तदनन्तर, शंकर को प्रणाम सादर॥

(६३)

"पावै तू ऐसा पति जिसने देखी नही अन्य नारी"—
यह सच्ची आशीष ईश ने दी उसको सब सुखकारी।
महामहिमपुरुषों के मुख से वचन निकल जो जाता है,
विश्व बीच विपरीत भाव वह कभी नही दरसाता है॥

(६४)

जलती हुई आग में गिरने के इच्छुक पतङ्ग-सम मार,
बा छोड़ने का शुभ अवसर आया है यह कर सुविचार।
गिरिजा के समक्ष शंकर को लक्ष्यीकृत कर भले प्रकार,
अपने धन्वा की प्रत्यञ्चा तानी उसने बारम्बार॥

(६५)

मन्दाकिनी नदी ने जिसको निज जल में उपजाया है,
दिनकर ने अपनी किरणों से जिसे विशे सुखाया है।
वह सरोज-बीजों की माला, अरुण-वर्ण कर में लेकर,
गिरिश तपस्वी को गौरी ने अर्पण की सुन्दर सुन्दर॥

(६६)

प्रिय होगा प्रेमिणी उमा को इसके लेने का व्यापार,
यह विचार कर उस माला को शिव ने इधर किया स्वीकार।
संमोहन-नामक अमोघ शर निज निषङ्ग से उधर निकाल,
कुसुम-शरासन पर, कौशल से, मन्मथ ने रक्खा तत्काल॥

(६७)

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश-समान,
कुछ कुछ धैर्य्यहीन होकर के, संयमशील शम्भु भगवान।
लगे देखने निज नयनों से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरिजा का बिम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह॥

(६८)

खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गो-द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनों से भ्रमिष्ट सी, वहीं, देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतरु आनन तिरछा करके खड़ी रही॥

(६९)

महा जितेन्द्रिय थे; इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रियक्षोभ का बलपूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यों? इसका हेतु जानने को सत्वर,
चारौं ओर सघन कानन में प्रेरित किये विलोचन वर॥

(७०)

नयन दाहिने के कोने मे मुट्ठी रक्खे हुए कठोर,
कन्ध झुकाये हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाये हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को स विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल॥

(७१)

जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभंग हो जाने मे,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से।
उन हर के, तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला॥

(७२)

"हा हा ! प्रभो ! क्रोध यह अपना करिए करिए करिए शान्त"—
इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करें नितान्त।
तब तक हर* के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष॥

(७३)

अति दारुण विपत्ति के कारण महामोह का हुआ विकाश,
उसने रति के न्द्रियगण की नियत वृत्ति का किया विनाश।
प्रियतम पति की विषम दशा का क्षणभर उसको रहा न ज्ञान;
उस अबला पर हुआ, इसी मिष, मानों यह उपकार महान॥

(७४)

तरुवर के टुकड़े करता है भीषण वज्रपात जैसे !
तप के विघ्नरूप मनसिज का देह-भंग करके तैसे।
नारी के नैकट्य-त्याग की इच्छा से, सब भूत लिये,
भूतनाथ, अपने आश्रम से, तत्क्षण अन्तर्धान हुए॥

---

*मूल श्लोक में, यहाँ पर, कालिदास ने 'भव' शब्द का योग किया है। भव महादेव का नाम है; और भव, जन्म (उत्पत्ति) को भी कहते हैं; अतः इस अवसर पर हमारे मत के अनुसार, संहारवाची शंकर का दूसरा नाम 'हर' याद आता तो अधिक सुयुक्तिक होता। —अनुवादक

(७५)

अपनी ललित-शरीर-लता भी, उच्च पिता का भी अभिलाष,
व्यर्थ समर्थन कर दोनों को, मन में होती हुई हताश।
सखियों ने भी देख लिया सब इस दुर्घटना का व्यापार!
अतः अधिक लज्जित होकर, घर गई उमा भी, किसी प्रकार॥

(७६)

कुपित रुद्र के भय से अपनी आँख बन्द करनेवाली,
दयायोग्य कन्या को हाथों पर रख गिरिवर बलशाली।
लिये कमलिनी को दाँतों पर सुरगज सम शोभाधारी,
देह बढ़ाता हुआ वेग से, हुआ शीघ्र ही पथचारी* ॥

॥ इति तृतीय सर्ग ॥

चतुर्थ सर्ग

(१)

विवश चेतना-हीन, विकल, विह्वल, बेहाला,
पड़ी रही कुछ काल कुसुम-शायक की बाला।
देने को वैधव्य-वेदना अतिशय दुस्तर,
जागृत उसको किया वाम-विधि ने तदनन्तर॥

(२)

किया नयन-निःक्षेप व्यथित रति ने जब उठकर,
दृग्गोचर कर सकी न वह पति-रूप मनोहर।
"जीते हो हे नाथ!" वचन यह कह विषाद-कर,
देखी पुरुषाकार भस्म उसने भूतल पर॥

(३)

तब रती पर लोट, कुचों पर धूल लगाये,
देह दशा को भूल, अखिल अलकें बिखराये।
सारे वन को दुखित बनाती हुई दुखारी,
करने लगी विलाप पञ्चशायक की प्यारी॥

---

* पथचारी-मार्गानुसरण करनेवाला, मार्ग में संचार करनेवाला।

(४)

जो यह तेरा गात मनोहरता की राशी,
उनका था उपमान सदा जो सुघर विलासी।
उसकी ऐसी दशा हुई ! फटती नहिं छाती ! !
हाय हाय अति-कठिन निंद्य नारी की जाती ! ! !

(५)

नव-नलिनी को नीर छोड़ जाता है जैसे,
कहाँ गया हे नाथ ! छोड़ मुझको तू तैसे ?
किया नहीं प्रतिकूल कभी कुछ मैंने तेरा,
फिर क्यों देता नही दरस रोदन सुन मेरा ?

(६)

हुआ स्मरण क्या तुझे करधनी से निज-बन्धन ?
अथवा प्रणय-विशिष्ट कमल-कलिका से ताड़न ?
"हृदय बीच तव वास"—कथन यह कपट तुम्हारा,
क्योंकि, अतनु तुम हुए; तदपि तनु बना हमारा ।।

(७)

अपर-लोक तुम गये नये ही हे प्रिय मेरे !
निश्चय ही मैं नाथ ! निकट आउँगी तेरे।
वञ्चित हुआ परन्तु जगत यह विधि के द्वारा,
तेरे ही आधीन सौख्य इसका था सारा ।।

(८)

निबिड़-निशा में, नित्य, नगर-गलियों के भीतर,
घन-गर्जन-भयभीत सुलोचनियों को, सत्वर।
निज निज प्रिय के गेह, स्नेह वर्द्धित कर, प्यारे !
पहुँचावेगा हाय ! कौन अब बिना तुम्हारे ?

(९)

कामिनियों के लिए मधुर मदिरा मुददायी,
विडम्बना है, बिना तुम्हें अब बनी बनाई।
नाम-शेष सुन तुम्हें शशी अति पछतावेगा,
शुक्ल-पक्ष में भी न वृद्धि सुख से पावेगा ।।

(१०)

लाल तथा कुछ हरे चारुतर-बन्धन-धारी,
कोकिल-कल-विज्ञात, लोक-लोचन-सुखकारी।
ऐसे नवल रसाल-फूलते अद्भुत शायक,
ग्रहण करैगा कौन? कहो प्रिय हे मम नायक!

(११)

मधुकर-पंक्ति मनोज! जिसे तूने अपनाया,
प्रत्यञ्चा बहु बार नुष की जिसे बनाया।
वनस्थली को आज करुण-रव से भरती है,
मुझको दुःखित देख, रुदन-सा वह करती है॥

(१२)

धारण कर तनु चिर, उठौ; मुख मुझे दिखावौ,
रति-योजक-उपदेश पिकौं को नाथ! सुनावौ।
स- णाम स-विकम्प सुरत-याचन वह तेरा,
सोच सोच कर, धैर्य्य नाश होता है मेरा॥

(१३)

हे रति-कला-प्रवीण! कुसुम वासन्तिक लेकर,
तुमने किये मदर्थ स्वयं जो आभूषण-वर।
अङ्ग अङ्ग में उन्हें किये हूँ अब तक धारण,
किन्तु देखती नहीं देह तव उनका कारण!

(१४)

यावक-रस मम वाम पाद में, आय, लगावौ,
असम्पूर्ण ही छोड़ गये तुम उसको; आवौ।
अथवा सुर-सुन्दरी तुम्हें जब तक न लुभावैं,
तब तक सुरपुर हमीं, अनल में जलकर, आ ॥

(१५)

"रति मनसिज के बिना रही पल भर भी जीवित—"
हे मम जीवित-नाथ! कहेंगे यही सभी नित।
यद्यपि तनु तज, अभी तुम्हें फिर अङ्क भरूँगी,
इस कलङ्क को दूर तदपि किस भाँति करूँगी?

(१६)

शोक ! शोक !! हा शोक !!! अहो परलोक-निवासी !
अन्त्य कृत्य तक नहीं कर सकै है यह दासी।
अवितर्कित गति हुई हाय ! तेरी हे स्वामी !
जीवन भी तव गया; गया वह तनु भी नामी !

(१७)

गोदी में रख चाप, अहह हे हृदय-विहारी !
सीधा करते हुए विशिख त्रिभुवन-वशकारी।
तुमने ऋतुपति सङ्ग किये जो कथन रसीले,
सब आते हैं स्मरण; नहीं हैं मुझको भूले ॥

(१८)

तव हृदयङ्गम सखा सुमन-धन्वा का दाता,
कहाँ गया ऋतुराज ? नहीं वह मुझे दिखाता।
क्या उसको भी कुपित शम्भु ने दोषी पाया ?
जो गति तेरी हुई उसी गति को पहुँचाया ?

(१९)

ये विलाप के वचन लगे ऋतुपति को ऐसे,
लगते हैं विष-बाण हृदय के भीतर जैसे।
समझाने के लिए रूप उसने प्रकटाया,
आतुर रति के निकट वहाँ वह तत्क्षण आया ॥

(२०)

रति ने, उसको देख, अश्रु की धार बहाई,
पीड़ा भी, उर पीठ उरोजों को पहुँचाई।
निज-जन-सम्मुख दुःख बहुत ही बढ़ जाता है,
वह, कपाट से तोड़, निकल बाहर आता है ॥

(२१)

बोली वह स भाँति, महा-शोकाकुल बानी,
हे वसन्त ! यह देख मित्र की बची निशानी।
रज में परिणत हुआ पड़ा वह दिखलाता है,
पवन इधर से उ र उसे अब बिखराता है !

(२२)

हे मन्मथ ! हे मदन ! आय अब दर्शन दीजै,
उत्सुक यह ऋतुराज, अनुग्रह इस पर कीजै ।
नारी में नर-प्रेम सर्वदा चल रहता है,
किन्तु मित्र में अचल,—यही सब जग कहता है ॥

(२३)

चाप-रज्जु के लिए कमल के तन्तु मनोहर,
तथा शरों के लिए फूल अति कोमल देकर ।
स सहचर ने विश्व सुरासुर-पूरित-सारा,
वशीभूत, सब भाँति, कर दिया नाथ ! तुम्हारा ॥

(२४)

गया सखा तव, दीप पवन से ज्यों जाता है,
बत्ती-सी मैं रही; चित्त अति अकुलाता है ।
पति-वध ही विधि ने न, किया मम वध भी उसने,
आश्रय-विटप-विहीन लता देखी है किसने ?

(२५)

निशा शशी के सङ्ग, दामिनी घन के जाती,
सङ्ग-गमन की रीति जड़ों में भी दिखलाती ।
हे वसन्त ! अतएव कृपा करिए यह मुझ पर,
प्राणनाथ के पास भेजिए मुझे भस्म कर ॥

(२६)

पति-तनु की रज रुचिर कुचों से मैं लिपटाऊँ,
पल्लव-तल्प समान अनल की सेज बनाऊँ ।
बहुधा मिला सहाय सुमन-शय्या में तेरा,
प्रस्तुत कर अब चिता; विनय तुझसे यह मेरा ॥

(२७)

फिर मलयानिल छोड़ जलाना मुझको सत्वर,
मेरे बिना मनोज नहीं रह सकता पल भर ।
देना जल की हमें एक ही अञ्जलि सादर;
उसे करेंगे पान वहाँ हम दोनों मिल कर ॥

(२८)

महा मनोहर फूल आम की डालोंवाले,
पल्लव जिनमें लगे मृदुल-तर लाले लाले।
पिण्ड-दान के समय यही रखना मुददायक,
करता है अति प्यार इन्हें मम नागर-नायक ॥

(२९)

शुष्क-सरोवर-मध्य मीन मूर्छित मुरझानी,
होती है ज्यों मुदित पाय पावस का पानी।
मरण-हेतु उद्योगवती, त्यों मनसिज-नारी,
सुनकर प्रमुदित हुई व्योम-वाणी सुखकारी ॥

(३०)

हे रति ! सत्वर तुझे मिलैगा तव मनभाया,
कारण सुन जिस लिए ईश ने उसे जलाया।
उसने विधि का चित्त सुता-अनुरक्त बनाया,
शाप-बद्ध हो, अतः, आज फल ऐसा पाया ॥

(३१)

जब शिव सङ्ग विवाह करैगी शैल-कुमारी,
तब अनङ्ग को अङ्ग-दान देंगे त्रिपुरारी।
ब्रह्मा ने, इस भाँति, शाप की अवधि कही है;
कोप अनन्तर कृपा—बड़ों की रीति यही है ॥

(३२)

विशदवदनि ! इसलिए बना रख यह वपु सुन्दर,
यथा-समय तनु पाय, मिलैगा तेरा प्रियवर।
आतप से जो नदी निर्जला हो जाती है,
पावस में वह नया नीर पुनरपि पाती है ॥

(३३)

छिपे छिपे, इस भाँति, किसी ने वचन सुनाया,
रति का मरण-विचार शिथिलता को पहुँचाया।
ऋतुनायक ने उसे विविध विध तब समझाया;
समयोचित कह कथा, युक्ति से दुःख घटाया ॥

(३४)

तदनन्तर, यौं, दुःख-दलित वह मदन-वधू अति कृशित-शरीर,
करने लगी प्रतीक्षा पति की किसी भाँति धारण कर धीर।
ज्यौं दिन मे उत्पन्न शशि-कला छटा-क्षीण सुन्दरता-हीन,
सुखकर सायङ्काल प्रतीक्षा करती है तनु लिये मलीन ॥

इति चतुर्थ सर्ग

पञ्चम सर्ग*

(१)

सम्मुख ही, उस भाँति, शम्भु ने कामदेव का करके दाह,
कर दी विफल साथ ही उसके, निज विषयक गिरिजा की चाह।
अतः उमा ने रम्य-रूप को धिक्कारा बहु बार लजाय,
वही सुघरता सफल समझिए जो प्रियतम को सकै लुभाय ॥

(२)

जाय समाधि अखण्डित तप का अनुष्ठान करके भारी,
सफल उमा ने करना चाहा अपना रूप मनोहारी।
बिना यह किये कैसे मिलतीं दोनों बातें सुखकारी ?
वैसा प्रेम; और फिर, वैसा मृत्युञ्जय पति त्रिपुरारी ॥

(३)

मेना ने जब सुना कि मेरी कन्या शिव को चहती है;
और उन्हीं के लिए तपस्या, वन में, करने कहती है।
तब मुनियो के कठिन धर्म्म से करती हुई निवारण वह,
बड़े प्रेम से शैलसुता को गले लगा कर बोली यह ॥

(४)

मनमाने घर ही में सुर हैं सुते! उन्हीं की सेवा कर;
कहाँ क्लेशकारी तप ? तेरा कहाँ कलेवर कोमल-तर ?
अति मृदु सिरस-फूल मधुकर का हलका पद सह सकता है,
पक्षी का पद सह सकने की शक्ति वह नहीं रखता है ॥

---

* तृतीय सर्ग के समान इस सर्ग की मूल कविता बहुत ही मनोहारिणी है। इसलिए, इस सर्ग का भी हमने पूरा अनुवाद किया है। —अनुवादक

(५)

माता ने इस भाँति, उमा से कहा सभी कुछ मनमाना,
किन्तु न रुकी तपस्या से वह, व्यर्थ हुआ सब समझाना।
मन का दृढ़ सङ्कल्प, और जल जो नीचे को गिरता है,
कोटि यत्न करने पर भी वह किसका फेरा फिरता है?

(६)

मनोऽभिलाष जाननेवाले गिरिवर से निज अभिलाषा,
एक बार आली के मुख से शैलसुता ने यों भाखा।
"फल मिलने तक, वन में मुझको, तप-निमित्त रहने दीजै,
यही आपसे मैं चहती हूँ, प्यारे पिता कृपा कीजै" ॥

(७)

यह अपने अनुरूप प्रार्थना लगी पिता को अति प्यारी,
दिया निदेश उसी क्षण उसने, मन में मान तोष भारी।
जिस मयूर-मण्डित गिरि ऊपर गौरी तप के लिए गई,
उसको गौरी-शिखर नाम की पावन पदवी मिली नई ॥

(८)

अपनी लोल-लरों से चन्दन-लेप मिटानेवाली माल,
दृढ़-निश्चय धारिणी उमा ने तृण समान तजकर तत्काल।
उच्च-कुचों की कठिनाई से फटा हुआ वल्कल अभिराम,
बाल-सूर्य-सम पीत-वर्ण का बाँधा निशिदिन आठौ याम ॥

(९)

कुञ्चित-कच-कलाप-युत उसके मुख पर थी जो मधुराई,
जटा-जूट रखने पर भी वह रही पूर्ववत ही छाई।
मधुपावली-संग जो शोभा पङ्कज-कलिका पाती है,
सघन-सिवार-सङ्ग में भी वह वैसी ही दिखलाती है ॥

(१०)

क्षण क्षण में रोमांच-कारिणी मूँज-मेखला तिहराई,
व्रत-पालन के लिए उमा ने निज कटि को जो पहनाई।
पहले पहल पहनने से वह हुई बहुत ही दुखदायी,
उसके अति-सुकुमार जघन पर कर दी उसने अरुणाई ॥

(११)

अधरो के रँगने में अपना अतिशय-कोमल कर न लगाय,
कुच-गत-अङ्गराग से अरुणित कन्दुक से भी उसे हटाय।
कुश के अंकुर तोड़ तोड़ कर घाव उँगलियों में उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने वन में आय॥

(१२)

मूल्यवान शय्या के ऊपर निज केशों से कोमल फूल
गिर कर, जिसको चुभते से थे; होते थे पीड़ा का मूल।
वही बिछौने बिन वेदी पर तकिया अपनी बाँह बनाय,
सोई और वहीं बैठी भी तप-साधन मे ध्यान लगाय॥

(१३)

व्रत-पालन में तत्पर उसने "फिर ले लूँगी"—यह मन ठान,
ये दोनौं हीं इन दोनौं को दिये धरोहर-वस्तु समान।
ललित-लताओं को पहले के अपने सब शृङ्गारिक-भाव,
हरिण-नारियों को नयनों को चञ्चलता का सहज स्वभाव॥

(१४)

आश्रम के अनेक पौधों को, आलसता तज, क्लेश उठाय,
बड़ा किया उसने घटरूपी-स्तन का पय स्वयमेव पिलाय।
प्रथम जन्म पाने के कारण जिनका सुत-वात्सल्य विशेष,
पुत्र-शिरोमणि कार्तिकेय भी नही कर सकेंगे निःशे ॥

(१५)

नित्य अञ्जली भर भर पाकर वन के विमल अन्न का दान,
हरिण-यूथ हिल, हुए यहाँ तक गिरिजा में विश्वास-निधान।
कि निज सखी-जन के सम्मुख ही उसने कौतूहल में आय,
उनके अति चञ्चल नयनो से नापे अपने नयन मिलाय॥

(१६)

शुचि-स्नान कर, डाल गले में वर वल्कल शोभाशाली,
हव्य हुताशन को पहुँचाकर, नित्य पाठ करनेवाली।
उस तापसी उमा का दर्शन करने आये मुनि ज्ञानी,
धर्म्म-वृद्ध में वय की लघुता कहीं नहीं जाती मानी॥

(१७)

जन्म-विरोधी जीवों ने भी वैर परस्पर त्याग दिया,
फल-फूलों से अतिथि-जनों का तरुओं ने सत्कार किया।
नवल पर्णशालाओं में अति अमल अग्नि रहने लागी,
हुआ महापावन वह सारा तपवाला वन बड़भागी ॥

(१८)

इतना तप करने पर उसने जी में जब यह अनुमाना,
कि फल मुझे इतने से अब भी नही मिलैगा मनमाना।
देह-मृदुलता की अनपेक्षा करके तब वह सुकुमारी,
करने लगी उसी क्षण से ही तपो-विधान महा भारी ॥

(१९)

घर पर, गेंद खेलने से भी जिसे थकावट हुई विशे,
उसी उमा ने मुनीश्वरों के दुर्गम पथ में किया प्रवेश।
कंचन के कमलों से निर्म्मित था अवश्य गिरिजा का गात,
मृदुता और कठिनता दोनों जिनकी स्वाभाविक विख्यात ॥

(२०)

उस सुहासिनी सिंहकटी ने, ग्रीष्म-काल में, पावक चार,
अपने चारो ओर जलाकर, मध्य-भाग में आसन मार।
करके विजय नेत्र-संहारक किरणों की ज्वाला का जाल,
कटक सूर्य्य-बिम्ब को देखा ऊँचा किये हुए निज भाल ॥

(२१)

दिनकर की मरीचि-माला से महा तप्त हो, उक्त प्रकारं,
उसके मुख-मण्डल ने पाया सरसिज की शोभा का सार।
अति विशाल दोनो नयनो के केवल कोनौ ही के पास,
श्यामलता ने, धीरे धीरे आकर, अपना किया निवास ॥

(२२)

बिना याचना के जो कोई स्वयं सलिल ले आता था,
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा-समय मिल जाता था।
उसे छोड़कर शैलसुता ने और न कुछ मुख में डाला,
वृक्षों के समान आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला ॥

(२३)

रवि-रूपी आकाश-निवासी, महिवासी इन्धनवाला,
इन दोनौं अनलों से उसने अपना तन तपाय डाला।
वर्षा-ऋतु में पहला पानी बरसा जब उसके ऊपर,
तब उसने साथ ही मही के छोड़ी उष्ण भाफ खर-तर ॥

(२४)

प्रथम-वृष्टि के बूँद उमा की बरोनियों पर कुछ ठहरे,
फिर, पीड़ित कर अधर, कूचौं पर चूर चूर होकर बिखरे।
तदनन्तर, सुन्दर त्रिवली का क्रम क्रम से उल्लङ्घन कर,
बड़ी देर में पहुँच सके वे उसकी रुचिर नाभि भीतर ॥

(२५)

वायु-वेग के साथ, निरन्तर, हुई वृष्टि जब महा अपार,
तब भी शैल-शिला-ऊपर वह पड़ी रही छोड़े घर-द्वार।
ऐसे तप की सत्य-साक्षिणी नील-निशाओं ने, बहु बार,
उसे, उस समय, मानौं देखा चपला-रूपी-चक्षु उघार ॥

(२६)

साथ छूट जाने के कारण करुणामय विलापकारी,
चक्रवाक जोड़े को करती हुई कृपा का अधिकारी।
जिनमें पवन-सङ्ग पड़ता था दुख-दायक पाला भारी,
ऐसी पूस-निशायें उसने पानी में काटीं सारी ॥

(२७)

तुहिन-वृष्टि होने से सरसिज जिस सर के थे गये सुखाय,
उसमें, उस गिरिराजसुता ने रात रात भर खड़े बिताय ॥
कम्पित-अधर-पत्र से शोभित अपना मुख-सरोज बिकसाय,
पुनरपि किया प्रफुल्लित मानौं नये नीरजों का समुदाय ॥

(२८)

वृक्षों से जो पीली पत्ती गिर कर नीचे आती है,
उसकी वृत्ति तपश्चर्य्या की सीमा समझी जाती है।
इस प्रकार के जीर्ण पर्ण को भी न पार्वती ने खाया;
इससे उसने नाम 'अपर्णा' इतिहासज्ञों से पाया ॥

(२९)

ऐसी कठिन तपस्या से निज कमल-नाल-सम कोमल गात,
अस्थि-शेष होने तक क्रम क्रम करती हुई कृशित दिन रात।
मुनियों के कठोर अंगों से सञ्चित तप को बारम्बार,
मात किया शैलेश-सुता ने अपने तप से भले प्रकार ॥

(३०)

लिए मंजु मृग-चर्म्म, और, शुचि किंशुक-दण्ड मनोहारी,
जलता-सा वर ब्रह्म तेज से, बातों में प्रगल्भ भारी।
पावन-ब्रह्मचर्य्य-आश्रम की दिव्य-देह का अनुकारी,
एक बार गिरिजा के वन में आया एक जटाधारी ॥

(३१)

भक्ति-भाव-युत शैल-सुता ने पूजा का लेकर सामान,
निज आश्रम से आगे बढ़ कर किया जाय उसका सम्मान।
सब प्रकार से सम होकर भी महा-महिम-जन धर्म्म-निधान,
किसी किसी का, बड़े प्रेम से, करते हैं सत्कार महान ॥

(३२)

विधिवत किये गये आदर का हर्ष-सहित करके स्वीकार,
क्षण भर बैठ और कर पथ के श्रम-समूह का भी परिहार।
कुटिल-कटाक्ष-हीन नयनों से शैलनन्दिनी ओर निहार,
किया यथाक्रम उसने अपने मधुमय वचनों का विस्तार ॥

(३३)

क्या कुश, समिधादिक सब तुझको यहाँ सुलभ दिखलाता है ?
स्नान-योग्य क्या निर्म्मल जल भी इस वन में मिल जाता है ?
बल-बाहर तो नहीं तपस्या करती है हे सुकुमारी ?
क्योंकि, देह यह सब धर्म्मों के साधन में सहायकारी ॥

(३४)

लाक्षा-रस यद्यपि बहु दिन से पाया नहीं तदपि लाले,
न तेरे अधरों की समता भली भाँति करनेवाले।
तुझसे सींची गई लताओं के नव-पल्लव अरुणारे,
क्या अपनी अपनी डालों में क्षेम-कुशल-युत है सारे ?

(३५)

हे नवीन-नीरज-दललोचनि ! निज चञ्चल-लोचन दिखलाय,
तव विलोचनों की समता सी करनेवाले मृग-समुदाय।
प्रेम-सहित, कर-कमलों से कुश छीन छीन कर बारम्बार,
उपजाते तौ नही चित्त में तेरे कोई कोप-विकार ?

(३६)

"रूपवान जन पाप-वृत्ति के नहीं पास भी जाता है—"
इस प्रकार का कथन सर्वथा सत्य मुझे दिखलाता है।
तेरा शील विलोचन करके हे उदार-दर्शनवाली !
मिलता है उपदेश उन्हें भी जो अति अद्भुत तपशाली ॥

(३७)

प्रात सप्त ऋषियों के फेंके फूलों को हँसनेवाले,
अमर-लोक से आये सुरसरि-सलिलों से हे गिरिबाले !
हिम-मण्डित यह शैल हिमालय पावन हुआ नहीं उतना,
तेरे महा अमल-चरितों से अपने वंश-सहित जितना ॥

(३८)

हे अति-विशद-मनोरथवाली ! इस त्रिवर्ग में सबका सार,
एक धर्म्म ही है—यह मेरे मन में आता है सुविचार।
क्योंकि, काम के और अर्थ के चिन्तन से वासना हटाय,
केवल धर्म्म-मार्ग का सेवन करती है तू चित्त लगाय ॥

(३९)

तूने आज किया है मेरा हे गिरिजे ! विशेष सम्मान,
अतः मुझे परकीय तुल्य तू अब मत अपने मन में मान।
विद्वानों का कथन है कि जो हो जावें बस बातें सात,
सुजनों की मित्रता, विश्व में, तो, उतने ही से विख्यात ॥

(४०)

मैं द्विज हूँ; इससे मुझमें है स्वाभाविक चञ्चलताई,
अतः पूछना चहता हूँ मैं एक बात जो मन आई।
क्षमावती ! हे तपस्विनी ! यह मम धृष्टता क्षमा कीजै,
बतलाने के योग्य होय जो तौ मुझको बतला दीजै ॥

(४१)

निज-उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के कुल मे तूने पाई है,
त्रिभुवन की सुन्दरता मानौं तन में आय समाई है।
यह अतुलित ऐश्वर्य और यह मनोमोहिनी त णाई,
तेरा तप होवेगा इससे अधिक और क्या फलदाई ?

(४२)

किसी महादुःसह अनिष्ट से पीड़ित यदि हो जाती हैं,
मानवती महिलायें ऐसे तप में चित्त लगाती हैं।
किन्तु विचार-मार्ग में अपना मन जब मैं दौड़ाता हूँ,
हे कृशोदरी ! तुझमें कोई वैसी बात न पाता हूँ ॥

(४३)

हे सुन्दरि ! यह मधुर मूर्ति तव अपमानादिक योग्य नहीं,
पिता-भवन में मान-हानि भी हो सकती है भला कहीं ?
यह भी सम्भव नहीं कि तुझको कोई कभी सतावैगा,
भीम-भुजङ्ग-शीश की मणि पर निज कर कौन चलावैगा ?

(४४)

वल्कल सदा बुढ़ापे ही मे शोभा को पानेवाला,
आभूषण तज नूतन वय में क्यों तूने तन पर डाला ?
शशी और तारों से शोभित सायङ्काल निशा-नारी,
रवि-सारथी पास जाने की करती है क्या तैयारी ?

(४५)

देव-लोक चहती है, तौ यह निष्फल श्रम-लीला सारी,
तेरा पिता हिमालय ही है देव-भूमि का अधिकारी।
पति पाने की यदि इच्छा है, तो समाप्त कर तप भारी,
ग्राहक नहो, रत्न ही ढूँढ़ा जाता है हे सुकुमारी !

(४६)

उष्ण साँस लेकर पिछला ही कारण तू बतलाती है,
किन्तु बुद्धि मम संशय में फँस फिर भी चक्कर खाती है।
तव प्रार्थना-योग्य इस विस्तृत विश्व में न है कोई वर,
करने पर प्रार्थना भला फिर नहीं मिलैगा वह क्योंकर ?

(४७)

बिना कमल-कुण्डल कपोल तव सूने-से दिखलाते है,
उन पर जो ये लम्बे लम्बे जटा-जाल लहराते हैं।
इनको तुच्छ समझता है जो युवा स्नेह-भाजन तेरा,
वह अवश्य ही वज्र-हृदय है—यही अटल निश्चय मेरा ॥

(४८)

मुनियों के कठोर नियमो से अतिशय कृश होनेवाली,
देह दिवाकर की किरणों से किये हुए काली काली।
दिन में उदित चन्द्र-लेखा-सम गिरिजे! तुझे विलोकन कर,
किस सजीव का हृदय दुःख से हाय! नही होता जर्जर ?

(४९)

कुटिल और काली बरोनियो से जो शोभा पाते हैं,
अवलोकन के समय चपलता करते जो सकुचाते है।
ऐसे इन नयनों के सम्मुख हुआ नही तेरा प्यारा!
निश्चय निज-सौन्दर्य्य-गर्व से ठगा गया वह बेचारा!

(५०)

हे शैलेशनन्दिनी! कब तक किया करेगी श्रम ऐसा ?
ब्रह्मचर्य्य-आश्रम का है गा मेरा भी तप थोड़ा सा।
उसके अर्द्ध भाग से अपनी मनोकामना पूरी कर,
किन्तु मुझे बतला तो किसको करना चहती है तू वर ॥

(५१)

उस द्विज ने आश्रम के भीतर आकर इस प्रकार भाखा,
गिरितनया परन्तु लज्जा-वश कह न सकी निज अ लाषा।
अपने कज्जल-हीन विलोचन उसने केवल ऊँचे कर,
वहीं पासवाली आली को अवलोका उस अवसर पर॥

(५२)

बोली सखी शैलतनया की हे द्विज ब्रह्मचर्य्य- री!
यदि सुनना चहता है, सुन तू सकी कर्म्म-कथा सारी।
धूप न लगै इसलिए कोई कमल-पत्र तानै जैसे,
कहती हूँ क्यों तप का साधक इसने गात किया तैसे॥

(५३)

वरुण, कुवेर और सुरनायक, धर्म्मराज प्रभुताशाली,
कुछ न समझ इन दिक्पालो को यह मन मानवती आली।
काम-नाश करने के कारण जिन्हें न मोहे सुघराई,
ऐसे शिव को किया चाहती है अपना पति सुखदायी ॥

(५४)

अति दुर्धर्ष त्रिलोचन तक जो नही पहुँच पाये उस काल,
उनके हूँ करते ही पीछे फिरना पड़ा जिन्हें तत्काल।
मूर्ति-हीन भी मकरध्वज के वे ही महा विलक्षण बाण,
बड़े वेग से इसके उर में प्रविशे देकर दुःख महान ॥

(५५)

तब से यह निज पिता-सदन में व्यथा काम की सहती थी,
अलकों को ललाट चन्दन से मले हुए ही रहती थी।
विमल-बर्फ की भी अति शीतल सुखद शिलाओ के ऊपर,
सच कहती हूँ, इस बाला का चैन न पड़ती थी क्षण भर ॥

(५६)

किन्नर-कन्याओं को लेकर शम्भु-चरित जब गाती थी,
तब यह आँखों से आँसू की अविरल धार बहाती थो।
अनमिल स्वर गद्गद वाणी से दुःख विशेष बढ़ाती थी,
गान-समय की सखियों को भी, अपने साथ रुलाती थी ॥

(५७)

तीन पहर निशि गत होने पर यदि कुछ निद्रा आती थी,
तौ, फिर, इसकी आँख तनिक में अकस्मात खुल जाती थी।
मन ही मन श्रीकण्ठ-कण्ठ में बाँह डाल, सुख पाती थी,
"हे हर! कहाँ चले?" यह कह कर, चौंक चौंक अकुलाती थी ॥

(५८)

"बड़े बड़े विद्वज्जन तुमको कहते हैं अन्तर्यामी,
फिर, क्यों नही जान लेते हौ मेरा मनोऽभीष्ट स्वामी" ?-
अपने ही कर से शङ्कर का चित्र वनाय हृदयहारी,
उनका उपालम्भ करती थी, इसी भाँति, यह सुकुमारी ॥

(५९)

उनके मिलने की जब इसको मिली न और युक्ति कोई,
ढूँढ़ ढूँढ़ कर हार गई यह, बहुत अवधि इसने खोई।
पाय पिता की अनुमति तब, तज माता तथा सगा भाई,
हम सबको ले, यह तप करने यहाँ तपोवन में आई॥

(६०)

तप के साक्षी तरुवर इसने जितने यहाँ लगाये है,
उन सबमे, इस समय, देखिए फूल और फल छाये हैं।
किन्तु चन्द्रशेखर-सम्बन्धी इसकी अभिलाषा सुखकर,
अंकुर-युत भी नही हुई है, सच कहती हूँ हे द्विजवर!

(६१)

तप से अतिशय कृश यह इसकी देह न देखी जाती है,
सखियों के नयनों से जल की धारा बह बह आती है।
जुती हुई जलती धरती पर सुरपति-सम, वे दुर्लभ हर,
नहीं जानती कब होवेंगे दयावान इसके ऊपर॥

(६२)

शैल-किशोरी का मन पाकर कुछ न सखी ने किया दुराव,
उस साधू को साफ साफ यों सुना दिया सारा सद्भाव।
सुन उसने पूछा गिरिजा से, बिना किये ही हर्ष-प्रकाश,
क्या यह सच कहती है, अथवा करती है मुझसे परिहास?

(६३)

इस प्रकार का प्रश्न श्रवण कर वह तापसी शैल-बाला,
पाणि-सरोरुह की मुट्ठी में धारण किये स्फटिक-माला।
"क्या उत्तर दूँ?" यही देर तक रही सोचती मन ही मन,
किसी भाँति सङ्कोच त्याग कर, बोली, फिर, ये अल्प वचन॥

(६४)

हे वेदज्ञ शिरोमणि! इसने सत्य बात बतलाई है,
दुर्लभ-पद पाने की इच्छा मेरे मन में आई है।
इसी लिए, इस तप-साधन में मैंने चित्त लगाया है;
मनोरथों की सीमा का अन्त किसी ने पाया है?

(६५)

बोला चतुर ब्रह्मचारी तब, हाँ मुझको है विदित महेश,
फिर भी तू उनके पाने की इच्छा रखती है सविशेष !
किन्तु, कदापि नहीं दे सकता तुझको निज अनुमोदन-दान,
क्योंकि, जानता हूँ मैं उनको महा-अमङ्गल-मूल-निधान ॥

(६६)

तुच्छ वस्तु की अभिलाषा में तुझको रत मैं पाता हूँ;
तेरी रुचि-विचित्रता को मैं सोच सोच पछताता हूँ ।
क्योंकर पहले ही, तेरा कर कङ्कण से शोभित होकर,
सहन कर सकैगा सर्पों से लिपटा हुआ शम्भु का कर ?

(६७)

कहाँ वधू का वस्त्र मनोहर अति विचित्र पीला पीला ?
कहाँ रुधिर टपकै है जिससे वह गजराज चर्म्म गीला ?
तू ही समझ देख निज मन में कि यह बात क्या कहता है;
न दोनों का साथ सुन्दरी ! कभी उचित हो सकता है ?

(६८)

अम्बुज बिछे हुए आँगन में जो पद सदा पधारे है,
वहीं जिन्होंने मंजु महावर से स्वचिह्न विस्तारे हैं ।
बिखरे केश मसान भूमि में वे ही आवैं जावैंगे;
मैं क्या इसे शत्रु भी तेरे कभी न युक्त बतावैंगे !

(६९)

भूतनाथ का यदि आलिङ्गन तुझे मिला भी सुकुमारी !
तू ही बता और क्या होगा इससे अधिक हानिकारी ?
हरिचन्दन के योग्य कुचौं को तू अति मलिन बनावैगी,
क्योकि, चिता की भस्म निरन्तर उनमें लग लग जावैगी ॥

(७०)

हे गिरिजे ! उत्तम गजेन्द्र के ऊपर होने योग्य सवार !
शुभ विवाह के पीछे तुझको वृद्ध बैल पर चढ़ा निहार ।
सोहैगी प्रशस्त पुरुषौं के मुख में मन्द मन्द मुसक्यान,
देख आदिही में यह होगी तव विडम्बना महा महान ॥

(७१)

उस भुजङ्ग-भू ण से सङ्गति होने का कर विनय विधान,
शोचनीय गति को पहुँ ची हैं ये दोनों ही, साँची जान ।
एक चन्द्रमा की चटकीली कला मनोहरता की खान,
विश्व-विलोचन-मोद-दायिनी दूजी तू सौन्दर्य-निधान ।।

(७२)

तन कुरूप, दृग तीन विलक्षण, तथा जन्म का भी न ठिकान,
देह-दिगम्बरता से धन का होता है पूरा अनुमान ।
मृगनयनी ! वर में जितने गुण देखे जाते हैं सविशेष,
उनमें से त्रिनयन में सचमुच नहो एक का भी लव-लेश ।।

(७३)

यह अनुचित अभिलाषा मन से बाहर कर हे सुकुमारी !
सुभग मूर्ति सुन्दरी कहाँ तू ? कहाँ अमङ्गल त्रिपुरारी ?
यज्ञ-यूप* की वैदिक विधि से जो पूजा की जाती है,
वध-सूचक ममान की सूली उसे कभी क्या पाती है ?

(७४)

उस द्विज ने इस भाँति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा,
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा ।।
खींच भाल के ऊपर भौहें अति विशाल काली काली,
उसने टेढ़ी की निज आँखें कोनों में लाली लाली ।।

(७५)

कहने लगी कि तू शङ्कर को नहीं भली विधि जानै है,
इसी लिए ही उनको मुझसे तू इस भाँति वखानै है ।
सत्पुरुषों के चरित अलौकिक मूर्ख बुरा बतलाते हैं,
क्योंकि चरित्र-हेतुही उनकी नहीं समझ में आते हैं ।।

(७६)

विपति-नाश अथवा सम्पति का सुख जो सदा मनाते हैं,
वे ही मङ्गल-मयी वस्तु के सेवक देखे जाते हैं ।
जिनकी शरण विश्व, बुध जिनको निरभिला बतलाते हैं,
आशा से दूषित पदार्थ ये उनको नहीं लुभाते हैं ।।

---

* यूप = पशु बाँधने का खम्भ ।

(७७)

यदपि निर्धनी, तदपि सभी धन जन्म उन्हीं से पाते हैं,
लोकनाथ होकर मसान में वे नित रहने जाते हैं।
भीम-भेष धारण करके भी शिव सदैव कहलाते हैं,
शशि-शेखर के पूरे ज्ञाता त्रिभुवन में न दिखाते है ॥

(७८)

आभूषण से भूषित; अथवा, भय-दायक-भुजङ्ग-धारी,
गज का चर्म्म लिये हैं; अथवा, मृदुल दुकूल मनोहारी।
ब्रह्म-कपाल युक्त हैं; अथवा, चन्द्र चूड़ हैं भगवाना,
विश्वमूर्ति उस विश्वेश्वर का मर्म नही जाता जाना ॥

(७९)

उस जगदीश्वर के शरीर से वह ज्यों ही छू जाती है,
त्यां ही रज अपवित्र चिता की अति पवित्र हो जाती है।
नृत्य-समय, गिर कर उसके कण, भूतल पर जो आते हैं,
दिव्य देवता उन्हें, भाल पर, सादर सदा लगाते हैं ॥

(८०)

जो सुरपति मत्त दिग्गज के ऊपर आता-जाता है,
न-विहीन उस वृष-वाहन को वह भी शीश नवाता है।
उसके चरण-सरोरुह पर वह अपना मुकुट झुकाता है,
मृदु-मन्दार-पराग-पुञ्ज से उँगली अरुण बनाता है ॥

(८१)

व्यर्थ दोष कहने की इच्छा तुझमें यदपि समाई है,
एक बात शङ्कर-सम्बन्धी तूने सत्य सुनाई है।
ब्रह्मा का भी कारण जिनको बतलाते हैं विज्ञानी,
कैसे जान सकैगा उनका उद्भव तू हे अज्ञानी ?

(८२)

तूने जैसा उन्हें सुना है वैसा होने दे निःशेष,
करना नहीं चाहती हूँ मैं तुझसे वाद-विवाद विशेष।
मैं उनमें अनुरक्त एक ही सरस-भाव से भले प्रकार,
स्वेच्छाचारी-जन कलङ्क का करते नहीं कदापि विचार ॥

(८३)

सखी ! रोक यह फिर कहने की उत्सुकता दिखलाता है,
देख अधर अपना ऊपर का बार बार फरकाता है।
सत्पुरुषों का निन्दक-जन ही पातक नहीं कमाता है,
निन्दा का सुननेवाला भी अघ-भागी हो जाता है ॥

(८४)

यह कह कर कि यहाँ से मैं ही उठ जाऊँगी, वह बाला
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड़ लिया निज कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर॥

(८५)

उनको देख, कम्पयुत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिये हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी; हुई चित्र खींची-सी भ्रान्त ॥

(८६)

"हे नत-गात्रि ! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान;
"मोल ले लिया तूने तप से" यों जब बोले शम्भु सुजान ॥
तत्क्षण हुआ शैल-तनया के प्रबल परिश्रम का परिहार;
क्लेश समूल भूल जाता है फल मिलने पर मनोऽनुसार ॥

(८७)

रायबरेली के अन्तर्गत सुरसरि-तट दौलतपुर ग्राम,
श्रीहनुमन्त-तनय जिसमें थे रामसहाय द्विवेदी नाम।
उनके एकमात्र सुत मैंने यह कुमारसम्भव का सार,
अब के कवियों को प्रणाम कर किया यथामति किसी प्रकार॥

॥ इति ॥

फुटकर रचनायें

फा० २३

सूचना

इस स्तंभ में आचार्य द्विवेदी की वे सब कवितायें संग्रह की गई हैं जो 'सरस्वती' में समय समय पर छपी हैं। कविताओं के नीचे महीना और साल का निर्देश कर दिया गया है।

फुटकर रचनायें

१—कोकिल

(१)

कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है,
सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रङ्गत के कुँवर कन्हाई,
उसने भी वह रङ्गत पाई ॥

(२)

अथवा जामुन का रँग जैसे,
इसका भी होता है तैसे।
ज्यों ही चैत मास लगता है,
जाड़ा अपने घर भगता है ॥

(३)

त्यों ही यह अनि मीठी वानी,
नित्य बोलती है रससानी।
आम-मौर सको अति प्यारा,
सत्य सत्य यह वचन हमारा ॥

(४)

मौरों के सुगन्ध की माती,
कुहू कुहू यह सब दिन गाती।
मन प्रसन्न होता है सुनकर,
इसके मीठे बोल मनोहर ॥

(५)

सम्मुख आमवृक्ष के ऊपर,
देखो वह आती है उड़कर।
बोलो मत; उँगली न उठाओ;
आओ वहीं चलैं सब, आओ ॥

(६)

मीठी तान कान में ऐसे,
आती है वंशी-धुनि जैसे।
सिर ऊँचा कर मुख खोलै है,
कैसी मृदु बानी बोलै है॥

(७)

इसमें एक और गुण भाई,
जिससे यह सबके मन भाई।
यह खेतों के कीड़े सारे,
खा जाती है बिना विचारे॥

(८)

जिस परमेश्वर ने दिया, यह पक्षी गुण-धाम।
प्रेम-सहित कर जोड़कर, उसे अनेक प्रणाम॥

सितम्बर, १९०१

२—वसन्त

(१)

नव वसन्त बहार भई जबै,
सब कली वन की विकसीं तबै।
सुखद शीतल मन्द सुहावनी,
विमल वायु बही मनभावनी॥

(२)

चिर मौरन के रस तें पगी,
पिक कुहू कुहू बोलन है लगी।
भँवर फूलन फूलन आवहीं,
निज मनोहर शब्द सुनावहीं॥

(३)

कमलिनी दिन माहिं नई नई,
कुमुदिनी निशि में सब तें छई।
जल सुगन्धित तालन को भयो,
रहि कहूँ न मलीनपनो गयो ॥

(४)

जहँ लखौ तहँ पेड़न पै चहूँ,
सुमन लाल कहूँ, पियरे कहूँ।
खिलि रहे सुषमा सरसावही,
महक मोहक मञ्जु उड़ावहीं ॥

(५)

अरुण रंग मनोहर तें रँगे,
कुसुम लाल पलाशन में लगे।
लखि जिन्हैं मन में यह आवई,
कह इन्हैं वन-आगि जरावई? ॥

(६)

ऋतु वसन्तहिं पात सड़े गले,
जिन दये उन पेड़न पै भले।
नवल पल्लव सुन्दर सोहही;
सब मनुष्यन के मन मोहहीं ॥

(७)

हम तुम्हैं यह सत्य सुनावहीं,
सुनहु, बालक! दान वृथा नहीं।
जिन पुरातन दीन्ह तिन्हें नयो,
लखहु, पेड़नहू मिलि ही गयो ॥

अक्टूबर, १९०१

३—ईश्वर की महिमा

(१)

हे हे महाप्रभु ! महा महिमा तुम्हारी,
जिह्वा नहीं कह सुना सकती हमारी।
सौ वर्ष भी यदि सदा तव कीर्ति गावै,
तौ भी कभी न उसके वह पार जावै ॥

(२)

पृथ्वी, समुद्र, सर, पेड़, पहाड़, सारे,
है सत्य सत्य जगदीश ! दिये तुम्हारे।
हे नाथ ! आप यदि सूर्य हमें न देते,
पक्षी, मनुष्य, पशु, जीव न एक जीते ॥

(३)

जो ये अनेक फल हैं हमको दिखाते,
खाते नहीं हम कभी जिनको अघाते।
जो फूल नेत्र सुखदायक ये खिले है,
सो भी सभी तव कृपा-कण से मिले हैं ॥

(४)

देते न जो तुम हमैं अनमोल आँख,
पाते उन्हें न करते यदि यत्न लाख।
हे दीनबन्धु ! गुणसिन्धु ! पवित्रनाम.
हे नाथ ! हे अति कृपालु ! तुम्हैं प्रणाम ॥

(५)

जो जो छिपाय हम काम बुरे करैं हैं,
जानैं न और, इससे मन में डरैं हैं।
सो सो सदा तुम उसी क्षण जान लेते,
तत्काल दण्ड हमको जगदीश ! देते ॥

(६)

जो झूठ बात हम, हे प्रभु ! बोलते हैं,
अच्छे-बुरे विषय में मुँह खोलते हैं।

सो भी कभी न तुमसे छिपती छिपाये,
होते अनेक हमसे अपराध आये ॥

(७)

हे हे दयालु ! इससे कर जोड़ते हैं,
सारी कुचाल अबसे हम छोड़ते हैं।
जो भूल-चूक परमेश्वर ! हो हमारी,
कीजै क्षमा; शरण में हम हैं तुम्हारी ॥

दिसम्बर, १९०१

४—भारत की परमेश्वर से प्रार्थना

(१)

हे दीनपालक ! दयामय ! दुःखहारी !
हे हे महा-महिम ! मङ्गल-मूल-कारी !
हे प्रेम-मूर्ति ! परमेश्वर नाम-धारी !
थोड़ी विनीत विनती सुनिए हमारी ॥

(२)

आलस्य, मोह, मद, मत्सर में हमारे,
जो ये मनुष्य सब डूब गये बिचारे।
सो तो गये; न उनका अब आसरा है,
हे नाथ ! हाल उनका अति ही बुरा है ॥

(३)

जो ये, परन्तु, सब बालक हैं दिखाते,
माता, पिता, गुरु जिन्हें श्रम से सिखाते।
सन्मार्ग में तुम सदा उनको चलावो,
ए हो दयामय ! दया इतनी दिखावो ॥

(४)

हो बात सत्य इनको सब काल प्यारी,
हे दीनबन्धु ! अभिलाष यही हमारी।

बोलैं न झूठ, उससे अति दूर भागैं,
राखैं सु-संग, खल संगति में न लागैं ॥

(५)

आलस्य, फूट, मदिरा, मद दोष सारे,
छाये यहाँ सब कहीं टरते न टारे।
हे भक्तवत्सल ! न्हैं उनसे बचावो,
हस्तारविन्द उनके सिर पै लगावो ॥

(६)

जो ये कुरीति-समुदाय नये, पुराने,
नाना प्रकार, बहुधा सबमें समाने।
हे सत्यसिन्धु ! उनसे इनको उबारो,
है हानि, हाय, कितनी ! तुमही बिचारो ॥

(७)

उद्योग और श्रम, शिल्प कला सिखावो,
व्यापार में मन सदा इनका लगावो।
विद्या, विवेक, धन-धान्य, सभी बढ़ावो,
आरोग्य और बलवान न्हैं बनावो ॥

(८)

देखो यहाँ सकल बालक ये खड़े है,
छोटे अनेक, दस-पाँच कहीं बड़े हैं।
हे हे दयालु; इनका कर थाम लीजै,
कीजै कृपा; अब न्हैं मत छोड़ दीजै ॥

(९)

है एक और विनती तुमसे हमारी,
सो भी करौ सफल हे प्रभु पापहारी।
ये सातवें नृप नये यडवर्ड देव,
रानी-समेत चिरजीव रहैं सदैव ॥

फ़रवरी सन् १९०२

—

५—'सरस्वती' की विनय

(१)

विश्वाधार ! विशाल-विश्व-बाधा-संहारक !
प्रेममूर्ति ! परमेश ! अबल-अबला-हितकारक !
सरस्वती बालिका विनय करती है; सुनिए,
सकल-मंगलागार ! अमंगल सारे हनिए ।।

(२)

अब तक निज कर्तव्य किये जो मैंने प्रभुवर !
वर-विषयों से यथाशक्ति भूषित हो हो कर ।
उसके लिए सहर्ष शीश निज नीचा करके,
भक्ति-भाव-संयुक्त धरातल-ऊपर धरके ।।

(३)

धन्यवाद शत बार देव ! देती हूँ लीजै,
कृपा-कोर मम ओर अहर्निश हे प्रभु ! कीजै ।
बिना तुम्हारी कृपा न कुछ भी हो सकता है,
महा तुच्छ भी कार्य न कोई कर सकता है ।।

(४)

मेरे वाचक-वृन्द, तथा ग्राहक विज्ञाता,
विविध भाँति उत्साह और लेखों के दाता ।
सम्पादक जो हुए आज तक मेरे बुध-वर,
सुखी रहें सब काल विनय यह है हे ईश्वर !

(५)

अपनी दशा दुरन्त नाथ ! तुमसे कहती हूँ,
जब से हुई सदैव दुःख सहती रहती हूँ ।
प्रतिदिन किया प्रयत्न यदपि मैंने बहुतेरा,
गया न दिवस परन्तु एक भी सुख से मेरा ।।

(६)

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ,
वचनों को बहु भाँति रुचिर रचना करती हूँ।
उदर-हेत मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ,
हाय ! हाय ! आजन्म दुःख सहती आती हूँ ॥

(७)

पड़ता कहीं अकाल वर्ष भर जो जगदीश्वर !
कितना दारुण दुःख लोग पाते हैं भू-पर।
तीन वर्ग से कष्ट उसी विध मैं सहती हूँ,
शपथ तुम्हारी नाथ ! सत्य यह मैं कहती हूँ ॥

(८)

हिन्दी जिनकी मधुर मातृ-भाषा मुददायी,
ऐसी यहाँ अनन्त लोक-संख्या है छाई।
निराहार यदि मुझे नाथ ! तुम तिस पर पावौ,
अति लज्जा की बात, या नहीं, तुम्हीं बतावौ ॥

(९)

अहो ! देव अतएव विनय मम मन में लावौ,
जन-समूह उर-बीच प्रीति मेरी प्रकटावौ।
जिसमें कुछ तो प्रेम मातृभाषा पर जागै,
अबला-बध-उत्पन्न पाप भी इन्हें न लागै ॥

(१०)

जो इनमें जगदीश ! न तुम करुणा उपजैहौ,
इस वत्सर के अन्त मुझे नहिं जीवित पैहौ।
तब मेरे गुण-दोष चित्त में ये लावैंगे,
सम्भव है उस समय कदाचित पछतावैंगे ॥

(११)

उन्नतिउन्नति उच्च सदा जो चिल्लाते हैं,
मुझमें विविध प्रकार न्यूनता बतलाते हैं।
उनसे विनय विनीत यही मेरा; मन लावें,
"भूखे भक्ति" विशे वही करके दिखलावैं ॥

(१२)

इतना ही वक्तव्य आज मेरा है स्वामी !
बार बार कर जोड़ भक्ति-युत तुम्हें नमामी।
करुणासिन्धु ! कृपालु ! सुजन-भय-भंजनहारी,
'सरस्वती' सब भाँति दयामय ! शरण तुम्हारी ॥

फ़रवरी-मार्च, १९०३

६—जन्मभूमि

(१)

देखीं वस्तु विश्व की सारी,
जन्मभूमि सम एक न न्यारी ॥
हे "सरस्वती" के हितकारी !
सुनिए, सुनिए बात हमारी ॥

(२)

जहाँ बालपन सकल बिताया,
जहाँ खेल खेला मनभाया।
जहाँ रहें भगिनी, प्रिय भ्राता,
पिता और सुत-वत्सल माता ॥

(३)

ऐसा कौन निपट अज्ञानी,
महामूढ़, जड़, पामर प्राणी।
जो शठ उसे भूल जावैगा,
बन कृतघ्न, मुख दिखलावैगा ॥

(४)

पशु, पक्षी जो जीवन- री,
जन्मभूमि उनको भी प्यारी।
यदि वे बेच दिये जाते हैं,
दौड़ दौड़ फिर फिर आते हैं ॥

(५)

जल अथवा थल के चारी,
घास-पात आदिक आहारी।
जीव जगत में जो रहते हैं,
जन्मभूमि को सब चहते हैं॥

(६)

महा असभ्य मनुष्याहारी,
अफ़रीक़ा के भी वनचारी।
जन्मभूमि से स्नेह लगावैं,
वहीं रहैं, आनन्द मनावैं॥

(७)

जग में जन्म-भूमि सुखदायी,
जिस नर-पशु के मन न समाई।
उसके मुख-दर्शक नर-नारी, .
होते है अघ के अधिकारी॥

(८)

एक गेह में जो रहते हैं,
दुख न विशे कभी सहते हैं।
प्रीति परस्पर वे रखते हैं,
जिसका फल मीठा चखते हैं॥

(९)

दुखी एक को जो पाते हैं,
सभी सहायक हो जाते हैं।
हित की बातें बतलाते हैं,
स्वयं अनेक काम आते हैं॥

(१०)

विवि भाँति श्रम मनुज उठावैं,
निज कुटुम्ब को सुखी बनावैं।
सबको सुखी देख सुख पावैं,
सत्य सत्य हम सत्य सुनावैं॥

(११)

यह जो भारत-भूमि हमारी,
जन्मभूमि हम सबकी प्यारी ।
एक गेह, सम विस्तृत भारो,
प्रजा कुटुम्ब तुल्य है सारी ।।

(१२)

इसको देख विपत्ति-विभागी,
निर्धन, अपढ़, निरन्न, अभागी ।
जिसका हृदय न दया दुखाती,
लज्जा भी क्या उसे न आती ?

(१३)

यदि कोई पीड़ित होता है,
उसे देख सब घर रोता है ।
देश-दशा पर प्यारे भाई !
आई कितनी बार रुलाई ?

(१४)

सुख-समृद्ध-शाली करने में,
निज घर को धन से भरने में ।
कौन न श्रम सब दिन करता है,
तनिक नहीं उससे डरता है ।।

(१५)

थोड़ा भी श्रम यदपि उठाते,
जन्मभूमि को तुम न भुलाते ।
तो अब तक निहाल हो जाती,
शोभामयी दिव्य दिखलाती ।।

(१६)

जो कुछ अब तक हुआ, भुलावो,
अब इसका सम्मान बढ़ाओ ।
मान लीजिए वचन हमारे,
इसकी लज्जा हाथ तुम्हारे ।।

(१७)

जन्मभूमि की बलिहारी है,
यह सुरपुर से भी प्यारी है ।
सकी महिमा अति भारी है,
सुधि भी इसकी सुखकारी है ॥

फरवरी-मार्च, १९०३

७—स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार

(१)

क़लम को कँपकँपी-सी आ रही है,
हमारी बुद्धि चक्कर खा रही है ।
लिखें हम क्या नहीं कुछ याद आता,
अजब हालत हमारी है विधाता !

(२)

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे है ?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं ?
न सूझै है अरे भारत भिखारी !
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी !

(३)

हजारों लोग भूखों मर रहे हैं,
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं ।
इधर तू मंजु मलमल ढूँढ़ता है !
न इससे और बढ़ कर मूढ़ता है ॥

(४)

महा अन्याय हा हा हो रहा है,
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है ।
मरें, असग़र, बिसेसर और काली,
भरें घर ग्रान्ट, ग्राहक और राली ॥

(५)

स्वदेशी वस्त्र की हमको बड़ाई,
विदेशी लाट ने भी है सुनाई।
न तिस पर भी हमें जो लाज आवै,
किया क्या हाय हे जगदीश! जावै॥

(६)

चमकते रंग हैं हमको भुलाते,
अनोखे बेल-बूटे भी लुभाते।
नही हम देखते हैं पायदारी,
हमारी है बड़ी यह भूल भारी॥

(७)

विदेशी धोबियों तक ने हमारी,
समझ पर है कलप की ईंट मारी।
पहनते धोतियाँ, सबको दिखाते,
न नकी चाल भी हम चित्त लाते॥

(८)

धराधर धार रुपयों की बही है,
विलायत ओर सीधी जा रही है।
न कश्मीरा न मखमल छोड़ते हम,
न फ़्लैनल, फ़्यल्ट से मुख मोड़ते हम॥

(९)

रुई होती यहाँ कुछ कम नहीं है,
न इतनी और देशों में कहीं है।
उसे दे हम सडे कपड़े मँगावें,
जिन्हें ले एक के दो-दो गँवावें॥

(१०)

न काशी और चन्देरी हमारी,
न ढाका, नागपुर नगरी विचारी।
गई है नष्ट हो; जो देश भाई!
दया उनकी तुम्हें कुछ भी न आई॥

(११)

अकेला एक लुधियाना हमारा,
चला सकता अभी है काम सारा।
फिरैं, तिस पर, भला, जो और के द्वार,
हमैं, फिर, क्यों नही सौ बार धिक्कार ?

(१२)

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जावो पास, उससे दूर भागो ॥

(१३)

अरे भाई ! अरे प्यारे ! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम ॥

जुलाई १९०३

८—श्री हार्नली-पंचक

(१)

विद्या-निधान-वर, विज्ञ-जन-प्रदान,
शोभायमान जग में सविता-समान।
वाणी न जासु मुख तें क्षणहू टली है,
सोई गुणी-गण-शिरोमणि हार्नली है ॥

(२)

भाषा न एकहु भली विधि लोक माहीं,
जानै मनुष्य तउ गर्व बहै वृथा हीं।
भाषा अनन्त मुख जासु बसैं सदाही,
माहात्म्य तासु कहि को कवि पार जाहीं ॥

(३)

शेषावतार परिपूर्ण मही-मझार ?
किंवा गणेश गुणिनायक कोऽवतार ?
विद्या-विभुत्व स भाँति महा विशाल,
पाया गया न पृथिवी-तल पै त्रिकाल ॥

(४)

हेमेन्दु औ वररुचि प्रति जो अपारा,
श्रद्धा-प्रकार सुपवित्र अहै हमारा ।
तातें विशेष तव ऊपर भक्ति-भाव,
हे हार्नली ! इमि कहैं सब सत्स्वभाव ॥

(५)

सौजन्य-सिन्धु, बुध-बन्धु, मनोज्ञ-रूप,
विज्ञात तत्त्व यह पंडित है अनूप ।
विद्या-समृद्धि सन ही सुमहाधनी है,
औ शब्द-शास्त्र महँ सम्प्रति पाणिनी है ॥

अक्टूबर १९०३

६—विचार करने योग्य बातें

(१)

मैं कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया,
क्या क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किसको शरीर,
आत्मा किसे कह रहे सब धर्मधीर ?

(२)

क्यों पाप-पुण्य-रचड़ा जगबीच छाया ?
माया-प्रपंच रच क्यों सबको भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारै,
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा बिचारै ?

(३)

नाना प्रकार जग में जन जन्म पाते,
पीते तथा नित यथाविधि खाद्य खाते।
तौ भी सदैव मरते सब जीवधारी,
क्यों अल्पकालिक हुई फिर सृष्टि सारी?

(४)

क्या वस्तु मृत्यु? जिसके भय से बिचारे,
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे।
क्या बाघ है? विशिष है? अहि है विषारी?
किं वा विशाल-तम तोप दृढ़ांगधारी?

(५)

पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नग-नाग-सृष्टि,
मांगल्य-मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि।
कर्तार कौन नका? किस हेतु नाना,
व्यापार-भार सहता रहता महाना?

(६)

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता,
स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता?
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता,
तो मूल्यवान फिर क्यों निज काल खोता?

(७)

कोई सदैव सुख-युक्त करै विहार,
कोई अनेक विधि दुःख सहैं अपार।
जो भेद-भाव सबमें यह विद्यमान,
क्या बीजवस्तु उसकी जग में प्रधान?

(८)

तेजोनिधान रवि-बिम्ब सुदीप्ति-धारी,
आह्लादकारक शशी निशि तापहारी।
जो ये प्रकाशमय पिण्ड गये बनाये,
तो व्योम-बीच कब ये किस भाँति आये?

(९)

क्यों एक देश सहसा बल-वृद्धि पाता ?
क्यों अन्य दीर्घ-दुख-सागर में समाता ।
ये खेल कौन, किस कारण, खेलता है ?
क्यों नित्य नित्य सुख में दुख मेलता है ?

(१०)

ये हैं महत्त्व-परिपूरित प्रश्न-सार,
एकान्त जो नर करें इनका विचार ।
होतें अवश्य जन वे जग में महान,
सज्ञान और वर-बुद्धि-विवेकवान ।।

फ़रवरी १९०४

१०—ग्रंथकारों से विनय

(१)

हे ग्रंथकार, आगार गुणों के, ज्ञाता,
अति रुचिर मनोरम गद्य-पद्य-निम्र्माता ।
क्षण भर के लिए समेट काम निज सारा,
सुनिए यह इतना विनय विनीत हमारा ।।

(२)

भाषा है रमणी-रत्न महा-सुखकारी,
भूषण हैं उसके ग्रंथ लोक-उपकारी ।
उनको लिख उसकी तृप्ति भली विधि कीजै,
अति विमल-सुयश की राशि क्यों न ले लीजै ? ।।

(३)

सत्काव्य, तथा इतिहास, और विज्ञान,
सत्पुरुषों के भी चरित विचित्र-विधान ।
लिखिए हे लेखन-कला-कुशलतावान !
इसमें ही है सब भाँति देश-कल्याण ।।

(४)

वर रत्न, कनक कमनीय, कान्ति के वर्द्धक,
इस भूषण-रचना-हित नही आवश्यक ।
इस कारण देश-विदेश नही जाना है,
शारीरिक श्रम भी नही बहुत पाना है ।।

(५)

सुविचार-राशि हैं रत्न रुचिरताधारी,
हैं सुन्दर वर्ण सुवर्ण; कर्ण सुखकारी ।
घर ही में बैठ विचार प्रकट करना है,
पुस्तक के पृष्ठ सहर्ष वहीं भरना है ।।

(६)

जो वस्तु और की बिना कहे लेता है,
सब कोई उसको "चोर" सदा कहता है ।
औरों के चारु विचार तथापि मनोहर,
ले लेने में कुछ दो नहीं, हे बुधवर ! ।।

(७)

इँग्लिश का ग्रंथ-समूह बहुत भारी है,
अति-विस्तृत-जलधि समान देहधारी है ।
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है ।।

(८)

इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजै,
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै ।
वह माता-सम सब भाँति स्नेह-अधिकारी,
इतनी ही विनती आज विनम्र हमारी ।।

(९)

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई !
भाषा है उसी प्रकार महा-मुद-दायी ।
माता से पूज्य विशेष देश-भाषा है,
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है ।।

(१०)

माता से जग के बीच जन्म मिलता है,
भाषा से सब व्यवहार सदा चलता है।
इससे ही उसकी कीर्ति विज्ञ गाते हैं,
तत्सेवा कर आनन्द अमित पाते हैं॥

(११)

इसलिए स्वभाषा-भक्ति, देश-हितकारी!
कर, भली भाँति, हूजिए पुण्य-अधिकारी।
रचिए गुण-गौरव-पूर्ण-ग्रंथ-गण सारा,
बस, यही आपसे विनय विनीत हमारा॥

फ़रवरी १९०५

११—रम्भा

(१)

रूपवती यह रम्भा नारी,
सुरपति तक को यह अति प्यारी।
रति, धृति भी, दोनो बेचारी,
इसे देख मन में हैं हारी॥

(२)

इसके हाव हृदयहारी हैं,
हारी इससे सुरनारी हैं।
गति इसकी सबसे न्यारी है,
छवि नयनो को सुखकारी है॥

(३)

जब यह अद्भुत भाव बताती,
वसन इधर से उधर हटाती।
नाभि-नवल-नीरज दिखलाती,
स्तनतट से पट को खिसकाती॥

(४)

मुनि भी मोहित हो जाते हैं,
प्रचुर ताप तन में पाते हैं।
इसकी लीला कही न जाती,
गति इसकी न समझ में आती॥

(५)

पहनी पारिजात की माला,
हरित वस्त्र सिर ऊपर डाला।
करपल्लव किस भाँति उछाला,
श्रुतिकुंडल क्या खूब निकाला॥

(६)

वेश विचित्र बनाया इसने,
मुख-मयङ्क दिखलाया इसने।
भृकुटी धनुशाकार मनोहर,
अरुण दुकूल बहुत ही सुन्दर॥

(७)

मंजु - मृणाल - पराजयकारी,
वाम बाहु आभूषणधारी।
किस प्रकार लटकाया इसने,
कमलों को शरमाया इसने॥

(८)

कटि इसकी न भङ्ग हो जावे,
चलते कहीं न यह गिर जावे।
इससे त्रिबली बन्ध बनाया,
विधि ने यह चातुर्य्य दिखाया॥

(९)

इसका कुच नितम्ब विस्तार,
सचमुच है अत्यन्त अपार।
दृष्टि युवक जन की जो जाती,
थक कर वहीं पड़ी रह जाती॥

(१०)

शुक के सम्मुख जानेवाली,
सरस भाव बतलानेवाली ।
नव यौवन मद से मतवाली,
सुर-नर-मुनि-मन हरनेवाली ।।

(११)

इसका चित्र सभी को भाया,
रविवर्म्मा ने विशद बनाया।
कौशल उसमें खूब दिखाया,
रुचिर रूप अच्छा उपजाया ।।

मार्च १९०५

१२—कुमुद सुन्दरी

(१)

यह है कुमुद सुन्दरी बाला,
है इसका सब ठाट निराला ।
घर इसका गुजरात देश है,
देखो कैसा सुभग वेश है ।

(२)

चारु-चन्द्रमा-सम मुख-मंडल,
भूतल में शोभा आखंडल ।
कञ्चन-कर्ण फूल पहने हैं,
नही और कोई गहने हैं ।।

(३)

काम-कामिनी की ले छाया,
जिसे चतुर्मुख ने निर्म्माया।
भूषण उसकी विडम्बना है,
महा-अनूपम रूप बना है ।।

(४)

इसके देख केश घुँघुराले,
सुमन-सुवासित सुन्दर काले।
नाग-नारियाँ छिप जाती हैं,
महा-अनूपम रूप बना है।

(५)

नयन नील-नीरज-छबिहारी,
श्रुति-पर्य्यन्त-पर्य्यटनकारी।
इसके भृकुटी-भय का मारा,
लोप शरासन है बेचारा॥

(६)

इसके अधर देख जब पाते,
शुष्क गुलाब फूल हो जाते।
कोमल इसकी देह-लता है,
मूर्तिमती यह सुन्दरता है॥

(७)

बाहर सायंकाल हमेशा,
फिरती यह पति साथ हमेशा।
कड़े छड़े की चाह नहीं है,
परदे की परवाह नहीं है॥

(८)

पढ़ती भी लिखती भी है यह,
घर सज्जित रखती भी है यह।
जब यह सूई हाथ उठाती,
नये नये कौशल दिखलाती॥

(९)

घर में सबको भाती है यह,
पति का चित्त चुराती है यह।
सखियों में जब आती है यह,
मधु मीठा टपकाती है यह॥

(१०)

यह शिक्षिता गुर्जरी नारी,
इसको प्रिय है नीली सारी।
इसकी छबि-लोचन-सुखकारी,
रविवर्मा ने खूब उतारी॥

अगस्त १९०५

१३—महाश्वेता

(१)

यह सुन्दरी कहाँ से आई,
सुन्दरता अति अद्भुत पाई।
सूरत इसकी अति भोली है,
और न इसकी हमजोली है।

(२)

इसका चरित बाण ने गाया,
जिसने कादम्बरी बनाया।
यह कोमल किन्नर-कन्या है,
रूप-राशि गुण-गण-धन्या है॥

(३)

हेमकूट पर्वत के ऊपर,
उपवन एक चैत्ररथ सुन्दर।
वहीं विमल अच्छोद सरोवर,
उसके तट शिव-भवन मनोहर॥

(४)

वहाँ एक दिन यह जाती थी,
मग मे निज छबि छिटकाती थी।
युवा तपस्वी पुण्डरीक ने,
कुसुम-कली को चञ्चरीक ने॥

(५)

देख इसे सब सुधि बुधि खोई,
शुद्ध-शीलता सारी धोई।
इसने भी अनुराग दिखाया,
हार उसे अपना पहनाया॥

(६)

लौट गेह निज जब यह आई,
ीड़ा पुण्डरीक ने पाई।
विरह-वह्नि ने उसे जलाया,
इससे वह परलोक सिधाया॥

(७)

इस विपत्ति से यह अकुलानी,
हुई उसी क्षण से दीवानी।
पिता और माता को छोड़ा,
सब सम्बन्ध जगत से छोड़ा॥

(८)

प्रिय से प्रेम लगाया इसने,
अंग विभूत रमाया इसने।
जटा-जूट लटकाया इसने,
मुनिवर भेष बनाया इसने॥

(९)

पहनी पुण्डरीक की माला,
आई उसी विपिन में बाला।
पशुपति की पूजा आराधी,
महा कठोर साधना साधी॥

(१०)

कर वीणा ले नित्य बजाती,
हर-गिरिजा को नित्य रिझाती।
नित्य नये उनके गुण गाती,
कन्द-मूल खाकर रह जाती॥

(११)

वहाँ इसी विधि यह सुकुमारी,
करती रही तपस्या भारी ।
बहुत दिनों में इसका प्यारा,
मिला इसे खोया दुख सारा ॥

(१२)

उसे शशी ने शाप दिया था,
चन्द्रलोक में खींच लिया था ।
अन्त उसी ने उसे पठाया,
दोनो का सन्ताप मिटाया ॥

(१३)

चित्र महाश्वेता का सुन्दर,
रविवर्मा ने विशद बनाया ।
अतिशय कौशल दिखलाया है,
भाव खूब ही बतलाया है ॥

सितम्बर १९०५

१४—महिला-परिषद् के गीत

(१)

बहन, शुभ दिन बडा यह आज आया
परस्पर ईश ने हमको मिलाया—
यहाँ आने में इतनी दूर चलकर
बहुत कुछ कष्ट है हमने उठाया ॥ १ ॥
अनेकों धर्म्म-पन्थों की है हम सब
पै सब पर एक-सा अनुराग छाया ॥ २ ॥
जमा हो इस सभा-मण्डप के भीतर
बहुत उत्साह है हमने दिखाया ॥ ३ ॥

करै निज हित लगाकर दिल को हम सब
यह अवसर खूब ही है हाथ आया ॥ ४ ॥
झुकावैं शीश हम ईश्वर को पहले
कि जो घट घट में है सबके समाया ॥ ५ ॥

(२)

शिक्षामृत पान करो चित्त को लगाई
जीवित-साफल्य हेत अतिशय गुणदायी——
विद्या की आदि-देव स्त्री ही जग में प्रसिद्ध
देख के हमारी वह घोर मूर्खताई ॥ १ ॥
पावैंगी खेद बहुत, बहनों, संदेह नही
कुछ न कोई कर सकैगा भगिनी या भाई ॥ २ ॥
आओ सप्रेम उसे नेम से प्रसन्न करें
अपनी उन्नति ही से है सभी भलाई ॥ ३ ॥
विद्या से नीति-रीति होती सब भाँति शुद्ध
मन-वच भी पावन हो होते सुखदाई ॥ ४ ॥
होगे तब हमसे शुभ काम सहज में ही सब
छिपी नही जग में है ज्ञान की बड़ाई ॥ ५ ॥

(३)

अज्ञान अंधकार में पड़ी हैं हाय हम
कर ज्ञान का प्रकाश उसे दें नसाय हम—
आवो पवित्र आचरण सीखैं नये नये;
राखै सुखी कुटुम्ब मनो-वाक्-काय हम ॥ १ ॥
महिला अनेक महि की भूषण हैं हो गईं,
उनकी सुचाल को ही चलै चित्त लाय हम ॥ २ ॥
उनके सदाचरण ने उन्हें कर दिया अमर;
उनका ही सा चलो करैं अपना सुभाय हम ॥ ३ ॥
जो काम देश के नही पूरे वे कर सकीं;
आवो करें उन्ही को हिये हर्ष छाय हम ॥ ४ ॥
छोड़ैं विचार आज से अपने पराये का,
सोचैं गुणो के सिर्फ़ ग्रहण का उपाय हम ॥ ५ ॥

(४)

प्यारा है सबसे हमको हिन्दुस्तान हमारा
सुख दुःख में हमेशा मेहरबान हमारा—
विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा ॥ १ ॥

पढ़ती थी वेद तक जहाँ महिला सदैव ही,
नारी-समूह है वही अज्ञान हमारा ॥ २ ॥

विद्या धनों का मूल है पर उस तरफ बहन
अब तक गया नहीं है कभी ध्यान हमारा ॥ ३ ॥

आओ करें प्रयत्न आज से लगा के दिल,
बढ़ जाय जिससे ज्ञान और मान हमारा ॥ ४ ॥

विद्या बिना स्वदेश की सेवा न हो सके,
विद्या ही से है सब तरह कल्याण हमारा ॥ ५ ॥

३० दिसम्बर १९०५ को काशी की महिला परिषद् में गाये जाने के लिए रचित
जनवरी १९०६

१५—वन्दे मातरम् !

वन्दे मातरम्।

पानी की कुछ कमी नही है, हरियाली लहराती है,
फल औ फूल बहुत होते हैं, रम्य रात छवि छाती है।
मलयानिल मृदु मृदु बहती है शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है ॥

वन्दे मातरम्।

तीस कोटि लोगों की कलकल सुनी जहाँ पर जाती है,
उसकी दुगुन खड्ग-धारा की द्युति विकाश जहँ पाती है।
तिस पर भी 'तू अबला है' यह बात व्यथा उपजाती है,
हे तारिनि ! हे बहुबल-धारिनि ! रिपु तू काट गिराती है ॥

वन्दे मातरम्।

तू ही धर्म्म, कर्म्म भी तू ही, तू ही विद्यावानी है,
तू ही हृदय, प्राण भी तू ही, तू ही गुण-गण-खानी है।
बाहु-शक्ति तू ही मम, तेरी भक्ति महा मन मानी है,
प्रतिघट, प्रतिमन्दिर के भीतर तू ही सदा समानी है॥

वन्दे मातरम्।

हे दुर्गे! दस भुजा तुम्हारी दुर्गति-नाश-निशानी है,
हे कमले! हे अमले! अचले! तू सब सुख की खानी है।
नहीं एक भी भरतखंड में ऐसा पापी प्रानी है,
कहै न जो नित, "यही हमारी महामहिम महरानी है॥"

वन्दे मातरम्।

जनवरी, १९०६

१६—ऊषा-स्वप्न

(१)

बाणासुर की सुता सयानी,
रति भी जिसको देख लजानी।
रुचिर नाम ऊशा उसका है;
विशद वेश-भूशा उसका है॥

(२)

जब वह हुई षोडशी बाला,
पड़ा काम से उसका पाला।
मन्मथ ने शायक सन्धाना,
ऊषा उसका हुई निशाना॥

(३)

दुर्निवार मनसिज की मारी,
व्यथित हुई जब वह सुकुमारी।
उसने और न लड़ना चाहा,
पति का प्राण पकड़ना चाहा॥

(४)

बिम्बाधर-रस चखनेवाला,
तनु में जीवन रखनेवाला।
जल्द नहीं जो पाऊँगी मैं,
हे महेश मर जाऊँगी मैं॥

(५)

यों कह कर घबड़ाने तब वह—
लगी गिरीश मनाने तब वह।
दु:ख अत्यधिक पाने तब वह,
तनु को कृशित बनाने तब वह॥

(६)

बहुत रात खोने पर उसको,
एक बार सोने पर उसको।
हुआ स्वप्न सुखदायक उसको,
मिला एक नव नायक उसको॥

(७)

यदुवंशी अनिरुद्ध कुमारा,
रूप-राशि शोभा आगारा।
पास स्वप्न में उसके आया,
जी से वह ऊशा को भाया॥

(८)

सुन्दरता भी शरमा जावे;
यदि वह उसके सम्मुख आवे।
वदन नील-नीरद सम काला;
अति विशाल गल-मुक्ता-माला॥

(९)

उसे देख मन बहुत सँभाला,
तदपि हो गई मोहित बाला।
यदपि न मुँह से वचन निकाला;
दिल अपना उसने दे डाला॥

(१०)

ऊषा को जब ऐसा पाया,
युवा पास तब उसके आया।
बैठ गया, मन मोद बढ़ाया;
विधु-वदनी का हाथ उठाया॥

(११)

रस इस तरह बढ़ाया उसने,
मनोमुकुल बिकसाया उसने।
सुधासलिल बरसाया उसने,
तनु कण्टकित बनाया उसने॥

(१२)

कि वह भूल अपने को गई,
सत्य समझ सपने को गई।
कर-स्पर्श-सुख-सिन्धु समानी,
रतिपति के वह हाथ बिकानी॥

(१३)

उसके मुख-मयंक की शोभा,
देख युवा का भी मन मोहा।
सुषमा-सर उसने अवगाहा,
अरुणाधर रस चखना चाहा॥

(१४)

ऊषा ने भी की मन-भाई;
उत्सुकता अतिशय दिखलाई।
पर ज्योंही वह भुजा उठाने,
चली, युवा को गले लगाने॥

(१५)

नींद दृगों से ज्योंही भागी,
कहीं नहीं कुछ; जब वह जागी।
इससे जो दुख उसने पाया,
गया पुराणों में है गाया॥

(१६)

चित्रकार-वर रविवर्म्मा हैं;
निज गु में अनन्यकर्मा हैं।
उसने ऊषा-स्वप्न उतारा,
खूब सुयश अपना विस्तारा॥

जनवरी १९०६

१७—सरगौ नरक ठेकाना नाहिं

(आल्हा)

(१)

देबी सारदा तुमका सँवरौं मनियाँ देउ महोबे क्यार,
तुमही रच्छक हौ सब जग के बेड़ा खेइ लगायौ पार।
आपनि कथा सुनाबौं तुमका सुनियौ ज्वानौ कान लगाय;
जब सुधि आवै उन बातन कै जियरा कलपि कलपि रहि जाय॥

(२)

सात पुस्ति ते पुरिखा हमरे बसे गाँऊँ मा घरु बनवाय,
निगुरन के पुरवा माँ आजौ ठाढ़ि हमारि मड़ैया आय।
पैदा हुवैं भैन हम भैय्या ख्याला खावा नित उठि रोजु,
दिन दिनु भरि हम घरै न आयन बाप न पावा रंचौ खोजु॥

(३)

मूड़ कै धरती बहुत उठावा तब भै दादा के मन ऊब;
हाथु पकरि घसिलायन हमका, कीन्हेन लालि कनगुदी खूब।
रहे पढ़ावत लरिका याकै लाला नाँउँ मदारीलाल;
हुवैं गैन बैठाये हमहूँ अब आगे के सुनौ हवाल॥

(४)

एक्का एकु पढ़ै हम लागेन परै लागि नित हम पर मारु;
छिन छिन मैं हाँ लाला जौकैं—"कलुआ आपन हाथु निकारु"।
छरी तड़ातड़ हम पर बरसै लागीं नित कम ते कम बीस,
अटई डंडा तहूँ न छाँड़ा भैय्या अस हम रहेन खबीस॥

(५)

ज्यों त्यों कै हम पढ़ा मोहल्ला, फिरि खरीदि औ बेंचु, बियाजु,
पिचमित, तरकुन मंत्र पढ़ायनि लाला रोजु ढोवायनि नाजु।
फिरि हम गैन झञ्झराखेरे मच्छू मियाँ मोलवी पास,
लागेन पढ़ै अलिब्बे हौवा धरमु करमु भा सत्यानास॥

(६)

परेन प्याँच माँ जेर-जबर के हालि हालि लागेन अभुवाय,
घर माँ जानैं पढ़ी पारसी चिलमैं भरत दिनौंना जाय।
पढ़ा करीमा, आमदनामा, खालिकबारी बारा दाँय,
दस्तूरुसुबियों पढ़ि डारा जिनके पढ़े पितर तरि जाँयँ॥

(७)

यहू के आगे औरु बढ़ेन हम पढ़ी कितावैं हम छा-सात;
मनु तौ रहै अरब माँ अरबी पढ़ी जाय—पै बदे कै बात।
घर माँ कहैं लाग सब कोऊ—"कल्लू बन्द करौ यहु खेलु
बहुत पारसी जो तुम पढ़िहौ तुम्हें परी ब्याँचै का तेलु"॥

(८)

भैंसि-भवानी कै तब सेवा लागेन करै पढ़बुगा छूटि,
बटुवन दूधु दुहा इन हाथन धार न कबौ दुहत माँ टूटि।
मोटरिन कटिया भथुरा सानी कीन रोजु हम बाँह चढ़ाय,
मस्त भैन तब आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय॥

(९)

होत बनियई आई हमरे, को अब तुमते झूठ बताय;
हमहूँ घिउ बरसन ब्याँचा है छोटी बड़ी बजारन जाय।
हियाँ की बातें हियैं रहि गईं अब आगे के सुनौ हवाल,
गाँउ छाँड़ि हम सहर सिधायन लागेन लिखै चुटकुला ख्याल॥

(१०)

अचकनु पहिरि बू़ हम डाटा बाबू बनेन डेरात डेरात,
लागेन आवै जाय सभन माँ, कण्ठु फूट, तब बना बतात।
जब तक हमरे तन माँ तनिकौ रहा गाँउँ के रस का अंसु,
तब तक हम अखबार किताबें लिखि लिखि कीन उजागर बंसु॥

(११)

जहाँ गाँउँ का खुनु खतम भा तहाँ फूटिगै भागि हमारि,
अक्किल सासु छाँड़िगै हमका दुर्गति केहितेक हन पुकारि।
कुंभी पाक नरकु असि लाखन जाजरूर जहँ परे गँधायँ,
गटरन ते भुँइ पेलि परी है मनई चलत फिरत धँसि जाँयँ॥

(१२)

आठौ पहर भकाभक निकरै धुँवाँ जहाँ अक्कास उड़ाय,
कौनी तना, बताओ तुमहीं अक्किल रहै लहुरवा भाय।
ऐसे बुरे सहर माँ रहिकै पाकि उठा सब मगजु हमार,
नीक नकारा हमैं न सूझै मुँहुँ ह्वैगा भुँजवा का भारु॥

(१३)

जिनका निमक मुद्दतिन खावा तानि पट्टा स्वावा भाय,
कलम कुदारी लै उनहिन की जरै वगारै लागेन हाय।
जिन बभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाँथ,
हमरी गारिन के फूलन ते उनहिन के भे बोझिलि माँथ॥

(१४)

घेरे रहैं गाँउ वाले जो मदति देइँ औ राखैं प्रीति,
उनहिन का हम उठि गरियाई असि हमारी भै उलटी रीति।
अपने करमन कै सुधि आये हियरा टूकु टूकु ह्वै जाय,
धरती माता जो तुम फाटौ मै मुँह के बल जाउँ समाय॥

(१५)

गुन जसु मानवु कौनि चीज है सो हम सपन्यौं जानित नाहि,
अस किरतघ्न और जो ढूँढ़ै, मिली न सात बिलाइति माँहिं।
जो हमारि संगी साथी हैं सुख दुख माँ जो सदाँ सहाँय,
उनहुन का अपिमानु करी हम बीच बजार बैठे गोहराय॥

(१६)

घिन लागै अपने मनइन ते उनका पास न आवै घ्यान,
जो कोउ भूलि गाँउँ ते आवै वहिका आड़े हाँथन ल्यान।
कोऊ न जानै को इनके हैं भ्रासरि भाई बन्द भक्वास,
यही ते कामु परै पर हमही घर का दौरी दुइसै क्वास॥

(१७)

अपने मतलब का हम जिनकी चेरिया बिनती करी हजारु;
उनहिन के पीछे परि जाई चाहै हँसैं सकलु संसारु।
पढ़ा गुना हम कुछौ नही ना, जो कुछु सिखा राम का नाउँ,
तहूँ बिरस्पति जो कुछु ब्वालैं वहिमाँ दौरि घुसारी पाउँ॥

(१८)

हमरी नस नस बीच बियापे इरखा औरु लोभ महराज,
उनहिन की दीन्हीं खाइत है रोटी, छाँड़ि लोक कै लाज।
जहिका चही चढ़ाई ऊपर जहिका चही गिराई कीच,
हाय हाय अस हमैं बेगारा सहरु ससुरु यहु है अस नीच॥

(१९)

साफ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाहिं,
बूड़ि मरी जो हम गङ्गा माँ तौ हत्या लागै हम काहिं।
हे भगवान उबारौ हमका दीनदयाल धर्म्म के नाथ,
तुम्हरे पाँयन माँ हम आपन पटकित है यहु फुटहा माथ॥

(२०)

जो हम जनतेन असि गति होई तौ हम हाय न छँड़तेन गाँउँ,
भूँखन चहै मरित, ना लेइत भूलिउ कबौ सहर का नाँउँ।
देखिं हमारि हाल जो कोऊ फिरिउ सहर के आई पास,
तनिकौ चलन कही हम, होई वहिका सब बिधि सत्यानास॥

जनवरी १९०६

१८—प्यारा वतन

(१)

प्यारे वतन हमारे प्यारे,
आजा, आजा, पास हमारे।
या तू अपने पास बुलाकर,
रख छाती से हमें लगाकर॥

(२)

जब तू मुझे याद आता है,
तब दिल मेरा घबराता है।
आँख आँसू बरसाती हैं,
रोते रोते थक जाती हैं ॥

(३)

तुझसे जो आराम मिला है,
दिल पर उसका नक्श हुआ है।
उसे याद कर मैं रोता हूँ,
रो रोकर आँखें धोता हूँ ॥

(४)

कच्चा घर जो छोटा-सा था,
पक्के महलों मे अच्छा था।
पेड़ नीम का दरवाजे पर,
सायबान से था वह बेहतर ॥

(५)

सब्ज़ खेत जो लहराते थे,
दिल को वे कैसे भाते थे।
फर्श मख़मली जो बिछते हैं,
नहीं मुझे अच्छे लगते हैं ॥

(६)

वह जंगल की हवा कहाँ है ?
वह इस दिल की दवा कहाँ है ?
कहाँ टहलने का रमना है ?
लहरा रही कहाँ जमना है ? ॥

(७)

वह मोरों का शोर कहाँ है ?
श्याम घटा घनघोर कहाँ है ?
कोयल की मीठी तानों को,
सुन सुख देते थे कानों को ॥

(८)

ज्यों ही आम पेड़ से टपका,
मैं फ़ौरन लेने को लपका।
चढ़ा उचक कर डाली डाली,
खाईं जामन काली काली ॥

(९)

जब यह मुझे याद आता है,
नहीं मुझे तब कुछ भाता है।
वे दिन क्या फिर कभी मिलेंगे ?
क्या फिर अपने दिन पलटेंगे ? ॥

(१०)

वे लँगोटिये यार कहाँ हैं ?
वे सच्चे ग़मख्वार कहाँ हैं ?
वह घर वह बैठक मन भाई,
क्या फिर कभी मिलेगी भाई ? ॥

(११)

आँख-मिचौनी की वे घातें;
खेल-कूद के दिन और रातें।
हाय कहाँ हैं ! हाय कहाँ हैं !
कहाँ मिलें जो ढूँढ़ा चाहें ? ॥

(१२)

बिछड़ा वतन हुआ यह बेजा,
फटता है सुध किये कलेजा।
ठाठ अमीरी के सब तुझ पर,
मिलै अगर तू, करैं निछावर ॥

फ़रवरी १९०६

१६—जम्बुकी न्याय

एक बाग़ में बहुत पुराना,
पाँच परिन्दों का था थाना ।
बक, बटेर, कौवा, चण्डूल,
दिवाभीत भी नामाक़ूल ॥१॥

एक घोंसला ख़ाली पाया,
सबने उस पर दाँत लगाया ।
अपना अपना हक़ दिखलाने,
लगे कूदने शोर मचाने ॥२॥

कई रोज़ तक हुई लड़ाई,
जीत किसी के हाथ न आई ।
बुड्ढा जम्बुक एक वहाँ पर,
रहता था अपने बिल भीतर ॥३॥

कुनबा भी था उसका वहाँ,
था जिसका वह शाहेजहाँ ।
पास परिन्द उसी के आये,
चोंचें खोले शीश झुकाये ॥४॥

बैठ सब डालों पर दूर,
झपट न मारें कहीं हुजूर।
झटपट उन चिड़ियों ने एक,
अर्ज़ी दी, कर अर्ज़ अनेक ॥५॥

जरठ-शिरोमणि, जम्बुकराज,
न्यायमूर्ति महराजधिराज ।
कर इन्साफ़ हमारा दीजै,
दया-दृष्टि प्रभु हम पर कीजै ॥६॥

दया जरं जम्बुक को आई,
दुम उसने उठ खूब हिलाई।
बोला वह मैं न्याय करूँगा,
शेर बबर से भी न डरूँगा ॥७॥

अपनी अपनी बात सुनाओ,
एक एक सब सन्मुख आओ।
तब बटेर बढ़ आगे आई,
उसने यों कह कथा सुनाई ॥८॥

हे जम्बुक जी, मैं नारी हूँ,
नाजुक-बदनों की प्यारी हूँ।
ऊँचा नीचा मेरा ग्राम,
रम्य रूपिणी मेरा नाम ॥९॥

खुशबू से लिपटी रहती हूँ,
मुँह से जो निकला कहती हूँ।
नव्वाबों की पाली हूँ मैं,
काली होकर लाली हूँ मैं ॥१०॥

शुरू शुरू में मेरा बोल,
था थोड़ा ही गोलंगोल।
अब तो खूब बोलती हूँ मैं,
घर गुलकन्द घोलती हूँ मैं ॥११॥

तीतर की परवाह न मुझको,
मोरों की भी चाह न मुझको।
इनको कभी न मैंने देखा,
पर इन सबका रखती लेखा ॥१२॥

लड़ने में हे जम्बक ज्ञानी,
नहीं कहीं भी मेरा सानी।
सबको मैं मृदु वचन सुनाऊँ,
दुम अपनी दिन रात हिलाऊँ ॥१३॥

मैं अपनी कह चुकी कहानी,
याद पड़ी जो नई पुरानी।
कृपा महाप्रभु मुझ पर कीजै,
मुझे घोंसला दिलवा दीजै ॥१४॥

यह सुन बुड्ढा जम्बक बोला,
सब बातों को उसने तोला।

"वाह न अब कुछ बाक़ी रहा,
ख़ूब कहा जी ख़ूब कहा" ॥१५॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी ख़ूब हुआ",
कह बुड्ढे का क़दम छुआ ॥१६॥

तब बोला चण्डूल बहादुर,
फटकारे पर फुर फुर फुर फुर।
हे जम्बुकवर कान उठावो;
ज़रा और आगे बढ़ आवो ॥१७॥

घर है फतेहगंज में मेरा,
बना हुआ है अब तक डेरा।
रहता मैं थिर नहीं वहाँ हूँ,
भटका फिरता जहाँ तहाँ हूँ ॥१८॥

नाम कुटिललोचन है मेरा,
लज्जा ने है मुझको घेरा।
इससे मुँह न खोलता हूँ मै,
बोली कई बोलता हूँ मैं ॥१९॥

पिजड़े पर परदा डलवाये,
रहता अपना बदन छिपाये।
आँखें मेरी लाली लाली,
चाल अजब है घूँघटवाली ॥२०॥

शब्दमालिका कण्ठ विराजी,
छैल छबीले मुझसे राज़ी।
वही मेरा पिजड़ा लटकाते,
चारा मुझको वही खिलाते ॥२१॥

सतयुग में भी जो पक्षी थे,
वक-मयूर के समकक्षी थे।
उन तक की मैं बोली बोलूँ,
मुँह अपना मैं निर्भय खोलूँ ॥२२॥

वाह कहे या कोई आह,
इसकी नही मुझे परवाह।
समझ पड़े या नहीं कलाम,
मुझे बोलने से है काम ॥२३॥

पहर पहर भर में हे तात,
निकलै मेरे मुंह से बात।
चारा पानी अगर न पाऊँ,
बरसों तक मैं चुप हो जाऊँ ॥ २४॥

मैं हूँ महामहिम चण्डूल,
तूल बहुत क्यों करूँ फ़िजूल।
मैं ही क्यों न घोंसला पाऊँ,
उस पर अपना दखल जमाऊँ ॥ २५॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातों को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाक़ी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥२६॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ,"
कह बुड्ढे का क़दम छुआ ॥२७॥

काकदेव तब सन्मुख आये,
पैर उठाये पर फैलाये।
मै विजयी जयन्त का नाती,
वक्र चाल मुझको अति भाती ॥२८॥

सब चिड़ियों से रहूँ निराला,
तन है आबनूस-सा काला।
मन मेरा अति ही निर्म्मल है,
तरु खोखला विहार-स्थल है ॥२९॥

त्रेतायुग की है यह काया,
मैंने गिना हिसाब लगाया।

यद्यपि इतना वृद्ध कहाऊँ,
बाल मराली से अठिलाऊँ ॥३०॥

रावणारि के मुँह में पैठा,
बरसों रहा पेट में बैठा।
खेला खाया मज़े उड़ाया ;
जब जी ऊबा बाहर आया ॥३१॥

जहाँ कहीं मैं कुछ सुन पाऊँ,
काँव काँव करके घुस जाऊँ।
टेढ़ी गर्दन कर चिल्लाऊँ,
अपनी खिचड़ी अलग पकाऊँ ॥३२॥

कुछ चिड़ियों में जाता हूँ मैं,
अपनी चाल सिखाता हूँ मैं।
यदि थोड़ा पा जाता हूँ मैं,
अति कृतार्थ हो जाता हूँ मैं ॥३३॥

एक बात से मैं घबराऊँ,
खाने को न पेट भर पाऊँ।
इससे मैं सब दिवस भटकता,
सिर अपना सब कहीं पटकता ॥३४॥

ग्रास मुझे यदि मिल जाता है,
दिल मेरा खुश हो जाता है।
वरना घर ही में मर जाऊँ,
या दुबला हो बाहर आऊँ ॥३५॥

पहले था मैं बड़ा बहादर,
करते थे सब मेरा आदर।
पञ्चतन्त्र में महापुरानी,
मेरी भी है एक कहानी ॥३६॥

एक बार उल्लू उड़ सारे,
घुसे एक बिल में बचारे।
उसमें आग लगाई मैंने,
सबकी खाक बनाई मैंने ॥३७॥

जो कहना था तुम्हें सुनाया,
जम्बक जी कुछ नहीं छिपाया।
जो न घोंसला पाऊँगा मैं,
आफ़त भारी ढाऊँगा मैं ॥३८॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातों को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाक़ी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥३९॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह, बुड्ढे का क़दम छुआ ॥४०॥

वीर वकासुर मेरा नाम,
मुनियों का-सा मेरा काम।
धाम बताऊँ अपना कहाँ,
जहाँ मुझे देखो मैं वहाँ ॥४१॥

गङ्गा, यमुना, या तालाब,
जहाँ कहीं थोड़ा भी आब।
वहीं पहुँच झट जाता हूँ मैं,
जाकर घात लगाता हूँ मैं ॥४२॥

पानी यदि कम हो जाता है,
मेरा भी दिल फट जाता है।
और कहीं मैं उड़ जाता हूँ,
सजल देख फिर आ जाता हूँ ॥४३॥

अद्भुत मेरी सुन्दरताई,
मूर्ति मनोहर मैंने पाई।
नव पल्लव-से पैर लाल हैं,
चिपटी चोंच सफ़ेद बाल हैं ॥४४॥

मछली मुझे सुधा-सी भाती,
मुँह में रखते ही धँस जाती।

यदि मेंढकी सामने आती,
वह भी कभी न बचने पाती ॥४५॥

मुझसे कोई ताल न बचता,
पहुँच महाभारत मै रचता।
जीव-जन्तु ग़ारत हो जाते,
आर्त्तनाद करते चिल्लाते ॥४६॥

जब मुझको कुछ दिन हो जाते,
घोंघे तक न मुझे पतियाते।
तब मै उन्हें छोड़ देता हूँ,
और कही का पथ लेता हूँ ॥४७॥

देख मुनिवरों का-सा ध्यान,
मिलै नही मेरी पहचान।
धीरे धीरे खुलता भेद,
तब पाता मैं खरतर खेद ॥४८॥

देख रूप, सुन मधुरी वानी,
चिड़ियाँ मुझे बतातीं ज्ञानी।
पर क्या हूँ, सो मै ही जानूँ,
मैं ही अपने को पहचानूँ ॥४९॥

एक बार मैं गया फँसाया,
चिड़ीमार ने जाल बिछाया।
बहुत दिनों तक मुझे सताया,
रो रो मैंने प्राण बचाया ॥५०॥

हंसों से है मेरा नाता,
चिड़ियों को मैं यही सुझाता।
यदि कोई ख़िलाफ़ कुछ कहता,
मैं उसको खा जाना चहता ॥५१॥

हे जम्बुक, हे सुघर शृगाल,
इतना ही है मेरा हाल।
वह घोंसला मुझे दिलवावो,
महाप्रलय तक यश फैलावो ॥५२॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातों को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाक़ी रहा,
ख़ूब कहा जी ख़ूब कहा" ॥५३॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी ख़ूब हुआ"—
कह बुड्ढे का क़दम छुआ ॥५४॥

हा ! हा ! हा ! यह मैं अब आया,
मेरा रूप मुझी को भाया।
सुनो ज़रा तुम मेरी बात,
बड़े मियाँ जी तसलीमात ॥५५॥

मेरा रंग ज़रा कुछ काला,
घुग्घू हूँ मैं सब घर घाला।
पन्थ चलाया मैंने कामिल,
अक्लमन्द सब उसमें शामिल ॥५६॥

छिपा रहा मैं बालकपन में,
पड़ा हुआ था निर्ज्जन वन में।
बड़ा हुआ तब बाहर आया।
उड़ना मुझको गया सिखाया ॥५७॥

एक गाँव का ऊँचा खँडहर,
जन्मभूमि मेरी है सुन्दर।
ख़ाक वहाँ की मैंने छानी,
हुआ कहीं तब इतना ज्ञानी ॥५८॥

छोड़ा मैंने अपना थान,
पहुँचा जहाँ स्फटिक की खान।
रात हुई मैं उसमें पैठा,
दर्ज देख भीतर घुस बैठा ॥५९॥

गिरी एक पत्थर की ढेरी,
टूट गई कुछ बाजू मेरी।

तब मैं लौट वतन को आया,
घर न देख जी में घबराया ॥६०॥

वहाँ दरी यक मैंने पाई,
घुसा उसी में जान बचाई।
हुआ न मेरा वहाँ गुज़ारा,
फिरा कुछ दिनों मारा मारा ॥६१॥

चूना, पत्थर, जहाँ निकलता,
स्वस्थ शिकार वहाँ से मिलता।
मुझे नहीं यह अच्छा लगा,
तब मै एक गाँव को भगा ॥६२॥

सीखा इल्म शिकारी वहाँ,
रात रात भर जहाँ तहाँ।
पक्का हुआ मश्क़ हो गई,
फ़िक्र न अब मुझको रह गई ॥६३॥

तब ई जानिब अन्त सिधाये,
खँडहर जहाँ पड़े मन भाये।
अब न वहाँ से हटता हूँ मैं,
मोटा हुआ, न घटता हूँ मै ॥६४॥

बाज बहादुर तक को डाटा।
बड़े बड़े चूहों को काटा।
गर उक़ाब को भी मैं पाऊँ,
झूठ नही है, मजे चखाऊँ ॥६५॥

जितने जीव-जन्तु निशिचारी,
उतने मेरे आज्ञाकारी।
अगर न वे मुझको खुश रक्खें,
जल्द किये का फल वे चक्खें॥६६॥

नही रोशनी मुझे सुहाती,
नज़र मुझे जल्दी लग जाती।
इससे मैं दिन में डरता हूँ,
छिपा हुआ सब कुछ करता हूँ॥६७॥

शुक, पिक अगर सामने आवें,
मुझे देखकर घबरा जावें।
मोरो को भी मै फटकारूँ,
दौड़ दौड़कर चोचें मारूँ ॥६८॥

लेकिन कोई और परिन्दा,
गर इनको दिखलावै दन्दाँ।
उसको मै कच्चा खा जाऊँ,
ज़रा नही मै दया दिखाऊँ ॥६९॥

है ये सब मेरा ही माल,
मैं ही हूँ इन सबका काल।
पास और जो इनके जावे,
वह मेरा शिकार हो जावे ॥७०॥

चिमगादड को गर मै पाऊँ,
उसकी खता माफ फ़रमाऊँ।
मेरा वही हकीक़ी भाई,
सच कहता हूँ राम-दुहाई ॥७१॥

जिसने जानी मेरी किल्ली,
उससे मै हो जाता बिल्ली।
सत्य सूर्य्य जब मुझे दिखाता,
अन्धकार में मैं छिप जाता ॥७२॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातों को उसने तोला।
"अब न और तकलीफ़ उठावो,
डिगरी लेकर घर भग जाओ" ॥७३॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खड़े हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह बुड्ढे का क़दम छुआ ॥७४॥

गिरगिट एक वहीं रहता था,
ज्ञानी अपने को कहता था।

बदल बदल कर रंग हज़ार,
उसे हुआ था बुद्धि-विकार ॥७५॥

उसकी प्रिया छिपकली काली,
सुन्दरता-मद से मतवाली ।
उसने अण्डे देना चाहा,
बोली मेरे आलीजाहा ॥७६॥

जिसके जो कुछ जी में आया,
अपना राग सभी ने गाया ।
दिवाभीत ने डिगरी पाई,
यह सुन मुझे रुलाई आई ॥७७॥

है घोंसला बहुत वह सुन्दर,
अण्डे देती उसके भीतर ।
ज्ञान कहाँ सब तुमने खोया,
किस रंगत में उसे डुबोया ॥७८॥

पास दौड़ जम्बुक के जावो,
अपना ज्ञानीपन दिखलावो ।
लावो छीन घोंसला मेरा,
लगै उसी मे कल से डेरा ॥७९॥

तब गिरगिट ने शीश उठाया,
गिनकर बारह बार हिलाया ।
कहा इसी दम मैं जाता हूँ,
छीन घोंसला ले आता हूँ ॥८०॥

जन्तु सृष्टि के सारे ज्ञानी,
मेरे हाथों पीते पानी ।
वर मैंने गिरिधर से पाया,
बिना पढ़े सब मुझको आया ॥ ८१॥

यह कह, वह जम्बुक के घर,
दौड़ा सरपट सर सर सर।
द्विजपति वैनतेय विख्यात,
मिले उसे, भावी की बात ॥८२॥

उनका पैर पड़ गया उस पर,
उखड़ी दुम दो टुकड़े होकर।
गिरगिट भगा छिपकली पास,
हुए बाख्ता होश-हवास ॥८३॥

छोड़ी सब डिगरी की आस-
हुआ पूँछ का सत्यानाश।
मरहमपट्टी खूब चढ़ाई,
किसी तरह से जान बचाई ॥८४॥

हुआ जम्बुकी न्याय तमाम,
सब सन्तों को मेरा सलाम।
भूल चूक कर दीजे माफ़,
बात सदा मैं कहता साफ़ ॥८५॥

मार्च १९०६

२०—गौरी

(१)

पर्वतपति-मेना की प्यारी,
है यह शैलसुता सुकुमारी।
रुचिर रूप अति इसने पाया,
विधि ने स्वयं इसे निर्माया॥

(२)

हिमकर में जो सुन्दरता है,
कमलों में जो कोमलता है।
जहाँ जहाँ लावण्यता है,
जिसमें जितनी गुण-गुरुता है॥

(३)

जब एकत्र उन्हें कर पाया,
तब विधि ने अभ्यास बढ़ाया।

फिर उसने यह रूप बनाया,
सुन्दरता-समूह उपजाया ॥

(४)

हर को इसने वरना चाहा,
मोहित उनको करना चाहा।
बहुविधि हाव-भाव कर हारी,
विफल हुई पर इच्छा सारी॥

(५)

शिव ने काम भस्म कर डाला,
बहुत निराश हुई तब बाला।
कठिन तपस्या तब विस्तारी,
गौरी गौरी-शिखर सिधारी॥

(६)

बरसों वहीं बिताया इसने,
क्लेश कठोर उठाया इसने।
तप से गात सुखाया इसने,
मुनियों को शर्माया इसने ॥

(७)

इसकी देख तपस्या भारी,
हुए द्रवित कैलाशबिहारी।
की तब सब इसकी मनभाई,
कुछ दिन में यह हर-घर आई ॥

(८)

मृत्युञ्जय पति इसने पाया,
प्रेमपाश से बद्ध बनाया।
तन पति का आधा अपनाया,
अपना अति सौभाग्य बढ़ाया॥

(९)

तब से त्रिभुवन में विख्याता,
गौरी हुई जगत की माता।

दिन दिन महिमा अधिकाती है,
घर-घर में पूजी जाती है ॥

(१०)

इसका चित्र मनोहारी है,
कौशल इसमें अति भारी है।
रविवर्मा की बलिहारी है,
जिसकी ऐसी कृति कारी है।

मार्च, १९०६

२१——आर्य्य-भूमि

["Message to young men" नामक दसवें नम्बर के मराठी पत्र का भावार्थ।]

(१)

जहाँ हुए व्यास मुनि-प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(२)

जहाँ हुए साधु महा महान्,
थे लोग सारे धन-धर्म्मवान्।
जो थी जगत्पूजित धर्म्म-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(३)

जहाँ सभी थे निज धर्म्मधारी,
स्वदेश का भी अभिमान भारी।
जो थी जगत्पूजित पूज्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(४)

हुए प्रजापाल नरेश नाना,
प्रजा जिन्होंने सुत-तुल्य जाना।
जो थी जगत्पूजित सौख्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(५)

वीरांगना भारत-भामिनी थी,
वीरप्रसू भी कुल-कामिनी थी।
जो थी जगत्पूजित वीर-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(६)

स्वदेश-सेवी जन लक्ष लक्ष,
हुए जहाँ हैं निज-कार्य्य दक्ष।
जो थी जगत्पूजित कार्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(७)

स्वदेश-कल्याण सुपुण्य जान,
जहाँ हुए यत्न सदा महान।
जो थी जगत्पूजित पुण्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(८)

न स्वार्थ का लेश ज़रा कही था,
देशार्थ का त्याग कहीं नही था।
जो थी जगत्पूजित श्रेष्ठ-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(९)

कोई कभी धीर न छोड़ता था,
न मृत्यु से भी मुँह मोड़ता था।
जो थी जगत्पूजित धैर्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि॥

(१०)

स्वदेश के शत्रु स्वशत्रु माने,
जहाँ सभी ने शर-चाप ताने ।
जो थी जगत्पूजित शौर्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(११)

अनेक थे वर्ण तथापि सारे,
थे एकताबद्ध जहाँ हमारे ।
जो थी जगत्पूजित ऐक्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(१२)

थी मातृ-भूमि-व्रत-भक्ति भारी,
जहाँ हुए शूर यशोऽधिकारी ।
जो थी जगत्पूजित कीर्त्ति-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(१३)

दिव्यास्त्र विद्या बल; दिव्य यान,
छाया जहाँ था अति दिव्य ज्ञान ।
जो थी जगत्पूजित दिव्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(१४)

नये नये देश जहाँ अनेक,
जीते गये थे नित एक एक ।
जो थी जगत्पूजित भाग्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(१५)

विचार ऐसे जब चित्त आते,
विषाद पैदा करते, सताते ।
न क्या कभी देव दया करेंगे ?
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ? ।।

अप्रैल १९०६

२२—शहर और गाँव

(१)

शहर गाँव से बोला भाई।
मुझको तुझ पर मिली बड़ाई॥
मुझसे सबको बहुत नफ़ा है।
तुझसे तो हर शख़्स ख़फ़ा है॥

(२)

मै आराम बहुत देता हूँ।
काम बहुत से मैं करता हूँ॥
अच्छे अच्छे माल बनाकर।
रख देता हूँ सजा सजा कर॥

(३)

मैं पूरी पकवान, मिठाई।
देता हूँ सब बनी-बनाई॥
बिसकुट, रोटी, नानखताई।
मक्खन, रबड़ी, दूध, मलाई॥

(४)

और बहुत से उम्दा खाने।
सबको देता हूँ मनमाने॥
रात-बिरात किसी दम आवे।
थका मुसाफ़िर खाना पावे॥

(५)

टिक रहने के बहुत ठिकाने।
अच्छे बने मुसाफ़िरख़ाने॥
जो कुछ चाहे सब मिलता है।
मुरझाया दिल भी खिलता है॥

(६)

थान रेशमी, ऊनी, सूती।
अच्छी भड़क, बड़ी मज़बूती॥
ख़ासा, मलमल, नैनू, लट्ठा।
मख़मल, साटन, गोटा, पट्ठा॥

(७)

लोई, धुस्सा, शाल, दुशाला।
मिले एक से एक निराला॥
मोती मूँगा, चाँदी, सोना।
ज़ेवर, बरतन और खिलौना॥

(८)

तेरा भी हूँ बहुत सहारा।
मुझसे तेरा बड़ा गुज़ारा॥
लेकर पैदावारी तेरी।
देता हूँ दौलत बहुतेरी॥

(९)

क़र्ज़ तभी सिर से टलता है।
काम तभी तेरा चलता है॥
तेरे हैं बहुतेरे दुश्मन।
चोर, लुटेरे, साह्-महाजन॥

(१०)

मुझ बिन तुझे चैन से रहना।
भाई मुश्किल है, सच कहना॥
जजी मुन्सिफ़ी, मैजिस्ट्रेटी।
मैंने तेरे लिए समेटी॥

(११)

हाकिम, अहलकार, बैरिस्टर।
सब बिठलाये तेरी खातर॥
बैद, हकीम डाक्टर, सरजन।
जो हैं सब रोगी के दुश्मन॥

(१२)

ये सब तुझे मदद देते हैं।
बिगड़ा काम बना देते हैं॥
जो मेरा एहसान न माना।
तो है तू पूरा दीवाना॥

(१३)

गाँव हँसा सुनकर ये बातैं।
कहा, जानता हूँ सब घातैं॥
जो यह सान जताते हो तुम।
बातैं बड़ी बनाते हो तुम॥

(१४)

अपने गुन सब गाते हो तुम।
सब्ज़बाग़ दिखलाते हो तुम॥
सबको खूब लुभाते हो तुम।
खोटी चाल चलाते हो तुम॥

(१५)

ऐसी चाट लगाते हो तुम।
ऐसे ठाट बनाते हो तुम॥
पहले जी बहलाते हो तुम।
पीछे खूब रुलाते हो तुम॥

(१६)

जो मीठी बातों मे आवे।
पीछे सिर धुनकर पछतावे॥
मैं अपने घर ही में ख़ुश था।
तुमने मुझको किया निकम्मा॥

(१७)

अब तुम मेरी सुनो कहानी।
हुई बड़ी मुझसे नादानी॥
जब मै पास तुम्हारे आया।
अपना सारा भरम गँवाया॥

(१८)

सारे दुख, तक़लीफे सारी।
मिली मुझे तुमसे कर यारी॥
पहले दुनिया में मैं ही था।
कोई दुख उस वक्त नही था॥

(१९)

खुली, साफ़ बेरोग हवा में।
जो गुन है, वह नहीं दवा में ॥
पहले तुम थे कहाँ? बताओ।
कौन काम था रुका? जताओ ॥

(२०)

किसको क्या तकलीफ़ रही थी?
किसको क्या उस वक्त कमी थी ॥
खुली हवा में रहते थे सब।
खाते, पीते, सोते थे सब ॥

(२१)

सब चंगे थे; रोग नहीं था।
जूड़ी, प्लेग, बुखार नहीं था ॥
सादा खाना सब खाते थे।
पच जाता था, सुख पाते थे ॥

(२२)

दूध दही की कमी नहीं थी।
गाय-भैंस की क्या गिनती थी ॥
तुमने अब जो चाट लगाई।
उसने बीमारी फैलाई ॥

(२३)

तब बैदों की चाह नहीं थी।
रोग न थे, परवाह नहीं थी ॥
जड़, फल, फूल, राह में चुनकर।
भर लेते थे पेट मुसाफ़िर ॥

(२४)

अब भी मेरा हाल वही है।
सीधी-सादी चाल वही है ॥
तुमसे क्या आराम किसी को?
दुख ही दुख है सबके जी को ॥

(२५)

जो सुख मैं सबको देता हूँ।
उसका बदला कब लेता हूँ?
मुझमें है आराम अनूठा।
मुझसे ख़फ़ा रहे वह झूठा॥

(२६)

सब सामान जो तू रखता है।
मेरा पैदा किया हुआ है॥
मेरी ही मिहनत का फल है।
जिससे तुझको इतना बल है॥

(२७)

छल फ़रेब सब करते हो तुम।
मार और को मरते हो तुम॥
काम अदालत से क्या हमको।
क्या वकील की परवा हमको?

(२८)

तुम झूठे इलज़ाम लगाकर।
ले आते हो फँसा-फँसाकर॥
ज़ेवर जरी वग़ैरह चीज़ें।
तुम्हें मुबारिक़ रहें तमीज़ें॥

(२९)

ग़ौर करो तो मुझको जानो।
दिल में सोचो तो पहचानो॥
अपने मुँह से सभी बड़े हैं।
तुमसे मिल लाखों बिगड़े हैं॥

अप्रैल १९०६

२३—शरीररक्षा

धर्म्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
—चरक

शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्।
—कालिदास।

(१)

शरीर ही के हित काम सारे,
शरीर ही से सुख है हमारे।
आत्मा नहीं धार्य्य बिना शरीर—
जैसे बिना पिञ्जरबद्ध कीर॥

(२)

शरीर से पुण्य, परोपकार,
शरीर ही है गुण का अगार।
शरीर ही है सुर-लोक-द्वार,
शरीर ही से सुविचार-सार॥

(३)

शरीर ही से पुरुषार्थ चार
शरीर की है महिमा अपार।
शरीर-रक्षा पर ध्यान दीजै,
शरीर-सेवा सब छोड़ कीजै॥

मई १९०६

२४—गंगा-भीष्म

(१)

पाठक, सुनिए कथा पुरानी,
थे मुनिवर वसिष्ठ विज्ञानी।
पास अष्ट वसु उनके आये,
उनसे गये मुनीश सताये॥

(२)

क्रोध उन्हें इससे हो आया,
वसुओं को यह शाप सुनाया।
"जन्म जगत में लो तुम सारे,
वचन अन्यथा नहीं हमारे" ॥

(३)

यह सुनकर वे सब घबराये,
कम्पित हुए होश में आये।
भागीरथी समीप सिधाये,
वचन विशेष विनीत सुनाये ॥

(४)

"हे सुरसरि! विपत्ति के मारे,
आये हैं हम पास तुम्हारे।
जग मे जननी बनो हमारी,
करो हमें निज कृपाधिकारी" ॥

(५)

सुरसरि ने इनको स्वीकारा,
वसु-गण अपनी पुरी पधारा।
हुई जह्नु-तनया तब नारी,
रूप-राशि अद्भुत विस्तारी ॥

(६)

देखा नृप शान्तनु ने उसको,
मदन-विमर्दित-तनु ने उसको।
तब वह उस नरेश की रानी,
हुई, बहुत उसके मनमानी ॥

(७)

हुए सात उसके सुत सुन्दर,
वसुओं के औतार मनोहर।
उनको उसने जल मे डाला,
पहले किया हुआ प्रण पाला ॥

(८)

जब देवव्रत अष्टम बालक,
प्रकटा भीष्म-प्रतिज्ञा-पालक ।
सुत-स्नेह से नृप घबराया,
सुरसरि को बहुविधि समझाया ॥

(९)

सूक्ति-युक्त सुन उसकी वाणी,
द्रवित हो गई गंगा रानी ।
उसने वह सुत हाथ उठाया,
इस प्रकार वर-वचन सुनाया ॥

(१०)

"हे नृप मुझको सुरसरि जानो,
बात सत्य यह मेरी मानो ।
कारण-वश जग में आई मै,
यहाँ तुम्हारे मन भाई मैं ॥

(११)

"अब मै अपने घर जाती हूँ,
नही यहाँ रहने पाती हूँ ।
सुनो बात जो बतलाती हूँ,
यह सुत तुम्हें दिये जाती हूँ ॥

(१२)

"वैरी इससे घबड़ावेगे,
पार नही इससे पावेगे ।
यदि कोई सम्मुख आवेंगे,
तत्क्षण ही मारे जावेंगे ॥

(१३)

ब्रह्मचर्य्य व्रत इसका होगा,
यश न कभी मृत इसका होगा ।
पण्डित होगा, सच कहती हूँ,
अनुमति चलने की चहती हूँ ॥

(१४)

जो कोई जग में आता है,
सुख-दुख दोनों ही पाता है।
विधि ही यह जोड़ा निर्म्माता,
यह न किसी से तोड़ा जाता॥

(१५)

यह कह सुरसरि ने सुत दिया,
सुरपुर का पथ उसने लिया।
उसका चित्र विचित्र बना है,
नृप रविवर्मा की रचना है॥

मई, १९०६

२५—कर्तव्य पञ्चदशी

["Message to youngmen" नामक चौथे नम्बर के मराठी पत्रक का भावार्थ]

(१)

दुर्भिक्ष-राक्षस जहाँ सबको सताता,
लाखों मनुष्य यह प्लेग-कृतान्त खाता।
नाना विपत्ति-अभिभूत प्रजा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(२)

भूखों जहाँ मर रहे नर हैं करोर,
बे-वस्त्र लोग सहते नित शीत घोर।
दारिद्र-दुःख नित ही बढ़ता जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(३)

आरोग्य-युक्त बलयुक्त सपुष्ट-गाता,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(४)

वीर्य्यादि दिव्य गुण का न जहाँ ठिकाना,
द्रोहादि दुर्गुण जहाँ सब ओर नाना।
धैर्य्यादि का अति अभाव सदा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(५)

सेवा श्ववृत्ति सब काल जहाँ हमारी,
फैली जहाँ पर विदेशज वस्तु सारी।
देशी कला सकल नष्ट हुई जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(६)

पाता न शिक्षण जहाँ शिशु-वृन्द सारा,
बाला-समूह सब मूर्ख जहाँ हमारा।
नाना कला-कुशलता न कहीं जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(७)

विद्वज्जन-प्रिय जहाँ परकीय भाषा,
होती तिरस्कृत जहाँ निज मातृ-भाषा।
ऐसी अनर्थकर-रीति भला जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(८)

सानन्द और सुख-युक्त जहाँ न नारी,
पाते जहाँ पुरुष भी नित कष्ट भारी।
तेजोविहीन शिशु-वृन्द अहो! जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(९)

स्वीकार लोग करते न नई सु-रीति,
प्राचीन है—न तजते इससे कु-रीति।
दुर्दैव-योग यह फैल रहा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(१०)

स्वाधीन-काम श्रम-काम जहाँ न प्यारे,
दासत्व में जन जहाँ रममाण सारे।
दासत्व-दुर्गुण निमग्न सभी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(११)

अन्योन्य-वैर-रत वर्ण जहाँ समस्त,
ज्ञानी, अज्ञान सब हैं कलह-प्रसक्त।
साम्राज्य मोहमद-मत्सर का जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१२)

उत्साह-हीन कृति-विन्मुख लोक-नेता,
औदास्य-भाव अति दुःसह दुःख देता।
है धर्म्म क्या ? न यह ज्ञान कही जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१३)

कर्तव्य लोग करते न जहाँ सदैव,
होता सहायक वहाँ न कदापि दैव।
पाता न मान यह तत्त्व भला जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१४)

है भूतकाल सब स्वप्न-कथा-समान,
चिन्ता-निमग्न निशि-वासर वर्तमान।
नैराश्यपूर्ण अगली गति भी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१५)

अत्यन्त दीन यह भारतवर्ष देश,
दुःखाग्नि-दग्ध विनती करता विशेष।
अत्यल्प भक्ति मम हाय ! नहीं जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

जून १९०६

—कवि और स्वतंत्रता

(भावार्थ)

(१)

कवि—हे स्वतंत्रते ! जन्म तुम्हारा
कहाँ ? बता, यह प्रश्न हमारा।
स्वतंत्रता—शूर देश-हित तजते जहाँ
प्राण, जन्म मेरा है वहाँ ।

(२)

कवि—बता, निवास कहाँ तेरा है ?
यह भी एक प्रश्न मेरा है।
स्वतंत्रता—उष्ण रक्त जिन हृदयों भीतर
बहता, वही वास मम सुन्दर ।

(३)

कवि—कौन दुःख तेरे हरता है ?
आशा पूर्ण कौन करता है ?
स्वतंत्रता—काल, जगत का उन्नतिकर्ता
आशापूरक दुख का हर्ता

(४)

कवि—शक्तिमूल तव कहाँ बता दे ?
है किस जगह मुझे दिखला दे ?
स्वतंत्रता—प्रजा-पीड़ना होती जहाँ
शक्ति-मूल मम रहता वहाँ ।

(५)

कवि—कहाँ निडर हो रहती तू है—
जाना कहीं न चहती तू है ?
स्वतंत्रता—जहाँ न भेद-विरोध-विकास
वही निडर मैं करती वास ।

(६)

कवि—कब तू जन्म सफल जानेगी ?
कब कृतार्थता तू मानेगी ?
स्वतंत्रता—शान्तिराज्य जब पाऊँगी मैं ।
तब कृतार्थ हो जाऊँगी मैं ॥

जुलाई १९०६

२७—देशोपालम्भ

(१)

हे भाग्यहीन ! हत ! भारतवर्ष देश !
हे हे विनष्ट-धन-धान्य-समृद्धि-लेश !
प्राचीन-वैभव-विहीन ! मलीन-वेश !
हा हा ! कहाँ तव गई गरिमा विशेष ?

(२)

जो थे प्रणम्य पहले तुम कीर्तिमान,
विज्ञान और बल-विक्रम के निधान।
सम्पत्ति, शक्ति निज खोकर आज सारी,
हा हा ! हुए तुम वही सहसा भिखारी ॥

(३)

स्वाधीनता-सदृश वस्तु न और प्यारी,
हे दीन-देश ! वह भी न रही तुम्हारी !
व्यापार एक तुमको कर खूब आया,
आलस्य-मोह-मद-मत्सर-मंत्र भाया ॥

(४)

हा ! सभ्यभाव तुमने जिनको सिखाया,
विद्या-कलादि गुण से जिनको लजाया।
देखो, वही अब असभ्य तुम्हें बनाते,
तौभी कभी न कुछ भी तुम चित्त लाते ॥

(५)

आत्माभिमान-गुण के अतिमात्र त्यागी,
हे देश ! क्यों न तुम डूब मरे अभागी ?
आत्मावलम्ब जिसको कुछ भी न प्यारा,
देता उसे न जगदीश्वर भी सहारा ।।

(६)

दिव्यातिदिव्य तव रत्न, अहो, कहाँ है ?
शोभा-समूह पट-पुञ्ज, कहो, कहाँ है ?
खोया सभी कुछ; न, हाय, तुम्हें हया है !
हे देश ! शेष तुममें रह क्या गया है ?

(७)

निःसार होकर पड़े तुम जी रहे हो,
पानी सदैव पर के कर पी रहे हो ।
अन्यावलम्ब-सम और न पाप भारी,
बोलो, गई विमल बुद्धि कहाँ तुम्हारी ?

(८)

हे आत्मशत्रु ! परदेशज वस्तु त्यागो,
सौ कोस दूर उससे सब काल भागो ।
जागो, चहो यदि अभी अपनी भलाई,
क्यों आँख मूँद करते निज नाश भाई ?

(९)

क्यों है तुझे पट विदेशज, देश, भाये ?
क्यों है तदर्थ फिरता मुँह नित्य बाये ?
तूने किया न मन में कुछ भी विचार,
धिक्कार भारत ! तुझे शत-कोटि बार !

(१०)

सूई, छड़ी तक, निकृष्ट दियासलाई,
लेता सदैव सुख से फिरता पराई ।
निर्लज्ज ! सोच मन में कर क्या रहा है ?
क्यों व्यर्थ ही धन अपार लुटा रहा है ?

(११)

लूटा तुझे बहुत बार खुले-ख़ज़ाना,
तातार-गोर-ग़जनी नृप ने न माना।
पै लूट, आज-कल, जो यह हो रही है,
तू सोच देख उससे बढ़के कहीं है।।

(१२)

छाई जहाँ अति अपार दरिद्रता है,
प्राचीन धान्य-धन का न कही पता है।
सुप्राप्य पेट भर नित्य जहाँ न दाना,
क्या चाहिए धन वहाँ पर यों लुटाना?

(१३)

जो जो पदार्थ तुमको अपने बनाये,
है प्राप्य, लो तुम वही; न छुवो पराये।
लावो न गे वचन जो मन में हमारा,
तो सर्वनाश अब दूर नहीं तुम्हारा।।

(१४)

हे देश! स-प्रण विदेशज वस्तु छोडो,
सम्बन्ध सर्व उनसे तुम शीघ्र तोड़ो।
मोड़ो तुरन्त उनसे मुँह आज से ही;
कल्याण जान अपना इस बात में ही।।

(१५)

हे दीन-देश! तव निद्य परायलम्ब,
नाशै समूल, सुखकारिणि शक्ति अम्ब।
त्यागो तुरन्त विष-तुल्य विदेश वस्तु,
सानन्द पाठक! कहो तुम भी 'तथास्तु'।।

"स्वदेशी-आन्दोलन और बायकाट" अगस्त १९०६

२८—काव्यकुब्ज-अबला-विलाप*

(१)

प्यारे पिता, पुत्र-वर, भाई—बन्धु आदि जो सारे हैं,
ससुर, जेठ, देवर, पति, पुरजन जो जग बीच हमारे हैं।
दयादृष्टि करिए थोड़ी-सी सुनिये हम क्या कहती हैं,
अबला होकर सबलों के घर किस प्रकार हम रहती हैं ॥

(२)

कितने ही तुम मजिस्ट्रेट जज न्यायासन के अधिकारी,
बड़े शरम की बात दुःख जो पावें तुमसे ही नारी ।
अब तक रहीं पेट मे डाले दुख अपने भारी भारी,
पर अब नही सही जाती है विपति मर्म्म-कन्तनकारी ॥

(३)

अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है,
निकल पेट के भीतर से वह मुँह में आ आ जाता है ।
किया कौन अपराध हाय कुछ नही समझ में आता है,
निरपराध निर्बल नारी-गण वृथा सताया जाता है ॥

(४)

यदि न जगत में होवें हम तो नाश नरों का हो जावे,
रक्खी रहे बुद्धि, विद्या, बल, काम नहीं कुछ भी आवे ।
ध्रुव, प्रहलाद, व्यास, शङ्कर ने जन्म हमीं से पाया है,
मनुज-रत्न जो हुए सभी को हमने गोद खिलाया है ॥

(५)

जिस घर में हम नहीं, शीघ्र ही बियाबान हो जाता है,
क़दम हमारे पड़ते ही वह नन्दनवन बन जाता है ।
दुख में हम जी-जान होमकर साथ तुम्हारा देती हैं,
तुम्हें खिलाकर रूखा-सूखा जो बचता खा लेती हैं ॥

---

* यह कविता कन्नौज में, कान्यकुब्ज-महासभा के अधिवेशन में पढ़ी गई थी ।

(६)

"जहाँ हमारा आदर होता वही देवता करते वास,
जहाँ निरादर होता वह घर हो जाता है सत्यानाश ।"
देखो खोल पोथियाँ अपनी यह मनु जी की वानी है,
तुममे से किससे किससे यह गई यथा-विधि मानी है ? ॥

(७)

सच पूछो तो हम, हे भाई, अपने घर की महरानी,
खुशियों में हम खुशी मनावें दुख में ज़रा न घबरानी ।
पड़ने पर विपत्ति हमसे ही मिलता तुम्हें दिलासा है,
"भीरु" बनाया तिस पर हमको तुमने अजब तमाशा है ॥

(८)

इज्ज़त और आबरू सारी जिस पर तुम इतराते हो,
सोचो ज़रा, बन्धुवर प्यारे, उसे कहाँ से पाते हो ?
अगर नेकचलनी में हमसे ज़रा भूल हो जाती है,
चाहो यत्न करो तुम लाखों फिर न हाथ वह आती है ॥

(९)

पति को देव-तुल्य हम मानें बच्चों की भी दासी हैं,
सेवा सदा करें नहि सोचें भूखी हे या प्यासी हैं ।
धर्म्म-कर्म्म तुम जिसे पुकारो उसे हमी में पाओगे,
सोचो-समझो अभी, नही तो फिर पीछे पछताओगे ॥

(१०)

यदि अभाग्यवश अपने पति का चिर वियोग-दुख पाती है,
परिणामों पर ध्यान न देकर जीती ही जल जाती है ।
दुराचरण मे तुम्हें देख रत बिलख बिलख रह जाती है,
वश कुछ नहीं करें क्या तुमसे केवल हाहा खाती है ॥

(११)

पैदा जहाँ हुई हम घर में सन्नाटा छा जाता है,
बड़े बड़े कुलवानों का तो मुँह फीका पड़ जाता है ।
कन्या नहीं बला यह कोई यही चित्त मे आता है,
किसी किसी के ऊपर मानों वज्रपात हो जाता है ॥

(१२)

हे भगवान! भला फिर क्यों तुम हमें हाय उपजाते हो?
क्या न हमारे लिए ठिकाना कहीं और तुम पाते हो?
नारी, नर, दोनों ही जग में यदि प्रभु तुम्ही पठाते हो,
तो कहिए किसलिए दयामय! पक्षपात दिखलाते हो॥

(१३)

जो बच गईं मौत के मुँह से जल्द बड़ी हो जाती हैं,
माता, पिता, बन्धुवर्गों के हुक्म सदैव बजाती हैं।
काम महा मैले घर के सब करने में न लजाती हैं,
जो कुछ मिल जाता खा-पीकर ख़ुशी ख़ुशी सो जाती हैं॥

(१४)

कूड़ा, करकट, बर्तन, चौका, गोबर सदा उठाती हैं,
शिक्षा और कला-कौशल में इतना ही सिख पाती हैं।
जो विद्या पुरुषों को सुखकर सुधा-सदृश मङ्गलकारी,
वही हमारे लिए विषम विष, विमल बुद्धि की बलिहारी॥

(१५)

ब्याह-योग्य होने पर दुःखित होती, लाजों मरती हैं,
काँटे-सी सबके आँखों में निशि-दिन खरका करती हैं।
कितनी ही आमरण कुवाँरी हममें से रह जाती हैं,
मन ही मन सन्ताप-ताप से तन चुपचाप जलाती हैं॥

(१६)

यदि कुलीन निर्धन के घर मे जन्म हमारा होता है,
तो अबला-समुदाय जन्म भर हाय सभी सुख खोता है॥
बीस वर्ष में यदि विवाह, गौना मुश्किल से होता है,
पति-घर की ताड़ना याद कर ज़ार ज़ार उर रोता है॥

(१७)

खाने को न पेट भर मिलता नथ, बिछिया बिक जाती हैं,
ज़रा ज़रा-सी भी बातों पर नित डंडे हम खाती हैं।
जिन्दा ही जलती रहती हम, जब दुख अति अधिकाता है,
फिर पापी तन पिता-भवन में आकर आश्रय पाता है॥

(१८)

इस झूठी कुलीनता को है गिन कर लाख बार धिक्कार,
जिसके कारण हम अबला सब पातीं इतना दुःख अपार ।
किस मुँह से तुम न्यायी परमेश्वर के सम्मुख जावोगे ?
क्या कह उसके अटल न्याय से परित्राण तुम पावोगे ॥

(१९)

यदि अभाग्य से कहीं हमारे हुआ सुहागिलपन का नाश;
यहीं हमें जीते ही मिलता रौरव-नरक-कुण्ड का वास ।
जिसने पुरुष-जाति को जग में न्यायाधीश बनाया है,
उसी निठुर ने सब सहने में वज्र हमें उपजाया है ॥

(२०)

महा मलिन से मलिन काम हम करती रहती हैं दिन-रात,
दुखी देख पति, पिता, पुत्र को व्याकुल हो कृश करतीं गात।
हे भगवान, हाय ! तिस पर भी उपमा कैसी पाती है,
"ढोल-तुल्य ताड़न-अधिकारी" हमी बनाई जाती है ! ॥

(२१)

कभी कभी गुडिया-सी बचपन ही में ब्याही जाती हैं,
जिसके कारण ही अति दुःसह दुःख जन्म भर पाती हैं ।
प्यारे पिता, बन्धुवर, तुम कब भला होश में आवोगे ?
कब हम दुखी दीन अबलाओं पर तुम दया दिखाओगे ॥

(२२)

पढ़े-लिखे जो नहीं, जिन्होंने शिक्षा नहीं कभी पाई,
उनके साथ बात तक करते सकुचाते हो हे भाई ।
पर हम जो घर में ही रहती, जिनसे सब सुख पाते हो,
उन्हें मूर्ख रखने में क्यों तुम ज़रा नहीं शरमाते हो ? ॥

(२३)

सबके सब दिन नही बराबर जाते, इसमें नही विवाद,
कभी अवश्य मिलेगी हमको भी दुनिया में चुप की दाद ।
है हमको विश्वास हृदय से आगे वह दिन आवेगा,
जो अन्याय हो रहा उसका सब हिसाब चुक जावेगा ॥

(२४)

छोड़ो सब कुरीतियाँ कुल की, छोड़ो अब तो निठुराई,
बहुत हो चुका कनवजियापन सुनिए हे प्यारे भाई ।
जिसमें बनै बात वह करिए, रख लीजिए हमारी लाज,
दुख-सागर में डूब रहा है अबलाओं का जीर्ण जहाज़ ॥

सितम्बर १९०६

२६—टेसू की टाँग

बजै आज यारों का गाँग[१],
लाँग[२] नहीं, यह छोटा साँग[३] ।
तोड़ो इस टेसू की टाँग,
लड़को, फिर तुम छानो भाँग ॥ १ ॥

इधर-उधर से पैसे माँग,
मकतब-मसजिद में बन स्वाँग ।
देता था यह पहले बाँग,
बात नहीं यह कुछ भी राँग[४] ॥ २ ॥

घर है इसका रेगिस्तान,
गुरू शेख़ जी, मुग़ल, पठान ।
ख़ुदा लड़कपन का भगवान,
आगे का अब सुनो बयान ॥ ३ ॥

अरबी का हो अफ़लातून,
दौड़ चला यह छूने मून[५] ।
इतने में हो गया जिनून,
यह कोरा रह गया बफ़ून[६] ॥ ४ ॥

देखी कुँजड़े की दूकान,
बैठ गया बस वही जवान ।
बरसों बेचे सब सामान,
डंडी पकड़ हुआ सज्ञान ॥ ५ ॥

१—घंटा । २—बड़ा । ३—गीता । ४—ग़लत । ५—चन्द्रमा । ६—भांड़ ।

इन्द्र-अखाड़े की एक हूर,
देख वहाँ पर इसका नूर ।
उड़ा ले गई कोसों दूर,
जाकर की ख़ातिर भरपूर ॥ ६ ॥

पेशवाज उसने पहनाई,
चमकदार चोली कसवाई ।
घुँघुरू बाँध, डुपट्टा ताना,
टेसू जी को किया ज़नाना ॥ ७ ॥

लगे थिरकने टेसू राजा,
बजा ख़ूब अलबेला बाजा ।
ताताथेई की धुन लगी,
हया छोड़, भक्खर को भगी ॥ ८ ॥

देख ठाठ यह माशूकाना,
हुआ ख़लक सारा दीवाना ।
"करता क्या बेचारा काज़ी,
मर्द और जोरू जब राज़ी" ॥ ९ ॥

मुँह पर बाल हुए जब काले,
तब टेसू जी गये निकाले ।
गिरे धड़ाम, उड़ गये धुर्रे,
बोलो लड़को, "हिप हिप हुर्रे" ॥ १० ॥

रही न उठने की भी ताब,
एक टाँग के हुए जनाब ।
क़लम आपने उससे बाँधी,
चलने लगी मिस्ले वह आँधी ॥ ११ ॥

कुन्द, मुकुन्द और मुचकुन्द,
भण्ड-भेष तुम चौपटचन्द ।
चौपटचन्दी हाल सुनाऊँ,
टेसू का सब मजा चखाऊँ ॥ १२ ॥

पूरब-पश्चिम दौड़ लगाई,
नहीं पेट भर रोटी पाई।
तब सूरत ले सत्यानाशी,
बने आप गंगातटवासी ॥ १३ ॥

अरबी-तुर्की वहाँ भुलाई,
"कक्का का" की तान उड़ाई।
सनद सफ़ाचट ज्यों ही पाई,
कलम रेल-सी झट दौड़ाई ॥ १४ ॥

रहे खोलने में अलमारी,
घुसी उसी में विद्या सारी।
चौपट हुई अक्ल महरानी,
मरी उसी दम उसकी नानी ॥ १५ ॥

नानी मरी कनागत आये,
टेसू जी तब बाहर धाये।
देखी धोबिन एक सयानी,
ले उसकी कुण्डी का पानी ॥ १६ ॥

सात पुश्त के पुरखे तारे,
ख़ुद भी उसमें ग़ोते मारे।
सारी पूजा-पाठ सँभाली,
स्वर्ग-लोक को सड़क निकाली ॥ १७ ॥

काली ने एक शहर बसाया,
टेसू दौड़ वहीं पर आया।
टाँग वहीं उसने फैलाई,
पकड़ उसे दिन-रात हिलाई ॥ १८ ॥

नौ मन खटमल जिस पर छाये,
टूटी ब्यंच, तख़्त, मँगवाये।
उन पर अपनी टाँग पसारी,
खटमल चाट गये दुम सारी ॥१९ ॥

गन्दा घर, भई गन्दा घर,
चादर-चिथड़ों की दुख्तर ।
चने पड़े उस पर चुरमुर्रे,
बोलो लड़को, "हिप हिप हुर्रे" ॥ २० ॥

उसको एक कलूटा भाया,
कोट-बूट उसको पहनाया ।
घड़ी एक उसके लटकाई,
उसके लिए ट्रक मँगवाई ॥ २१ ॥

हुआ वही टेसू का प्यारा,
उम्र कोई सत्रह-अट्ठारा ।
किया उसे आँखों का तारा,
था कहार या वह बनजारा ॥ २२ ॥

उस पर टेसू करे सवारी,
देख हँस रही दुनिया सारी ।
लड़के भगे हाथ रख सिर पर,
टेसू रहा अकेला घर पर ॥ २३ ॥

जोरू तब जी में घबराई,
चीख़ मार रोई-चिल्लाई ।
टेसू ने उठ धता बताई,
"खल को खाय कालिकामाई" ॥ २४ ॥

बना एक चण्डाल-चौकड़ी,
टेसू हुआ उसी की कड़ी ।
हिल-मिल सबने काम चलाया,
जो जैसा जिसको कर आया ॥ २५ ॥

एक चकार चाकड़ीवाला,
घर से निकल हुआ मतवाला ।
वह गुरुओं के घर को भगा,
बिना बुलाये जाने लगा ॥ २६ ॥

क़दम चूम रज सिर पर रक्खी,
कूद पड़ी इतने में मक्खी।
मक्खी ने उड़ आग लगाई,
दुमची जलने लगी पराई॥२७॥

अगर न सीताराम बचाते,
तो चकार जी जल-भुन जाते।
यार न समझो इसे चकार,
यह पूरा पिशाच-अवतार॥२८॥

ऐसा निपट नीच नर-पिल्ला,
गुरुओं का भी करता गिल्ला।
इससे ही टेसू को भाया,
"जैसा पति वैसी ही जाया"॥२९॥

तख़्त और एक सज कर आया,
उसे देख टेसू घबराया।
उठने लगे पेट में मुर्रे,
बोलो लड़को "हिप हिप हुर्रे"॥३०॥

मुँह उसने तब अपना खोला,
मानों मिल* का बंबा बोला।
बक बक उसने ख़ूब लगाई,
हया-शर्म सब धोय बहाई॥३१॥

ए० बी० सी० डी० ई० एफ० सीख,
अँगरेज़ी में मारी चीख़।
देख संसकीरत का ख्वाब,
उसमें भी कुछ दिया जवाब॥३२॥

और तख़्तवाले चुपचाप,
सुनते रहे अनाप-शनाप।
टेसू की गुस्ताख़ी देख,
मजलिस बिगड़ उठी सविशेष॥३३॥

---

* कारख़ाना।

सिर बरसे लठ भारी भारी,
निकल गई गुस्ताख़ी सारी।
टाँग टूट कर नीचे आई,
टेसू ने उठ बाँग लगाई ।।३४।।

मैंने कुछ भी नही बिगाड़ा,
बस अब मुझे मिल गया भाड़ा।
मेरे सिर आया था भूत,
भूत नही, था यम का दूत ।।३५।।

अब वह उतर गया है भाई,
छोड़ो मुझको राम दुहाई।
मैं बेचारा बड़ा ग़रीब,
और करो मत मेरी पीब ।।३६।।

सिर का हुआ कचूमर ख़ासा,
देखा सबने ख़ूब तमाशा।
टेसू जी तब घर को भगे,
दौड़े लड़के पीछे लगे ।।३७।।

दुम में दे दी दियासलाई,
फिर टेसू की शामत आई।
जले-भुने घर भीतर पैठे,
उसी तख्त टूटे पर बैठे ।।३८।।

पड़े वहीं पर काँखा करते,
कुफल किये का चाखा करते।
फिर आयेंगे अगले साल,
जमने दीजे तब तक खाल ।।३९।।

बहुत दिनों तक टेसू रोये,
पूरे दो सौ साथी खोये।
पास लोग यदि अब हैं जाते,
काट उन्हें टेसू जी खाते ।।४०।।

लड़को आई दिव्य दिवाली,
जै काली कलकत्तेवाली ।
उड़ें ख़ूब ख़ुशियों के तुर्रे,
बोलो सब मिल "हिप हिप हुर्रे" ॥४१॥

अक्टूबर, १९०६

३०—ठहरौनी

(१)

विबुध, बन्धु-वर, कान्यकुब्ज-कुल लब्ध-जन्म, तेजोराशी,
इस कन्नौज-नगर के द्विजवर वा सराय-मीरां-वासी ।
अथवा दूर दूर से विद्वज्जन जो यहाँ पधारे हैं,
भाल चारु चन्दन से चर्चित उर में माला धारे हैं ॥

(२)

रंग-बिरंगी पगड़ी जिनकी शिखा-स्पर्श सुख पाती है,
जिनको देख पूर्व-पुरुषों की छवि सम्मुख आ जाती है।
भरद्वाज, काश्यप, कात्यायन, शुचि शाण्डिल्य गोत्रधारी,
मुनि उपमन्यु आदि के वंशज गुण-गौरव के अधिकारी ॥

(३)

वही आज सब यहाँ विराजे पाँडे, मिश्र, शुक्ल द्विजराज,
पूरे बीस बीस विश्वे के विमल वाजपेयी महराज।
जिनके दर्शन ही से मन का अजब हाल हो जाता है,
पूर्व-स्मृति-पयोद-पटलों से वह सहसा घिर जाता है ॥

(४)

श्री-श्रीहर्ष मिश्र कविवर ने यहीं सुयश विस्तारा था,
बुध-वर-वृन्द यहीं पर उनसे तर्क-वाद में हारा था ।
मख महान् कर यही उन्होंने ऊँची पदवी पाई थी,
यहीं उन्होंने अपने कुल की महिमा ख़ूब बढ़ाई थी ॥

(५)

यह वह प्रान्त जहाँ रहने से कान्यकुब्ज कहलाये हम,
यह वह भूमि नाम जिसका ले जाय विदेश बिकाये हम।
यह वह नगर जहाँ बसने को बन्धु-बान्धव लाये हम,
दूर दूर नगरों के वासी वहीं आज सब आये हम॥

(६)

है यह वही, परन्तु नहीं है इसका पहला वैभव वह,
क्या से क्या हो गया बन्धुवर! आदि-स्थान हमारा यह।
नहीं एक भी वैसे पण्डित सम्प्रति यहाँ दिखाते हैं,
पहले के आचार-विचारों में भी अन्तर पाते है॥

(७)

पूर्वकाल के विद्वानों की बात याद जब आती है,
मुँह पर समझदार सुजनों के श्यामलता छा जाती है।
जो कुछ किया उन्होंने उसकी विस्मृति होती जाती है,
कुछ का कुछ कर ज्ञाति हमारी मन में नहीं लजाती है॥

(८)

मुझ अल्पज्ञ दुबे में इतनी बुद्धि नहीं, न पण्डिताई,
जो कुछ करूँ निवेदन तुमसे, सच कहता हूँ हे भाई!
तदपि आप ही की आज्ञा से, विनय विनीत सुनाऊँगा,
सुन लोगे तो उतने ही से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा॥

(९)

लड़के के विवाह में कहिए मोल-तोल क्यों करते हो ?
इस काले कलङ्क को हा हा! क्यों अपने सिर धरते हो?
जिनके नहीं शक्ति देने की क्यों उनका धन हरते हो?
चढ़कर उच्च सुयश-सीढ़ी पर क्यों इस भाँति उतरते हो? ॥

(१०)

हे प्रिय बन्धु! पूर्व-पुरुषों का धर्म्म, नीति, आचार, विचार,
विनय, विवेक, विशद-विद्या-बल, निर्म्मल यशोराशि-विस्तार।
उनका नाम, काम सब उनके, उनकी महिमा, उनका मान,
ज़रा सोच देखो तो मन में, थे कितने वे बुद्धि-निधान॥

(११)

फिर हे कान्यकुब्ज-कुल-नन्दन! खजुहा और मुरादाबाद,
ऊगू, असनी और गेगासों आदिक की कर लीजे याद।
ठहरौनी के कारण उन पर वह वह आफ़त आती है,
सब गहनों की नाक, नाक की नथुनी तक बिक जाती है॥

(१२)

कहाँ पूर्वजों की वह करनी? कहाँ हमारा ऐसा काम?
निपट, निद्य, निर्दय, अति निष्ठुर, न्यायहीन, दोषों का धाम।
कन्याकुल को भाँति भाँति से पीड़ित हम नित करते है,
मुनियों के वंशज होने का तिस पर भी दम भरते हैं॥

(१३)

सुत है नही वस्तु विक्रय की, वह सर्वस्व हमारा है,
वह आत्मा का आत्मरूप है, वह आँखो का तारा है।
भूल हुई सो हुई बन्धु-वर! अब अवश्य सँभालो तुम,
इस कलङ्क को अपने उज्ज्वल कुल से झट धो डालो तुम॥

(१४)

मुनि उपमन्यु और कात्यायन, कश्यप देवलोकवासी,
देख देख अतिशय दुःखित हो यह कुरीति सत्यानाशी।
क्या कहते होंगे मन ही मन उन्हें न और सतावो तुम,
उनके विमल नाम पर धब्बा व्यर्थ न और लगावो तुम॥

(१५)

किस स्मृति मे, किस गृह्यसूत्र में, किस पुराण मे, बतलावो,
है विधान इस मोल-तोल का, खोल क्यो न तुम दिखलावो?
जो इसका कुछ पता नहीं तो क्यों यह रीति चलाते हो?
क्यों न इसे हे प्यारे भाई! छोड़ अलग हो जाते हो?

(१६)

महामूढ़ अविवेकी जन ही रूढ़ रीतियों के बन दास,
अपना और वंश अपने का आँख मूँद कर करते नाश।
जो सुधार का ध्यान तुम्हारे मन में स्थान न पावेगा,
उनमें और आपमें, कहिये, भेद कौन रह जावेगा?

(१७)

जान बूझ कर भी जो अपनी हानि से न घबराते हैं,
निद्य, नीच, अनुदार, पुरानी लीक पीटते जाते हैं।
वे अवश्य इस भूल भयङ्कर पर सिर धुन पछताते हैं,
शायर, सिंह, सपूत कभी क्या लीक लीक भी जाते हैं ?

(१८)

यह कुरीति कुल-कन्याओं का कोमल हृदय जलाती है,
मनस्ताप से उनके तन को तप्ताङ्गार बनाती है।
बीस वर्ष की होने पर भी अविवाहित रह जाती हैं,
मुँह से यदपि न कुछ कहती हैं, अति दुःसह दुख पाती है।

(१९)

बे ब्याही चाहे रह जावें, चाहे करे वंश बदनाम,
मर जावें, परवाह नही है; हमें सिर्फ रुपये से काम।
पाँच का न व्यवहार हमारा, लेंगे हम तो एक हज़ार,
चारु चमकवाले चाँदी के वही अखण्ड-मण्डलाकार ?

(२०)

हे भगवान्! कहाँ सोये हो ? विनती इतनी सुन लीजे,
कामिनियो पर करुणा करके कमले! ज़रा जगा दीजे।
कनवजियों में घोर अविद्या जो कुछ दिन से छाई है,
दूर कीजिए उसे दयामय! दो सौ दफ़े दुहाई है ॥

(२१)

यह भी नहीं सोचते हम, क्या दुनिया हमको कहती है ?
कान्यकुब्ज की भूमि अभागी! तू भी सब कुछ सहती है।
क्यों न छोड़ते हो कुरीति यह अतिशय निंद्य दुःखदाई ?
क्या जवाब रखते हो इसका? बतलावो तो हे भाई! ॥

(२२)

पुत्रवान् लोगों के घर क्या कन्या कभी न आयेगी ?
क्या उनको इस ठहरौनी की व्यथा न कभी सतायेगी ?
वर-विक्रय-बाज़ार बीच क्या कभी नहीं वे जावेगे ?
द्वार और के जाकर क्या वे ज़िल्लत नही उठावेंगे ? ॥

(२३)

अपने निर्धन बन्धु-वरों की जो तुमको परवाह नहीं,
हाय हाय ! तो कन्याओं के दुख पर भी क्या आह नहीं ?
उनकी गुप्त अश्रुधारा जो कही निकल वाहर आवे,
तो यह चन्दन-खौर हमारा सारा उससे धुल जावे ! ॥

(२४)

दत्त, प्रसाद और नारायण आदिक है कितने ही वीर,
जिनके कुलिश-कठोर हृदय में कन्याओं की ज़रा न पीर।
कान्यकुब्ज-कुल के नायक बन करते हैं अतिगर्हित काम;
लड़कों को पढ़ाय अँगरेज़ी फिर उनको करते नीलाम॥

(२५)

बीघे-विश्वे से मर्यादा अब तक नापी जाती थी,
कन्याकुल की फूँक सम्पदा सुख से तापी जाती थी।
एम० ए०, बी० ए० की सनदो से अब है होने लगे क़रार,
ऐसे सुजन शिरोमणियों को गिन कर बीस बार धिक्कार ! ॥

(२६)

ज़रा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वारी हैं,
(क्षमा कीजिए असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी हैं)।
मान लीजिए नयन आपके कानों तक बढ़ आये है,
पीन पयोधर देख आपके, कुन्जर-कुम्भ लजाये है ॥

(२७)

ज्यों ज्यों कटि घटती जाती है; चिन्ता बढ़ती जाती है,
मदनदाह से देह दिनों दिन दुबली होती जाती है।
रात रात भर नीद आपको नहीं ज़रा भी आती है,
हाय हाय कर ठंडी साँसे लेते वह कट जाती है ॥

(२८)

देख देख यह दशा आपकी माता व्याकुल होती है,
सिर हाथों पर रख सारा दिन फूट फूट कर रोती है।
घर में "भूँजी भाँग" नहीं है, पिता करे क्या बेचारा,
बिना दहेज़ मिले वर कैसे ? दौड़ दौड़कर वह हारा॥

(२९)

वह कहिए इस समय आप पर कैसी बीतेगी भाई !
ठहरौनी की निंद्य रीति यह होगी कितनी दुखदाई !
इससे इसे छोड़ अब दीजे मान लीजिए मेरी बात,
अपने ही कुल की कन्याओं को कलपावो मत दिन-रात ॥

(३०)

किसी किसी ने इस कुरीति को पहले ही से छोड़ा है,
त्याज्य समझ इस पिशाचिनी को इससे निज मुँह मोड़ा है।
जिनमें प्रचलित है उनको भी इसे छोड़ना ही चहिए,
भूल जाइए मत घर जाकर, भाई 'एवमस्तु' कहिए ॥

(३१)

जो अपने को उच्च मानते हैं, उनके न द्वार जावो,
ठहरौनी करके कौडी भी कभी न उनको दिखलावो।
जो अपने को सम समझें हैं; जिनको नहीं उच्चता-गर्व,
सालंकृत कन्या उनको ही दे, सम्बन्ध कीजिए सर्व ॥

(३२)

यही शास्त्र की रीति, यही थी प्रचलित पहले हे भाई !
अवलम्बन कीजिए इसी का, यही महा मङ्गलदायी।
औरों के करने पर हम भी होंगे उसके अनुयायी—
यह विचार कर देर न करिए, बहुत हो चुकी निठुराई ॥

(३३)

शुभ कामों में देर लगाना नहीं बुद्धिमानी का काम,
बड़े बड़े ज्ञानी-विज्ञानी कहते हैं यह बात तमाम।
अनुचित निकल गया हो यदि कुछ, हे भाई ! हे गुण-गण-धाम !
क्षमा कीजिए उसे बन्धुवर ! जाता हूँ; बस तुम्हें प्रणाम ॥

नवम्बर, १९०६

---

* यह कविता कन्नौज में कान्यकुब्ज-महासभा के अधिवेशन में पढ़ी गई थी।

३१—प्रियंवदा

(१)

यह है प्रियंवदा पति-प्यारी,
कुलकामिनी पारसी नारी।
इसकी रुचिर रेशमी सारी,
तन की द्युति दूनी विस्तारी॥

(२)

नित सरितापति-तट को जाती,
नित आमोद-प्रमोद मचाती।
नित यह गीत मनोहर गाती,
कल-कण्ठों को खूब लजाती॥

(३)

मधुर "पियानो" नित्य बजाती,
जौहर नये नये दिखलाती।
"गौहर" का गरूर गिर जावे,
यदि इसका गाना सुन जावे॥

(४)

परदे का कुछ काम नहीं है,
कही सकुच का नाम नहीं है
चम्पकवर्णी श्याम नहीं है,
इसमें जरा कलाम नही है॥

(५)

सीखा चित्र बनाना इसने,
करके कौशल नाना इसने।
पढ़ना और पढ़ाना इसने,
पति का चित्त चुराना इसने॥

(६)

पुरुषों में भी जाना इसने,
मन्द-मन्द मुसकाना इसने।
सुधा-सलिल बरसाना इसने,
ज़रा नहीं शरमाना इसने॥

(७)

इसके कुण्डल श्रुति-सुखकारी,
देख अनस्थिरता-रत भारी ।
चित्त हुआ उनका अनुयायी,
चंचलता की पदवी पाई ॥

(८)

कच-कलाप दिखरायें कैसे ?
सम्मुख सुघर बनाये कैसे।
दर्शक-दृग यदि उन पर जाते,
फिर वे नहीं लौटने पाते ॥

(९)

सरस्वती से जो वर पावे,
इस पर कविता वही बनावे।
इससे श्रम क्यों वृथा उठावें?
क्यों न यहीं अब हम रुक जावें॥

(१०)

अंग अंग सुन्दरताशाली,
सूरत क्या ही भोली-भाली ।
नही और इसकी हमजोली,
रूप-राशि की हद बस हो ली॥

(११)

जिसने इसका चित्र बनाया,
मनोमुग्धकर भाव दिखाया।
नृप रविवर्म्मा सबसे प्यारे,
हाय ! हाय ! सो स्वर्ग सिधारे॥

दिसम्बर, १९०६

३२—इन्दिरा

(१)

क्यों, क्या यही इन्दिरा बाई ?
क्या इन्दिरा महीतल आई ?
नहीं, नहीं, यह मानव-जाई,
सुन्दरता अति अद्भुत पाई ।।

(२)

पुण्य-नगर पूना की नारी,
पहने श्याम रंग की सारी।
यही इसे अतिशय है प्यारी,
सचमुच यह लोचन-सुखकारी।

(३)

शीश खुला रखती यह बाला,
गले 'गलश्री' नामक माला।
नथ-मुक्ता-सौन्दर्य निराला,
घर इसका इससे उजियाला ।।

(४)

कुंकुम का यह तिलक लगाती,
कर्णफूल से कर्ण सजाती।
हाथों को पटली पहनाती,
अन्य आभरण दूर हटाती ।।

(५)

जब यह देवालय को जाती,
भाव-भक्ति अतिशय दिखलाती।
हाथ जोड़ती, शीश झुकाती,
मन ही मन पति-कुशल मनाती ।।

(६)

शिक्षा भी है इसने पाई,
कर-कौशल, कुशला यह 'बाई'।
पत्र केसरी और सुधारक,
इसकी चित्त-वृत्ति के हारक ।।

(७)

नाटक नये देखने जाती,
पति को सदा साथ ले जाती।
मुख-मयंक को नहीं छिपाती,
बहुत रात बीते घर आती ।।

(८)

शाल ओढ़ बाहर जाती है,
मन संकोच नही लाती है।
सखियों को जब यह पाती है,
बातों से मधु टपकाती है ।।

(९)

सभ्य सभाओं में भी जाती,
व्याख्यान सुनती; सुख पाती।
मनोमोद, घर लौट, बढ़ाती,
बातें कर पति-चित्त चुराती ।।

(१०)

यह है दाक्षिणात्य वर नारी,
अपने शिक्षित पति की प्यारी ।।
इसकी मूर्ति विलोचनहारी,
रविवर्म्मा ने विशद उतारी ।।

अप्रैल, १९०७

३३—सन्देश

(हिंदी साहित्य-सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन मे पढ़ी गई)

(१)

सुनिए सब सज्जन, विद्वज्जन, प्रिय हिन्दी-भाषा-भाषी,
पूज्य, पवित्र, मातृभाषा की उन्नति के अति अभिलाषी।
प्रबल प्रेरणा से हिन्दी की यहाँ आज मैं आया हूँ,
उसका ही संदेश आपको स्वल्प सुनाने लाया हूँ॥

(२)

हिन्दी ने सेवक-समूह में महा तुच्छ मुझको जाना,
इससे यह संदेश भेजने योग्य मुझी को अनुमाना।
आप बड़े हैं, बड़े काम सब कर, साधें उसका परमार्थ,
मै संदेश-वहन करके ही हो जाऊँगा आज कृतार्थ॥

(३)

छोटे हों या बड़े, काम जो करके कुछ दिखलाते हैं,
वही लोग अपने स्वामी के सत्सेवक कहलाते हैं।
यही सोच, संकोच छोड़ सब, माना मैंने यह आदेश,
अब मेरी खिचड़ी भाषा में सुनिए हिन्दी का संदेश॥

(४)

अर्थ यथार्थ मातृभाषा का यदि तुम सबने जाना है,
मेरे अन्तरगत भावों को यदि तुमने पहिचाना है।
तो तुम निःसन्देह करोगे मुझसे सुत-समान व्यवहार,
मेरी सकल आपदाओं का होगा भी अवश्य संहार॥

(५)

इस जड़-जंगम जग में सबके दिन न एक-से जाते हैं,
दुःख भोगने पर निश्चय ही सुख के भी दिन आते हैं।
माता के सुख-दुःख किन्तु सब होते सन्तति के स्वाधीन,
चाहे भिखारिनी वह कर दे, चाहे उच्चासन-आसीन॥

(६)

या तो मुझे मातृभाषा तुम कहना दो इस दिन से छोड़,
मेरा शब्द न मुँह पर लाओ अँगरेज़ी सीखो सर तोड।
या मेरी दुर्दशा देखकर कुछ तो मन में शरमाओ,
जो कहती हूँ उसे करो तुम; अब तो मुझको अपनाओ ।।

(७)

वैमनस्य आपस का इर्ष्या, मत्सर, और दुराग्रह, द्वेष—
परित्याग पहले इनका कर कर लो मन निर्मल निःशेष।
ऐसा करने से सम्मेलन दूनी शोभा पायेगा,
मेरे बहुत विशेष कार्य भी यह करके दिखलायेगा ।।

(८)

करो वही प्रस्ताव "पास" तुम जिससे हो कुछ मेरा काम,
रहने दो तुम, बहुत हो चुका, अपना वादविवाद तमाम।
मेरे इस जर्जर शरीर की बार बार कर लेना याद,
लक्ष्य उसी पर रखना; अपना करना नहीं वक़्त बरबाद ।।

(९)

एक लिखी है, या एकादश पुस्तक—यह सब व्यर्थ विचार,
बूढ़ा है, या प्रौढ़, या युवा—यह भी निःसंशय निःसार।
जो मेरा उपकार करे कुछ वही सपूत सभापति-योग्य,
यही देख, हर साल, सम्मिलन-समय समझना योग्य-अयोग्य ।।

(१०)

कोई क्यों न सभापति हो, क्या वह न तुम्हारा भाई है ?
पिशाचिनी ईर्ष्या इन बातों में भी हाय समाई है।
दूर करो अपने मन से तुम ऐसे अति अनुदार विचार,
दया करो, होने भी दोगे मुझ अभागिनी का उद्धार ।।

(११)

आज ईद कल, वक्र ईद है परसों घट-स्थापना-योग,
होली और दिवाली को भी लगा तुम्हारे पीछे रोग।
जितनी है छुट्टियाँ सभी तुम त्यौहारों पर ही पाते,
खेल-कूद, पूजा-अर्चा की उनमें तुम सब ठहराते ।।

(१२)

बतलाओ अब तुम्हीं, सुअवसर और कौन-सा पावोगे ?
सम्मेलन की छुट्टी क्या तुम बड़े लाट से लाओगे ?
धर्म करो, त्यौहार मनाओ, मुझको कुछ भी नही विषाद,
पर इतना तो बतला दो तुम, पाउँगी कब तुमसे दाद ॥

(१३)

यदि घर में सुत-सुता किसी के, आने पर कोई त्यौहार,
महा-भयंकर-व्यथा-व्यथित हो लगे मचाने हाहाकार ।
तो क्या घर ही बैठ रहोगे करते निज वार्षिक व्यापार,
या नंगे पाँवों दौड़ोगे किसी वैद्य-विद्यानिधि-द्वार ॥

(१४)

कितना कष्ट तुम्हें मिलता है उँगली जो कट जाती है,
मेरा तो सब अंग गलित है; पीडा प्रबल सताती है ।
ऐसे में भी जो इलाज का अवसर ढूँढ़ोगे प्यारे ,
तो मैं यही कहूँगी, मेरे सुत न शत्रु हो तुम सारे ॥

(१५)

वाणी की पूजा करते हो; क्या मैं उसका अंश नही ?
मृतवत् मुझे पड़ी रखने में क्या स्वधर्म-विध्वंश नहीं ।
फिर क्यों तुम सम्मिलन-कार्य में पखें अनेक लगाते हो ?
अत्याचार घोर मुझ पर कर बातें व्यर्थ बनाते हो ॥

(१६)

आर्त्त जनों के परित्राण से धर्म किस तरह जाता है ?
क्या कर्तव्य-विमुख होना ही परम धर्म कहलाता है ?
भरत-भूमि के धर्मज्ञों का यदि ऐसा ही धर्म-ज्ञान,
व्याकुल व्यथित जनों की तो फिर क्या गति होगी हे भगवान !

(१७)

यदि तुम कहो शीघ्रता क्या है ? क्यों इतना घबड़ाती हो ?
क्यों कायरता-पूर्ण कण्ठ से इतना शोर मचाती हो ?
तो मैं अपनी करुण-कथा का तुम्हें सुना देती हूँ सार,
सम्भव है उससे हो आवै तुममें दया-दृष्टि-संचार ॥

(१८)

जब देखती और बहनों को किये हुए सुन्दर श्रृंगार,
बहु-वैभव-मद से मतवाली, मृदु मुसकाती, सालंकार ।
तब जो गति मेरी होती हे, कुछ मत पूछो उसका हाल,
फटती यदि पृथ्वी प्रयाग की मै जाती तुरन्त पाताल ।।

(१९)

कई करोड़ बोलनेवाले है मेरे भारतवासी,
हतभागिनी हाय तिस पर भी मरती मै भूखी-प्यासी !
जो सुदृष्टि इन नर-रत्नों की मेरी ओर न जाती है,
विश्वम्भर ! तो क्या तुमको भी मुझ पर दया न आती है ?

(२०)

दुःख-दारिद्र भोग करने से अच्छा ही मर जाना है—
कवि के इस कठोर कहने को मैंने तो सच माना है ।
जीती हूँ, परन्तु, आशा-वश, बड़े कष्ट से किसी प्रकार,
नहीं तरस तुझको आता है क्या कुछ भी हे प्राणाधार !

(२१)

यद्यपि तुम विरक्त हो मुझसे, नहीं फटकने देते पास,
मैं तुमसे अनुरक्त पूर्ववत; मुझे तुम्हारी ही है आस ।
ऐसी निःसहाय अबला को यदि तुम और सताओगे,
न्यायी नारायण को अपना मुंह कैसे दिखलाओगे ।।

(२२)

जो मेरे प्रेमी, जो मेरी कभी कभी कर लेते याद,
मत हों अब अप्रसन्न वे मन में उनसे मेरा नहीं विवाद ।
अपनी छोड़ पराई भाषा मे आता है जिनको स्वाद,
उन्ही कुलिश-कर्कश हृदयों के सत्पुरुषों से है फ़रयाद ।।

(२३)

या उनसे जो मेरे दुख को कर सकते हैं कुछ कुछ दूर,
पर जो कर तक नही हिलाते रहते हें आलस में चूर ।
अथवा उनका दोष नहीं कुछ यह मेरा ही पापाचार,
ऐसे भी जिसके सपूत हों उस माता को ही धिक्कार ।।

(२४)

तुममें किसी किसी पर व्यापी जिस भाषा की माया है,
सच कहना किस किसने उससे कितना लाभ उठाया है।
उस दिन अभी मधुरमोदक कुछ पूने से जो आये थे,
कैसे थे वे ! मीठे थे क्या ! किस किसने ले खाये थे !

(२५)

घोर घृणा तुमसे जो करती, पास उसी के जाते हो !
मृत सुनकर भी नाम न लेती, उसको सदा सजाते हो।
आते नहीं होश में यद्यपि होता है इतना अपमान,
अधःपात का इससे बढ़कर हो सकता क्या और प्रमाण ॥

(२६)

हिन्दू होकर भी हिन्दी में यदि कुछ भी न भक्ति का लेश,
दूर देश की भाषाओं से यदि इतना है प्रेम विशेष।
इँगलिस्तान अरब, फ़ारिस, को तो अब तुम कर दो प्रस्थान,
यहाँ तुम्हारा क़ाम नहीं कुछ; छोड़ो मेरा हिन्दुस्तान ॥

(२७)

दिव्य देववाणी की दुहिता मैं हूँ वह हिन्दी प्राचीन,
तुलसी, सूर, बिहारी आदिक रहे भक्ति में जिसकी लीन।
परित्याग उसका ही करके बनते हो विद्याधारी,
ऐसी अद्भुत गुणज्ञता की बलिहारी है बलिहारी !

(२८)

कहते हो मुझमें है ही क्या ! मुझसे कुछ न निकलता काम !
मेरे घावों पर नश्तर-सा चलता है सुनकर इल्जाम।
इसका दोष तुम्हारे ही सिर, फिर यह कैसी उलटी बात,
जिसे जानती दुनिया सारी वह भी क्या तुमसे अज्ञात ?

(२९)

जननी और जन्म की भाषा, जन्मभूमि सब सुख की खानि;
चाहे जहाँ पूछ तुम देखो, तीनों का सम्मान समान।
पर तुमने मेरी उन्नति का किया न कोई कभी उपाय,
तिस पर भी ताने देते हो ! क्यों करते इतना अन्याय ॥

(३०)

अन्यायी से परमेश्वर भी कभी नहीं खुश होता है ,
जो कर्त्तव्य नही करता है वह अवश्य कुछ खोता है ।
क्षमा करें वह क्षमा क्षीरनिधि-ईश तुम्हारा यह अपराध,
जीते रहो कभी तो मेरा दूर करोगे दुःख अगाध ।।

(३१)

संस्कृत, अरबी, और फ़ारसी, उर्दू, अँगरेज़ी सारी—
भाषाओं से प्रेम करो तुम जिसको जो जो हो प्यारी ।
मना नहीं मैं करती तुमको, पर इस दुखिया की भी याद ,
कभी कभी कर लिया कीजिए, मेरी इतनी ही फ़रयाद ।।

(३२)

बच्चे थे तुम तबसे ही मैं काम तुम्हारे आती हूँ ,
पत्नी और सुता-सुत के भी मैं ही काम चलाती हूँ ।
हो सकते मेरे विनाश से बन्द तुम्हारे सब व्यापार ;
नहीं अन्य भाषायें कोई कर सकतीं कुछ भी उपकार ।।

(३३)

उस मुझको ही यदि अभाग्यवश अब इस समय भुलाओगे ,
कृतघ्नता के घोर पाप से क्या तुम बच भी जाओगे ?
जो कुछ हुआ हो गया सो तो, सोचो अब आगे की बात ,
लोक-लाज पर भी क्यों करते इतना निष्ठुर वज्र-निपात ?

(३४)

मेरे ही प्रभाव से भारत पायेगा परमोज्ज्वल ज्ञान,
मिट अवश्य ही जायेगा यह अति अनर्थकारी अज्ञान ।
गाँव-गाँव , घर-घर में मेरा जब प्रचार हो जायेगा,
दुरित, दैन्य, दारिद्र, दुःख सब क्रम क्रम से घट जायेगा ।।

(३५)

जितने उन्नत देश सभी हैं करते निज भाषा की वृद्धि ,
देख क्यों नहीं लेते उनकी कितनी है निःसीम समृद्धि ।
अपना, मेरा, भारत का भी यदि चाहो कुछ भी कल्याण
तो मेरा उद्धार करो अब; व्याकुल हैं ये पापी प्राण ।।

(३६)

और लोग इस भारत में भी निज भाषाओं का उपकार—
देखो आँख उठाकर कितना करते हैं सब विविध प्रकार ।।
उन्हें देखकर भी उत्साहित होते नहीं आप, क्या बात ?
करो न अपने ही पैरों पर महा कठोर कुठाराघात ।।

(३७)

समय नही, अन्याय नहीं है, लिखना मुझे न आता है—
यह सुन मेरा कठिन कलेजा दो टुकड़े हो जाता है ।
विकट विदेशी भी भाषायें लिखनेवालों के उस्ताद !
मत अब और बहाने ऐसे किया करो तुम बे-बुनियाद ।।

(३८)

इस सम्मेलन की सहायता करना काम तुम्हारा है,
जी से मैं कहती हूँ, इससे मुझको बड़ा सहारा है ।
यहाँ उपस्थित रह कर सोचो कोई ऐसा उच्च उपाय,
जिससे मिले मुझे भी थोड़ा गुरुतापूर्ण ग्रन्थ-समुदाय ।।

(३९)

इसकी त्रुटियाँ अपनी समझो; दोषों को अपने ही दोष;
भाई को अपने भाई पर करना नहीं चाहिए रोष ।
यदि कुछ भी गौरव रखते हो, यदि कुछ भी है तुममें जोश,
ग्रन्थ-रत्न रच पूर्ण क्यों नहीं कर देते हो मेरा कोश ?

(४०)

सारे भारत में व्यापकता मेरी ही है यदपि विशेष ,
निःसंशय तथापि मुझको है सबसे प्यारा यही प्रदेश ।
निर्दयता, निष्ठुरता कम कर, हो जाओ कुछ अधिक उदार ,
दया-द्रवित होकर सत्वर ही कर दो अब मेरा उद्धार ।।

(४१)

विकल-आर्त्त, आतुर को होता नहीं उचित-अनुचित का ज्ञान;
यद्दि कटु वचन कहे हों कोई क्षमा करो हे क्षमानिधान !
अधिक क्या कहूँ अब मैं तुमसे, मेरी लाज तुम्हारे हाथ,
चाहो और झुका दो, चाहे ऊँचा कर दो मेरा माथ ।।

(४२)

हे गोविन्द दया के सागर नारायण अन्तरयामी !
शरणागत-वत्सल तुमसे है छिपा नहीं है कुछ स्वामी ।
सुमति और सद्बुद्धि दीजिए सबको करुणा के आगार;
जिसमे इस अभागिनी का भी हो जावे अब बेड़ा पार ॥

अक्टूबर, १९११

३४--विवाह-सम्बन्धी कवितायें*

पहला दिन

(१)

इस आँगन में भोजन करके जो सुख मुझे मिला है आज,
मिलता नहीं अगर मिल जाता मुझे देवताओं का राज ।
देख आपका प्रेम आपके ये उदारतासूचक काज,
मैं कृतार्थ हो गया आपसे कर सम्बन्ध दुबे महराज ॥ १ ॥
अपने घर में अपने कुल का मनुज बच रहा हूँ मैं एक,
आज आपका सम्बन्धी बन एक नही अब हुआ अनेक ।
बाँधा है जिस प्रणय-बन्ध से मुझे आपने आज अशेष,
शिथिल न होने देना उसको विनती मेरी यही विशेष ॥ २ ॥
इन कोकिल-कण्ठी कामिनियों ने जो मधुर गीत गाये,
सुधा-सदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये ।
इनका यह गाली गाना भी चित मे जब यों चुभ जाता,
यदि ये कहीं और कुछ गातीं--बिना मोल मैं बिक जाता ॥ ३ ॥

दूसरा दिन

(२)

किये जिन्होंने ये वर-व्यञ्जन अति रोचक रसाल तैयार,
उनके कर-कमलों में कमला करे सदा दिन-रात विहार ।
और परोसा इन्हे जिन्होंने उनको धन्यवाद शतबार,
अब तक कभी कहीं भी मेरा हुआ नहीं इतना सत्कार ॥

---

* ये कवितायें श्री कमलाकिशोर तिवारी के विवाह में भिन्न भिन्न अवसरों पर पढ़ी गई थीं ।

तीसरा दिन

(३)

इन स्वादिष्ठ भोजनों के गुण बन्धु कहाँ तक मैं गाऊँ,
गाते गाते चुकें नहीं वे चाहे मैं ही चुक जाऊँ।
इससे धन्य धन्य कहना ही बस होगा प्यारे भाई,
ईश्वर करे होय आगे भी यह सम्बन्ध सौख्यदायी ॥ १ ॥

परसों जो मधुमय गीतों का रस-समुद्र भर आया था,
मैंने तो उसमें परसों ही ग़ोता ख़ूब लगाया था।
आज उसी का बढ़ा हुआ जो बहा वेग से निर्मल नीर,
मन मेरा बह गया उसी में यहाँ रह गया सिर्फ़ शरीर ॥ २ ॥

गानेवाली जो सधवा हैं उनका बढ़ता रहे सुहाग,
प्रेमी पति पावें कुमारिका विधवा श्री-हरि-पद-अनुराग।
मम कृतज्ञता-सूचक लेकर यह मुद्रापञ्चक महराज,
पाँच पाँच पानों का बीड़ा दे दीजे इन सबको आज ॥ ३ ॥

चौथा दिन

(४)

होता है विवाह में भाई मुख्य दान कन्या का दान,
सो सद्गुणी आपने दे दी लक्ष्मी मंगल-मूर्ति-समान।
वस्त्र, पात्र, धन-धान्य आदि भी देकर हे औदार्यनिधान,
शालीनता दिखाई इतनी, इसका जब आता है ध्यान ॥ १ ॥

तब मेरा यह हृदय बन्धुवर द्रवीभूत हो जाता है,
अति अगाध आनन्द-सिंधु में बारम्बार समाता है।
पूर्व-जन्म के पुण्य-पुंज से दिवस आज यह आया है,
दान, मान, सन्मान आपसे सब कुछ मैंने पाया है ॥ २ ॥

इस कन्या को सदन-स्वामिनी मैं सप्रेम बनाऊँगा,
आशा यही, देख इसको मै अपने दुःख भुलाऊँगा।
विनती है, मेरी त्रुटियों को मन में आप न लावेंगे,
इस लड़के को पुत्र समझ अब, इसको भी अपनावेंगे ॥ ३ ॥

अप्रैल, १९११

२५—भारतवर्ष

१—जै जै प्यारे भारतदेश

जै जै प्यारे देश हमारे
तीन लोक में सब से न्यारे
हिमगिरि-मुकुट मनोहर धारे
जै जै सुभग सुवेश ॥ १ ॥ जै जै०

हम बुलबुल तू गुल है प्यारा
तू सुम्बुल, तू देश हमारा
हमने तन-मन तुझ पर वारा
तेजःपुञ्ज-विशेष ॥ २२ ॥ जै जै०

तुझ पर हम निसार हो जावें
तेरी रज हम शीश चढ़ावें
जगत पिता से यही मनावें
होवे तू देशेश ॥ ३ ॥ जै जै०

जै जै हे देशों के स्वामी
नामवरों मे भी हे नामी
हे प्रणम्य तुझको प्रणमामी
जीते रहो हमेश ॥ ४ ॥ जै जै०

आँख अगर कोई दिखलावे
उसका दर्प-दलन हो जावे
फल अपने कर्मों का पावे
बने नाम निःशेष ॥ ५ ॥ जै जै०

बल दो हमें ऐक्य सिखलाओ
सँभलो देश होश में आवो
मातृभूमि-सौभाग्य बढ़ाओ
मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥ जै जै०

हिन्दू मुसलमान ईसाई
यश गावें सब भाई भाई

सबके सब तेरे शैदाई
　　फूलो-फलो स्वदेश ॥ ७ ॥ जै जै०
इष्ट-देव आधार हमारे
　　तुम्हीं गले के हार हमारे
भुक्ति-मुक्ति के द्वार हमारे
　　जै जै जै जै देश ॥ ८ ॥ जै जै०

अक्टूबर १९२०

३६—मेरे प्यारे हिन्दुस्तान

हम बुलबुल तू चमनिस्तान
　　हम शरीर तू प्राणसमान
नहीं कहीं तेरा उपमान
　　जान-माल तुझ पर क़ुरबान ॥ १ ॥ मेरे०
तू था दुनिया का सरताज
　　तेरा है हम सबको नाज़
तेरे हाथ हमारी लाज
　　तुझसे ही हम सबका त्राण ॥ २ ॥ मेरे०
एक नहीं हम कई करोड़
　　कर उद्योग काहिली छोड़
सत्पथ से तू मुँह मत मोड़
　　आँख खोल बल-वीर्य-निधान ॥ ३ ॥ मेरे०
मक्का मसजिद देवस्थान
　　काशी और प्रयाग समान
　　तू ही हम सबका भगवान
　　जै महान जै महिमामान ॥ ४ ॥ मेरे०
जलवा तेरा जग में छाया
　　जो जिसने माँगा सो पाया
ग़ैरों को भी सभ्य बनाया
　　धन्य धन्य जै जै भगवान ॥ ५ ॥ मेरे०

नवम्बर १९२०
